अमृतका आचमन
गोस्वामी श्याममनोहर

संयुक्तप्रकाशन
आर्थिक सहयोग : श्रीकिशोरभाई भाटिया, कान्दिवली, मुम्बई
श्रीमती भानुबेन महेता, बोरिवली, मुम्बई
श्रीमती तरलाबेन वोरा, विलेपार्ले, मुम्बई

संगणकाटंकन :
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, माण्डवी

प्रथम आवृत्ति, संवत २०७५
१००० प्रति. नि:शुल्कवितरणार्थ

प्राप्तिस्थान :
श्रीकिशोरभाई राठी,
जयपुर. मो. ९३१४५०२९११

श्रीवल्लभसुखधाम,
कांदिवली (प.), मुंबई

मुद्रक : प्रर्वी प्रेस, राजकोट

आवरणचित्र : ख्याति जय भुला

प्रस्तावना

कुछ लोग समझते है कि प्रश्न पूछनेसे गोस्वामी बालकोंका अनादर होता है. पर मेरा दृढ विश्वास है कि गोस्वामी बालकका सच्चा आदर प्रश्न पूछनेमें ही है, क्योंकि बालक धर्माचार्य हैं. श्रीमहाप्रभुजी पत्रावलम्बनमें स्पष्टतया समझाते हैं कि धर्माचार्यका धर्माचार्यत्व इसीमें निहित है कि स्वयं धर्मशास्त्रको समझें, समझकर उसे व्यवहारमें आचरणमें लानेका प्रयास करें और जब कोई जिज्ञासु या मुमुक्षु या भजनेच्छु अथवा साधक धर्माचार्यके पास आये तब उसके प्रश्नका, जिज्ञासाका स्वागत करे और समझायें कि प्रश्नमें क्या त्रुटि है? या प्रश्नका समाधान क्या है? यह उसका पावन दायित्व है और यह पवित्र दायित्व निभाने में ही उसका धर्माचार्यत्व है. इसलिये यदि धर्मका सच्चा स्वरूप समझना हो तो गीतामें भगवानने आज्ञा की है कि ''तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया उपदेक्ष्यति ते ज्ञानम्'' सच्ची प्रणाली अपनी यह थी. इतना जरूर है कि धर्माचार्यके पास जाकर धृष्टतासे नहीं पूछना चाहिये. यदि धर्मोपदेश सुनना है तो ''तद् विद्धि प्रणिपातेन'' विनयसे, दैन्यसे, शुद्ध सैद्धान्तिक जिज्ञासा हर वक्त करनी चाहिये; इसमें धर्मानुयायिताका गौरव है. जब धर्माचार्य तुम्हें धर्मका सिद्धान्त समझायें, इसमें उनकी धर्माचार्यता है.

हम सब जो भी पुष्टिमार्गके अनुयायी हैं, पुष्टिसम्प्रदायका अनुसरण करते हैं, उन्हे इसका भेडिया धसानकी तरह नहीं पर श्रीमहाप्रभुजीद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तानुसार अनुसरण करना हैं. इसलिये प्रश्न पूछने या सिद्धान्त समझने-समझानेमें किसी प्रकारका संकोच या पर्दा होना ही नहीं चाहिये. नि:संकोच पूछो.

–गो. श्याममनोहर

सम्पादकीय

वो भी एक दौर था. लोग भडके हुए और भडकाये हुए थे. कुछ दहशतसी फैली हुई थी, कुछ आशंकाएँ थी. सन १९८७ से १९९७ तक चले उस दौरमें आपश्री बम्बई, गुजरात, सौराष्ट्र जहाँ कहीं पधारते थे, प्रवचनोंके दौरान प्रश्नोत्तरी अवश्य होती थी. इससे पहले भी प्रश्न आते थे, पर वे प्रायः शुद्धजिज्ञासासे पूछे जाते थे. इस दौरमें किन्तु तर्क, आक्षेप, विरोधी युक्तियाँ, दृष्टान्त सब कुछ प्रश्नके साथ जुडा रहता था ; चाहे मौखिक हो या लिखित.

कारण? न्यायालयोंके फैसलोंको देखते हुए आपश्रीको लगा कि अब सम्प्रदायको तय करना होगा कि हाथ कटवाने हैं या सिर? मन्दिरोंकी आमदनी बचानी है या सेव्यस्वरूपोंका स्वत्व? सो आपश्रीने ठान ली कि सिद्धान्तों और तथ्यों को खुलेआम उजागर करके सम्प्रदायको सिर बचाने उद्यत करना, चल निकली अपसैद्धान्तिक प्रवृत्तिओंको निराधार घोषित करना. सो जोरशोरसे जगह जगहपर प्रवचन करने आपश्री पधारते. अब ५०-७५ सालोंसे पडी आदतोंके शिकार अनुयायीगण या ऐहिकलाभार्थी आचार्यगण सहसा उसे स्वीकार लें ये न संभव था न ही अपेक्षित. सो प्रश्नोंकी बौछारको आपश्री तूतू-मैंमैंसे उपर उठकर "हम"का भाव कायम रखकर मज़ेसे झेलते रहे. कुछ सालोंमें ये वाक्‌युद्ध करीब समाप्तसा हो गया. सहमतिकी मंज़िल किन्तु अभी काफी दूर है. बिगडनेमें जब वक्त लगा था तो सुधरनेमें भी वक्त तो लगेगा.

इन २० सालोंमें एक नई पीढी आई है. ये प्रवचन स्वयं उपस्थित रहकर कम सुनती है और सोशियल नेटवर्कपर ज्यादा सक्रिय है. सो अब उन्हें बहकाने अपसिद्धान्तका प्रचार भी नेटवर्किंगके जरिये किया जा रहा है. पर इसका प्रत्युत्तर उल्लिखित प्रश्नोत्तरोंमें उपलब्ध है ही. उसे सामने लाना आवश्यक है. सो इस किताबमें हमने गुजरातीमें प्रकाशित 'अमृतनुं आचमन'में छपे प्रायः जिज्ञासाप्रयुक्त प्रश्नोत्तरोंके साथ उस दौरके प्रश्नोत्तरोंका भी समावेश किया है. मेरे इस हिन्दी अनुवादको उत्कर्षभाईने जाँचा-सुधारा है और श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, माण्डवीने संगणकाटंकनमें एवं श्रीपरेशभाई-प्रवीणभाई-पीयूषभाईने मुद्रणमें सहयोग दिया है. यह किताब इन्टरनेटपर भी पुष्टिवाङ्मयके अन्तर्गत उपलब्ध है. पाठकोंसे अनुरोध है कि इसे पढें-सोचें-समझें-अनुसरें-समझायें.

– असित शाह

शपथपत्र

तुम भी तो पुष्टिमार्गीय हो!

श्रीकृष्णाय नमः। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

असमर्पितवस्तूनां तस्मात् वर्जनम् आचरेत्।
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः॥ (सिद्धान्तरहस्य)

ब्रह्मसम्बन्धके बिना सब दोषोंकी निवृत्ति सम्भव नहीं है. इसलिये असमर्पित वस्तुका त्याग करना चाहिये, परिवारजनोंको सेवामें सहयोगी बनाने चाहिये तथा अचेतन गृह, वित्त, अन्न, वस्त्र, आभूषण आदिको भी योग्य रीतिसे भगवत्सेवामें इस्तेमाल करके फिर अपने काममें लाने चाहिये. यह अपने भक्तिमार्गकी मर्यादा है. (पुरुषोत्तमजीकी व्याख्या श्लो. ४।५).

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा... भजेत् कृष्णं। (भक्तिवर्धिनी)

अपने मार्गमें भगवद्भजन घरमें रहे बिना सम्भव नहीं. घरमें ही भगवद्भजनके प्रकारके अलावा अन्य कोई भी भगवद्भजनका प्रकार हमारे यहाँ है ही नहीं. इसलिये भगवद्भजनकेलिये अनुकूल घरमें रहकर स्वधर्मतः श्रीकृष्णकी सेवा हमें करनी हैं. (श्रीगोकुलेशकी व्याख्या श्लोक २).

कृष्णसेवा सदा कार्या... तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा। (सिद्धान्तमुक्तावली)

भगवत्सेवाकेलिये दूसरेका धन लेना या दूसरेको धन देना यह भगवत्सेवा करनेकी उचित रीति नहीं है. इसलिये श्रीमहाप्रभुजी तनुजासेवा और वित्तजासेवा ऐसी दो अलग-अलग तरहकी सेवा करनेका उपदेश नहीं देते, परन्तु 'तनुवित्तजा' ऐसे एक ही सेवा करनेका उपदेश देते हैं. (प्रभुचरण श्रीगुसाँईजीकी व्याख्या).

सेवाकेलिये दूसरेको धन देनेसे अहंकार बढता है. सेवाकेलिये दूसरेका धन लेनेसे सेवा निष्फल बन जाती है. (श्रीपुरुषोत्तमजीकी व्याख्या).

दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने। (श्रीप्रभुचरणकृत नवरत्नविवृत्ति)

प्रभुको जो कुछ दान भेटरूपसे धरनेमें आये वो प्रभुको दानरूपसे दिया गया होनेसे देवद्रव्य बन जाता है. उसका प्रसादरूपमें हम पुनः उपभोग नहीं कर सकते. प्रभुको सिर्फ निवेदन किया हो तो ले सकते हैं. (उक्त विधानकी व्याख्या).

तब एक वैष्णवनें शंका कीनी जो महाराज, वा दिन आपुने राजभोग ताँईको प्रसाद गौआनको खवायो और श्रीयमुनाजीमें पधरायो ताको कारण कहा? तब आप कहे जो कटोरी (गिरवी) धरिके सामग्री आई सो भोग श्रीठाकुरजी आपहीके द्रव्यको अरोगे सो तो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहीं और मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो, जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करवेको अपनो अधिकार न हतो वाकेलिये गौआनको खवायो और श्रीयमुनाजीमें पधरायो. (घरुवार्ता)

कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते। (सन्न्यासनिर्णय)

गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैः एव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत्... एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात्प्रभोः प्राकट्यं नास्ति तावद् एव बहिः आविष्करणं भवति, प्राकट्ये तु तथा न सम्भवति। (अणुभाष्य ३।४।४९).

पुष्टिभक्ति व्रजभक्तोंके भावोंकी भावनाके साथ करनी चाहिये ; और कोई साधनकी अपेक्षा नहीं. फिर भी भाव जो गुप्त रहे तो ही बढता है. इसलिये अपने आश्रमधर्मोंकी आडमें (पर्देमें) अपने भगवद्भावको गुप्त रखकर भगवद्भजन करना चाहिये. जिसके हृदयमें प्रभु नहीं बिराजते वो ही अपने भावोंको जाहिरमें प्रदर्शित करता है. यदि प्रभु हृदयमें बिराजते हों तो यह सम्भव नहीं. (दोनों वचनोंकी एकवाक्यताके साथ अनुवाद).

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुः आदरात्॥
तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् (सर्वनिर्णय २२७)

जो गुरु सेवाको उत्तम मानके सेवाका उपदेश देता हो वो स्वयं क्यों सेवापरायण नहीं रहता? इसलिये जो सेवापरायण हो उसे ही गुरु बनायें. यह भगवत्सेवा दम्भ (धनसंग्रह, शिष्यसंग्रह, संगठनसंग्रह या यशसंग्रह) आदि हेतुसे प्रेरित नहीं होनी चाहिये. क्योंकि सिद्धान्त अनुसार करनेमें आती

सेवा ही पुरुषार्थरूपा होती है ; मनमें दूसरे हेतु हों और बाहरसे सेवापरायणता दिखायें तो वैसी सेवा सफल हो नहीं सकती. गुरु श्रीमद्भागवतके मुख्य सिद्धान्त या तत्त्वका जानकार भी होना चाहिये. यदि ऐसा गुरु न मिले तो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. (श्रीमहाप्रभुजीकृत सर्वनिर्णयकी व्याख्या).

तेन गुरुत्वम् एव वृत्तित्वेन फलति। युक्तं च एतद्, अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात्। किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्याम् अपि शिष्यस्य एव ग्राह्यं, न इतरस्य तु। एवं सङ्कोचे तस्याम् अपि प्रशस्तत्वसिद्धिः। (पुरुषोत्तमजी कृत स्ववृत्तिवाद)

इसलिये गुरुके रूपमें आती चरणभेटसे गोस्वामीमहाराजश्रीका निर्वाह होना चाहिये यह रीति उचित है. नहीं तो कोई भी रीतिसे उपकार किये बिना दूसरेका धन लेने पर उसका ऋणी होना पडता है, जो कि बन्धनकारक है. और फिर बिना मांगे जो मिलता हो उसमें भी गुरुभावसे जो कुछ शिष्य उन्हें दे उससे निर्वाह करनेका वे व्रत लें तो वह अधिक प्रशंसनीय है. (उक्त विधानका अनुवाद).

चितिं च चितिकाष्ठं च पूयं चण्डालम् एव च।
स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलम् आविशेत्॥
देवार्चनपरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम्।
स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हित॥
(पुरुषोत्तमजी रचित द्रव्यशुद्धि)

शव, उसके दाहकेलिये प्रयुक्त लकडे, रुधिर - मांस, मृत जानवरकी खाल निकालके बेचनेवाला, वैसे ही धन कमानेकेलिये देवपूजा करनेवाला —इतनी वस्तु या व्यक्तिका स्पर्श होनेपर पहने वस्त्र स्नान करनेके बाद ही घरमें प्रवेश करना चाहिये. धन कमानेकेलिये अर्थात् आजीविकाके रूपमें जो तीन वर्षपर्यन्त देवपूजा करे उसे अपवित्र देवलक समझना चाहिये. (अनुवाद).

..... ततो भागवतं कृतम् ।
एतद् अभ्यसनात् लोको मुच्यते अनुपजीवनात् ॥

पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम् ।
वृत्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैः अपि ॥
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहम् आचरेत् ॥
(सर्वनिर्णय २५३।५४)

श्रीमद्भागवतके अभ्याससे ही सब सिद्ध होता है, पर शर्त एक है— उसका प्रवचन / पठन आजीविकाकेलिये न होता हो. क्योंकि यह महान दोष है. इसलिये भागवत्पाठ कोई भी प्रकारके (चन्दा इकट्ठा करना, आदि) हेतुसे रहित होना चाहिये. प्राण कण्ठमें अटके हो तो भी आजीविकाकेलिये भागवतका उपयोग नहीं करना चाहिये. (उक्त विधानका अनुवाद).

ऐसे उपर लिखित श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंसे सर्वथा विपरीत होने पर भी १. जाहिर ट्रस्ट मन्दिर / जाहिर खानगी (निजी) मन्दिरोमें होते भगवत्सेवाके माहौलमें इकट्ठे होकर, २. वहाँ नित्यनियमसे दर्शन करने जानेके दुराग्रहसे, ३. धनोपार्जनकेलिये करनेमें आते मनोरथोंकी झांखीके प्रहसनको आर्थिक या और प्रकारोंसे सक्रिय प्रोत्साहन देकर, ४. देवद्रव्यसे धरनेमें आती भोग सामग्री कि जिसका प्रसाद लेनेपे श्रीमहाप्रभुजी हमें महापतित माने उसे भी मोहवश लेकर, वैसे ही ५. व्यावसायिक भागवतकथाओंको आर्थिक या और प्रकारसे प्रोत्साहन देकर हमने अपने श्रीमदाचार्यचरणके साथ जबरदस्त विश्वासघात किया है.

इसके परिणामस्वरूप आज अपने देशकी सर्वोच्च अदालतने हमारे सिद्धान्तोंकी अवगणना करके तीन - तीन निर्णय अपने विरुद्ध दिये हैं.

जुनागढके छगनलाल कक्कड और वजुभाई जोबनपुत्रा जैसे वल्लभसम्प्रदायद्वेषी लोगोंकी हलकी बातें न्यायाधीशों द्वारा मान भी जाती हैं परन्तु अपने दिव्य सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं हैं. पूर्वकालमें पारिवारिक भावनासे सिर्फ दर्शनकेलिये दी गई छूटके दुष्परिणामस्वरूप आज अपने सम्प्रदायके धर्मगुरुओंको पूजारीपनेकी निम्न कक्षापर हर तरहसे पटक देनेकी सम्प्रदायविरोधी साजिश सफल हो रही है. आगे जाके हताश गोस्वामीवर्ग अपनेको देवलक पूजारी मान लेनेकी मानसिकतासे घिर जायेगा. अपने दिव्य सम्प्रदायकी ऐसी दुर्गति करनेकी जिम्मेदारी वैष्णवोंपे है या महाराजश्रीयोंपे, यह विवादका समय अब

बीत चुका है.

आओ! हम श्रीमहाप्रभुजीसे अपने दुष्कृत्योंकी क्षमा - याचना मांगे. सौगन्ध ले कि -

१. अपने माथे न बिराजते हो ऐसे कोई भी श्रीठाकुरजीके दर्शन करनेका नित्यनियम न लें, जिससे कि किसी भी पुष्टिप्रभुको नन्दालय छोडकर जाहिर अनाथायलयमें बिराजनेका परिश्रम हों, क्योंकि अपने ऐसे दुष्कृत्यसे जाहिर जनताका कानूनी अधिकार प्रस्थापित होता है.

२. जो मनोरथ मनोरथीके अपने धनसे, अपने माथे और अपने घर बिराजते स्वरूपोंके, अपने निजी भगवदीयोंके साथ मनानेकेलिये न हो वैसे मनोरथोमें भेट - सामग्री देकर या दर्शन करने जाकर श्रीमहाप्रभुजीके श्रीनिधिस्वरूप, सम्प्रदाय या सिद्धान्त को अब हम कभी भी दगा नहीं देंगे.

३. जाहिर मन्दिरोंमें श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तसे विपरीत देवद्रव्यसे या गैरब्रह्मसम्बन्धी दर्शनार्थियोंके द्रव्यसे धरनेमें आती भोगसामग्री श्रीपुष्टिप्रभु अरोगते नहीं, इसलिये वो प्रसाद है ही नहीं, बल्कि सर्वदा सर्वथा पातित्यकारक है. इसलिये अब हम उसे कभी भी लेंगे नहीं.

४. चन्दा इकठ्ठा करनेकेलिये जाहिरमें करनेमें आते भगवन्मनोरथ या भागवतकथामें दर्शन - श्रवणकेलिये अब कभी भी एकत्रित नहीं होंगे, जिससे वैसी भगवद्क्रय - विक्रयकी दुष्प्रवृत्तिको प्रोत्साहन (आर्थिक या सक्रिय सहयोगके रूपमें) मिले.

आज दिन तक जो श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञाका उल्लंघन अज्ञानवश या मोहवश हो गया, उन हमारे अपराधको श्रीपुष्टिप्रभु, श्रीमहाप्रभुजी और श्रीप्रभुचरण क्षमा करें! वे अपनी पुष्टिसृष्टिके जीवोंको पुष्टिपथकी यात्रामें आगे बढनेकेलिये मति, रति और क्रियाशक्ति प्रदान करें! बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु।

卐

अनुक्रमणिका

सम्प्रदाय

१. ५०० वर्ष पहले श्रीमहाप्रभुजीने जो सिद्धान्त प्रकट किये, आचार - विचारकी जो रीति दिखलाई ; आजके वैज्ञानिक युगमें क्या उसका आचरण या पालन सम्भव है? —पृ. १

२. श्रीमहाप्रभुजीद्वारा उपदिष्ट पुष्टिमार्गके मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं? —पृ. ९

३. श्रीमहाप्रभुजीकी दार्शनिक विचारधाराके अनुसार द्वैत और अद्वैत का स्वरूप क्या है? —पृ. १६

४. उपनिषदोंमें वर्णित ब्रह्म और पुराणोंमें वर्णित भगवान् क्या एक ही हैं? —पृ. २९

५. श्रीमहाप्रभुजी जगतको सत्यतया स्वीकारते हैं तो श्रुतिगीतामें "खपुष्पादि समत्वादि" इसमें जगतको मिथ्या कहा है, ऐसा क्यों? —पृ. ३५

६. श्रीशंकराचार्यके मार्गमें और श्रीमहाप्रभुजीके मार्गमें क्या अन्तर है? —पृ. ३६

७. जैसे श्रीआद्यशंकराचार्य आसेतुहिमालयसार्वजनीन है वैसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी सार्वजनीन नहीं हुए उसका कारण क्या है? वैष्णवोंने एक स्थिर पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय बांधा और वह सम्प्रदाय श्रीवल्लभाचार्यको मानता है — ये मान सकते हैं या नहीं? —पृ. ४२

८. षोडशग्रन्थका सम्प्रदायमें स्थान और उपदेश्य विषयके बारेमें समझायें. —पृ. ४८

९. पुष्टि माने क्या? पुष्टिभक्ति किसे कहते हैं? —पृ. ५८

१०. निष्ठाका मतलब क्या? —पृ. ६५

दीक्षा

११. ब्रह्मसम्बन्धका स्वरूप क्या है? —पृ. ६९

१२. ब्रह्मसम्बन्ध लेनेवालेकेलिये आवश्यक और अनिवार्य कर्तव्य क्या? —पृ. ७०

१३. ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके बाद सेवा न करें तो दोष लगता है क्या? —पृ. ७२

१४. ८४ - २५२ वैष्णवोंमेंसे कुछ वैष्णवोंको श्रीमहाप्रभुजीने और श्रीगुसांईजीने व्रत कराये बिना ब्रह्मसम्बन्ध दिया है तो अन्य वैष्णवोंको व्रत कराके

ब्रह्मसम्बन्ध दिया है ; ऐसा भेद क्यों? —पृ. ७२

१५. ब्रह्मसम्बन्ध लिये बिना ही क्या सेवा हो सकती है? —पृ. ७५

१६. ब्रह्मसम्बन्ध अज्ञानतासे या दो बार लिया जाये तो कुछ आपत्ति है? —पृ. ७७

१७. "अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात्" श्लोकका तात्पर्य क्या है? —पृ. ७८

सेवा

१८. सेव्यस्वरूपको पुष्ट करना / कराना माने क्या? पुष्ट करानेकी आवश्यकता क्या है? मर्यादामें प्राणप्रतिष्ठा है वैसे यहाँ पुष्ट कराना मतलब? हम मूर्तिको स्वरूप क्यों कहते हैं? —पृ. ८१

१९. सेव्यस्वरूप पुष्ट कराये न हों और हम भावसे सेवा करें तो प्रभु अंगीकार नहीं करते ऐसा सबका कहना है. तो ऐसा क्यों? —पृ. ८८

२०. किस परिस्थितिमें स्वरूपसेवा पधरानी चाहिये और किस परिस्थितिमें चित्रसेवा पधरानी चाहिये? —पृ. ८८

२१. आजकी परिस्थितिमें दोमेंसे क्या योग्य है— घरमें रहते हरेक ब्रह्मसम्बन्धी वैष्णवके माथे अलग-अलग श्रीठाकुरजी बिराजे यह, कि सब परिवारजनोंका एक ही श्रीठाकुरजीकी सेवामें विनियोग? —पृ. ८९

२२. माथे लालन बिराजते हो तो साथमें गोवर्धननाथजी पधराने ही चाहिये? —पृ. ९०

२३. एक सिंहासनपे श्रीमहाप्रभुजीकी गोदमें लालन बिराज सकते हैं या नहीं? —पृ. ९०

२४. श्रीमहाप्रभुजीके मतमें सेवाका सिद्धान्त क्या है? —पृ. ९०

२५. सेवा बालभावसे करनी या पतिभावसे? —पृ. १०८

२६. प्रभुकी सेवा निरुपाधिक भावसे करनी चाहिये. तो एक ही समय पतिपुत्रादिक भावसे सेवा कर पाना कैसे संभव है? —पृ. ११८

२७. वैष्णवोंके घर बिराजनेवाला श्रीठाकुरजीका स्वरूप किस भावसे बिराजता है? उन स्वरूपके सन्मुख क्या ब्रह्मसम्बन्ध ले-दे सकते हैं? क्या वे गुरुके आधिदैविक स्वरूप हैं? बैठकजीमें छप्पनभोग कर सकते हैं? —पृ. १२२

२८. अपरसका मतलब क्या? —पृ. १२४

२९. जितनी शुद्धि पाल सकते हों उतनी शुद्धि पालकर श्रीठाकुरजी पुष्ट

कराकर सेवा करें तो चल सकता है या नहीं? —पृ. १२७

३०. गृहसेवाकी आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, पर जिस घरमें हम रहते हों वहाँ आचारशुद्धि न हो, मासिकधर्म न पाला जाता हो और घरके सदस्य प्रतिकूल हो तो सेवा कैसे पधरानी? और न पधरायें तो सेवा करनेकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं होता? —पृ. १३०

३१. जो पक्की मर्यादासे सेवा करते हो और जो पक्की मर्यादासे सेवा न करते हो उन दोनोंकी सेवामें तारतम्य है क्या? उन दोनोंकी सेवाके फलमें तारतम्य है क्या? —पृ. १३२

३२. हमारे यहाँ सखडीके श्रीठाकुरजी बिराजते हो तो एकादशीके दिन महाप्रसाद लेना या फलाहार करना? सखडी महाप्रसाद लेना तो क्यों? फलाहार करना तो क्यों? प्रसाद अन्न तो नहीं है न? —पृ. १३४

३३. श्रीमहाप्रभुजीके दृष्टिकोणसे सेवामार्ग पूजामार्गसे भिन्न है, तो फिर षोडशग्रन्थ आदिमें "तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु", "पूजया श्रवणादिभिः" आदि वाक्योंसे क्या समझना? —पृ. १३५

३४. जन्माष्टमीके दिन श्रीठाकुरजीको सुबह पंचामृत क्यों होता है? रातको महाभोग आनेके बाद श्रीठाकुरजी क्यों पालने झूलते हैं? —पृ. १३९

३५. उत्सवके अवसरपे अपने घर किसीके श्रीठाकुरजी पधारे हों और वे भेट करें तो उसे स्वीकारनेमें दोष है क्या? —पृ. १४६

३६. कदाचित् कोई वैष्णवके यहाँ श्रीठाकुरजी न बिराजते हों और उसे भाव हो तो उसे दर्शन करवाने या नहीं करवाने? —पृ. १४७

३७. अपने यहाँ आरतीके वक्त क्यों तालियाँ नहीं बजाते? सब क्यों नहीं गाते? —पृ. १४८

३८. अटकाव / सूतकके समय सेवाका कैसे करना? —पृ. १४९

३९. सामग्री धराने लायक है या नहीं इसकी जाँच कैसे करनी? —पृ. १४९

४०. मन्दिरमेंसे महाप्रसाद पधारे उसे अपने श्रीठाकुरजीको भोग धरा जा सकता है क्या? अगर धर सके तो अपने माथे और मन्दिरमें बिराजते ठाकुरजीमें भेद है क्या? —पृ. १४९

४१. ठाकुरजीकेलिये कुछ भी करना अगर ठीक है तो कोई वैष्णव निर्धन होनेके कारण सेवा ठीक तरहसे न कर पाता हो तो चोरी करके, दुराचार करके द्रव्य प्राप्त करके वैभवसे सेवा करे वह योग्य है? —पृ. १५२

४२. हम ठाकुरजीको बालभावसे भजते हैं तो सफरमें अपने ठाकुरजीको श्रम होता है यह क्या सच है? यदि अपने बालकको दूसरेके यहाँ रखनेकेलिये मन न मानता हो तो ठाकुरजीको दूसरेके घर क्यों पधराने? –पृ. १५२

४३. किसे परिश्रम कहा जाता है और किसे नहीं? –पृ. १५४

४४. ठाकुरजीके सिंहासनकेलिये या भोग धरनेकी चौकीकेलिये सनमाईकाका प्रयोग कर सकते हैं या नहीं? –पृ. १५४

४५. जन्माष्टमी, प्रबोधिनी, चन्द्रग्रहणके दिन ठाकुरजीको जागरण करा सकते हैं या नहीं; आठ समयकी सेवा अब नहीं करते पर पूर्वपरम्परासे करते या करवाते आयें हो तो? –पृ. १५४

४६. सम्प्रदायमें अन्नकूट उत्सव कब शुरु हुआ? छप्पनभोगके मनोरथके बारेमें आपका मन्तव्य क्या है? –पृ. १५५

४७. भगवदीयोंकी वार्तामें कहा है कि ठाकुरजी उनके साथ बोलते और सामग्री मांगकर अरोगते; तो आजकल ठाकुरजी हमारे साथ क्यों नहीं बोलते? क्यों मांगकर नहीं अरोगते? –पृ. १५७

४८. सेवा करते समय चित्तमें अनेक लौकिक विचार आते हैं और सेवामें चित्त नहीं लगता. ऐसा क्यों? केवल कर्मकाण्डात्मक औपचारिक सेवा होती है तो प्रभु स्वीकारते होंगे या नहीं? –पृ. १५८

४९. वैष्णवको सेवा कैसे करनी चाहिये ये कोई भी गोस्वामी आचार्यकेलिये वैष्णवोंको काफी समय देकर सिखाना आजकी परिस्थितिमें कम सम्भव लगता है, तो सेवाविषयक जानकारी पानेके इच्छुक सच्चे पात्रकेलिये आपकी क्या सलाह है? क्योंकि सिद्धान्तकी समझ ग्रन्थ पढनेसे आ सकती है पर सेवा रचनात्मक विषय है. –पृ. १५९

५०. वैष्णवका गोलोकवास हो जानेपर क्या ठाकुरजीको दुबारा पुष्ट करानेके बाद ही दूसरा वैष्णव सेवा कर सकता है? और ये सच हो तो क्या वैष्णवके साथ ठाकुरजीका तेज चला जाता है? –पृ. १६०

५१. वैष्णवके गोलोकवासके बाद कोई सेवा करनेवाला न हो तो क्या करना? –पृ. १६१

५२. भगवत्सेवा करना संभव न हो / रहे तो क्या करें? –पृ. १६१

५३. श्रीमद्भागवतसप्ताह नहीं करनी चाहिये, पर जो बाँचते हो उनसे सुनना हो तो किनसे सुनना? और सुनके उनको कुछ न देना? —पृ. १६२

५४. पुष्टिमार्गीयोंको पुष्टिमार्गेतर विद्वानोंके प्रवचनसे लाभान्वित होना चाहिये या नहीं? —पृ. १६३

५५. प्रभुके मुखारविन्दको मुखकमल कहा जाता है तो वो शीतलता न देकर ताप क्यों देता है? —पृ. १६५

५६. पुष्टिजीवको नित्य क्या करना चाहिये जिससे प्रभुका वियोगानुभव हो? —पृ. १६६

५७. सूतक आदि स्थितिमें श्रीयमुनाष्टकका पाठ हो सकता है या नहीं? रजस्वला बहनें जपपाठ कर सकती हैं या नहीं? —पृ. १६६

५८. "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" में सर्वधर्मकी जो बात कही है, वह कौनसे धर्मका त्याग बताया गया है? —पृ. १६६

५९. भगवान गीतामें कहते हैं कि सर्वधर्म छोडकर एक मेरे ही शरणमें आओ, तो उन्होंने दूसरे धर्म क्यों स्थापित किये? —पृ. १७०

६०. सामान्यतया मन्त्रोच्चारणमें हरेक मन्त्रके आगे ओमकार-प्रणव बोला जाता है, जैसे ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ नमो शिवाय, आदि. पर अपने यहाँ अष्टाक्षरमन्त्रमें वो प्रयुक्त नहीं होता. इसकी वजह क्या? —पृ. १७४

६१. सर्वोत्तमस्तोत्रके पाठका एक-एक अक्षर अधरामृतरूप है, तो जीवको उसकी अनुभूति क्यों नहीं होती? —पृ. १७८

६२. श्रीप्रभुके चरणकमलोंमें षोडशचिह्न विद्यमान हैं ऐसा निरूपण है. किन्तु पृथक्-पृथक् ग्रन्थोंमें पृथक्-पृथक् चरणचिह्नोंका निरूपण देखनेको मिलता है. तो वास्तवमें श्रीप्रभुके चरणकमलोंमें कौनसे चरणचिह्न विद्यमान हैं? —पृ. १७९

६३. श्रीहरिरायजीकृत 'भगवच्चरणचिह्नवर्णनम्' नामका ग्रन्थ है. उसमें भगवानके षोडश चरणचिह्नोंका निरूपण है. प्रत्येक चरणचिह्नके ध्यानसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है. तो अलौकिक रसात्मक भगवानके अलौकिक रसात्मक चरणचिह्नसे ऐसी लौकिक फलप्राप्ति क्यों बताई होगी? —पृ. १८२

६४. पुष्टिमार्गमें व्रजचोरासीकोसकी यात्रा किस लिये? —पृ. १८४

६५. श्रीगोपीजन, श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी, श्रीवल्लभकुल और ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देनेवाले द्वारभूत गुरुदेव — इनके गुरुत्वका भाव समझाईये. —पृ. १८६
६६. प्रपंच (जगत) ब्रह्मरूप है तो भी प्रपंचविस्मृतिकेलिये क्यों आग्रह रखा जाता है? —पृ. १९०
६७. अपना कर्तव्य या पुष्टिधर्म क्या? जनसेवा या प्रभुसेवा? —पृ. १९९
६८. क्या वर्णाश्रमधर्मका त्याग शुद्धपुष्टिमार्गमें आवश्यक है? —पृ. २०६
६९. मीराबाई जैसे महान भक्तोंके पद हमारे पुष्टिमार्गमें क्यों नहीं गाये जाते? —पृ. २०७
७०. "कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मति" और "लोकार्थी चेत् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा" इन श्लोकोंका तात्पर्य समझाईये. कलिमें सब मार्ग दुःसाध्य हो गये हैं और श्रीमहाप्रभुजीने भक्तिमार्ग ही दिखाया है, तो आपश्रीद्वारा उपदिष्ट भक्तिमार्ग कौनसे प्रकारका? —पृ. २०८
७१. मालापहिरावनीका भाव क्या है? —पृ. २११
७२. अपने यहाँ निःसाधनतापे भार दिया जाता है, तो प्रभुको कैसे पा सकें? साधन नहीं तो एकादशी - जयन्तीव्रत आदि क्यों हैं? —पृ. २१२
७३. बहिर्मुखता माने क्या? "यदा बहिर्मुखा यूयं" ये शिक्षाश्लोकीका तात्पर्य क्या है? —पृ. २१४
७४. कामादि छह अवगुणोंका सेवामें विनियोग कैसे है? विनियोग होना और करना इसमें अन्तर क्या है? —पृ. २१९
७५. अन्याश्रय मतलब क्या? —पृ. २२५
७६. स्वरूपनिष्ठा और धर्मनिष्ठा में क्या तारतम्य है? —पृ. २२८
७७. असमर्पितवस्तुका त्याग मतलब क्या? —पृ. २२९
७८. नित्यलीलावाद क्या है? जब भूतलपर नित्यलीला है तो भगवत्कथादिकी क्या आवश्यकता है? —पृ. २३०
७९. प्रभु रसरूप हैं, तो रसरूप माने क्या? —पृ. २३२
८०. सर्वभाव और सर्वात्मभाव में क्या अन्तर है? —पृ. २३९
८१. "धर्म ही ते पायो यह धन" इसमें कौनसा धर्म विवक्षित है? —पृ. २४३

साम्प्रतचिन्तन

८२. आचार्य श्रीमहाप्रभुजीने जीवोंका अंगीकार तथा धर्मका प्रचार करनेकेलिये

तीन बार पृथ्वीप्रदक्षिणा की. दूसरे धर्मोंके धर्मगुरु भी उनके धर्मके प्रचारार्थ गाँव-गाँव जाते हैं. तो अपने पूज्य गोस्वामी बालक धर्मप्रचारार्थ बाहर आयें क्या यह जरूरी नहीं? –पृ. २४३

८३. हालमें गोस्वामी बालकोंका लौकिक वैभव बहुत ही बढ गया है. उसमें जो जानकार वैष्णव हैं उन्हें तो कुछ असर नहीं होती, पर जो नयी पीढी है उनकी अनेक प्रतिक्रियाएँ आती हैं. अतः मार्गका विस्तार करनेमें परेशानी होती है और नयी पीढीको धर्मका ज्ञान ठीक तरहसे नहीं दिया जा सकता. इस बारेमें आपका क्या मन्तव्य है? –पृ. २४३

८४. हवेलीमें श्रीठाकुरजीका नेग बहुत होनेपर भी गोस्वामी बालक अपनी तपेली अलग क्यों करते हैं? –पृ. २४५

८५. जो सृष्टिका नियन्ता है, केवल यह जगत ही नहीं पर समग्र ब्रह्माण्ड जिसने बनाया है, वह क्या हमारा बालक हो सकता है? क्या हम उसे बालककी तरह सुला सकते हैं? ईश्वरको इस तरह महत्त्वहीन बना देना क्या शास्त्रीय हो सकता है? यदि नहीं तो बालकृष्णकी उपासनाका तात्पर्य क्या? सृष्टिके सर्जनहारको बालक मानना क्या मानवीय मनोविकार नहीं? अन्यथा गोकुलके कृष्णको ही अपना मानना और द्वारकाके कृष्णको नहीं, उसका क्या कारण? मथुरा जानेके बाद कृष्णमें पुरुषोत्तमत्व नहीं रहा, क्या यह सच है? –पृ. २४६

८६. आज अनेक मन्दिर हैं और नये भी बनते हैं. मन्दिर/हवेली बनानेकी महाराजश्री आज्ञा दे तब बनाये जाते हैं, प्रतिष्ठापन भी उनके ही हाथों होता है. आप किन्तु आज्ञा करते हो कि मन्दिरोंमें जाओ मत. तो पहले जो मन्दिर हुए और अभी भी हो रहे हैं वे क्या गलतीसे हो रहे हैं? –पृ. २५६

८७. देवद्रव्य किसे कहते हैं? ठाकुरजीको धरी गई भेट देवद्रव्य कैसे हो जाती है? –पृ. २६७

८८. देवद्रव्यका सिद्धान्त हमें मान्य है, पर श्रीआचार्यचरण किसीको सीधा और किसीको पत्तल ले जानेको कहते थे उसके पीछे क्या रहस्य था? –पृ. २६९

८९. ८४-२५२ वैष्णवोंकी वार्तामें आता है कि वैष्णव एक-दूसरेको द्रव्य देते थे, तो आप क्यों मना करते हो? आप कहते हो कि अपने ठाकुरजीको अपने पास जो हो वही तन-मन-धनसे धरना चाहिये, तो

ठाकुरजीकेलिये सामग्री-वागा-वस्त्र आदि दूसरे वैष्णवसे ले सकते हैं या नहीं? —पृ. २६९

९०. यदि हरेक जाहिर पुष्टिमार्गीय भगवद्धाममें दर्शन करना/कराना बन्द हो जाये तो आज ब्रह्मसम्बन्धी पुष्टिसृष्टिको संगठित होनेका कोई स्थान या प्रकार नहीं रहेगा. संगठित होनेसे मेरा तात्पर्य यही है कि आजका युग अनेक बदलती विचित्र परिस्थितियोंको देख रहा है. तो पुष्टिसृष्टिमें एक-दूसरेसे मिलते रहे, विचारोंका आदानप्रदान करते रहे तदर्थ आपका क्या सुझाव है? —पृ. २७१

९१. वार्तामें आता है कि उदाहरणतया परे जैसे कुछ वैष्णव भेट/सेवा लेनेकेलिये दूसरे गाँव जाते थे. तो वो भेट/सेवा क्या श्रीठाकुरजीकेलिये नहीं थी? —पृ. २७२

९२. लौकिकमें हमें संकोच हो तो अधिक सामग्री, सिंगार आदि नहीं धरा सकते तो मनमें दुःख होता है. तो मन्दिरमें वैभवसे सेवा हो उसमें क्या बुराई है? —पृ. २७५

९३. वैष्णव वृद्ध हो और स्वयं सेवा नहीं कर पाते हो तो उन्हें दर्शन करने कहाँ जाना? —पृ. २७६

९४. अविवेक क्षमा करें, पर आप सबका ऐसा आग्रह क्यों कि वैष्णवको दर्शन करने ही नहीं जाना चाहिये, भेट ही धरनी नहीं चाहिये? दोनों पक्ष समान जिम्मेदार हैं, तो आप दर्शन ही न करायें ये योग्य नहीं? —पृ. २७८

९५. श्रीमहाप्रभुजीके बैठकजीमें जा सकते हैं या नहीं? क्योंकि बैठकजी भी प्रायः ट्रस्टमें ही हैं. —पृ. २७९

९६. श्रीनाथद्वाराके मन्दिरमें मनोरथ कर सकते हैं या सेवा भेज सकते हैं? —पृ. २८१

९७. श्रीठाकुरजी गोस्वामी बालकके माथे बिराजते हो, पर ट्रस्टमें बिराजते हो तो उनके प्रसाद, मनोरथ आदिके बारेमें क्या करना? —पृ. २८४

९८. जहाँ-जहाँ जाहिर ट्रस्टमन्दिरके ट्रस्टीपदपे स्वयं गोस्वामी बालक हो वहाँ मनोरथ, प्रसाद का कैसे क्या करना? और वे हमारे गुरु स्वयं हो तो हमें क्या करना? —पृ. २८४

९९. असमर्पित अन्न न लेनेका नियम हो और अचानक बाहरगाँव जानेका आ जाये और ठाकुरजीको न पधरा जायें तो क्या करना? उस गाँवमें

हवेलियाँ हो तो महाप्रसाद लेना या नहीं? —पृ. २८५
१००. गोस्वामी बालक मनोरथकेलिये द्रव्यकी मांग करते हो तो वैष्णवोंको उस वक्त क्या करना चाहिये? क्योंकि उस वक्त वैष्णवको धर्मसंकट आ जाता है. —पृ. २८५
१०१. हमारे गाँवमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा वैष्णव ही करते हैं. ये मन्दिरके ठाकुरजी तो महाराजश्रीके ही होते हैं, तो फिर वे क्यों ऐसे सौंप देते हैं? —पृ. २८६
१०२. कोई मन्दिरके सब ट्रस्टी वैष्णव ही हो तो वहाँ प्रसाद ले सकते हैं? —पृ. २८६
१०३. अब कुछ ही समय बाद श्रीनाथजी नाथद्वारासे पुनः श्रीगिरिराजजी पधारेंगे ऐसा कहा जाता है. क्या यह सत्य है? —पृ. २८७
१०४. वैष्णवपरिवार सक्षम बने इसकेलिये कैसी भावना आवश्यक है? —पृ. २८७

सुधारणोपायविचार

१०५. आपद्वारा किशनगढमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीके मन्दिरकी स्थापनाके पीछे क्या उद्देश्य है? —पृ. २९०
१०६. महाप्रभुजीके मन्दिरकी स्थापनाका प्रयोजन क्या है? —पृ. २९१
१०७. मन्दिरका ये प्रकार महाप्रभुजीके सिद्धान्त और वल्लभसम्प्रदायकी परम्परा को अनुकूल है क्या? —पृ. २९१
१०८. मन्दिरमें जब भगवान कृष्णका स्वरूप बिराजमान हो तब श्रीमहाप्रभुजीका स्वरूप पधराना योग्य है? —पृ. २९१
१०९. क्या वल्लभसम्प्रदायके अन्य आचार्य श्रीमहाप्रभुजीके मन्दिरकी स्थापनाके विचारसे सहमत हैं? —पृ. २९२
११०. श्रीमहाप्रभुजीके मन्दिरमें महाप्रभुजीकी सेवाका प्रकार कैसा है? —पृ. २९३
१११. प्रचलित श्रीकृष्णसेवार्थ मन्दिर तथा नवस्थापित श्रीमहाप्रभुजीके मन्दिर में क्या अन्तर है? इससे दोनोंकी उपयोगिता और महत्ता में क्या अन्तर पडेगा? —पृ. २९३
११२. वैष्णवोंको सिद्धान्तकी शपथ लिवानेका आपका उद्देश्य क्या

है? —पृ. २९५
११३. पुष्टिअस्मिता केसेट सीरीज़के निर्माण और उसके डांडियारासके कार्यक्रमोंके आयोजनके पीछे आपका क्या उद्देश्य है? —पृ. २९५
११४. सन १९९२में जो पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा आयोजित की गई थी उससे क्या लाभ हुआ? —पृ. २९६
११५. साम्प्रदायिक चर्चासंगोष्ठि (इन्टर्नल सेमिनार) का आयोजन किस हेतुसे किया जाता है? —पृ. २९८
११६. मुम्बई विश्वविद्यालयद्वारा आपके सहयोगसे चलाये जाते 'वल्लभवेदान्त' कोर्सकी जानकारी दीजिये. —पृ. ३००
११७. पुष्टिमार्गकी स्थिति कितने वर्ष तक? —पृ. ३००

परिशिष्ट

श्रीवल्लभपंचशतीमहोत्सव और अपना कर्तव्य : एक संवाद —पृ. ३०२-३४२

卐

श्रीहरिः

उपक्रम

प्रवचनका मार्ग बहुत संकरा होता है. जिस मार्ग पर दोनों ओरसे यातायात एकसाथ नहीं चल सकती वैसे मार्गको संकरा मार्ग कहा जाता है ; ऐसे मार्ग पर सदा *वन-वे ट्राफिक* चलता है. मुझे ऐसे मार्ग पर चलना या दौडना अच्छा नहीं लगता, इसलिये सदैव मेरी हार्दिक इच्छा यह रहती है कि जैसे मैं आपको कुछ कहूं वैसे आप भी मुझसे कुछ पूछें. इसलिये आपके ही हृदयके ही वास्तवमें जो प्रश्न हों, शंकाएँ या समस्याएँ हों, उसका समाधान हमलोग सोचे. और वह भी श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तके आधारपर ही. श्रीमहाप्रभुजीने मुझे जो कुछ ज्ञान दिया है, उसके आधारपर मैं आपकी शंकाका समाधान करूँ इसमें मुझे आनन्द आता है.

हमारे यहाँ प्राचीन समयसे ज्ञानार्जनकी सच्ची पद्धति यह थी कि "तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया". कोई भी वस्तु पूछे बिना कही ही नहीं जाती थी. आजकल यह पद्धति बदल गई है, इसलिये गुरुसे कोई कुछ न पूछे तब भी विज्ञापन छपवाकर आवेदन देना पडता है कि हम अब आपको ज्ञान देनेकेलिये बम्बईमें आ गये हैं, हमारा प्रवचन सुनो. प्राचीन पद्धतिके अनुसार तो जब शिष्यको कोई जिज्ञासा हो तब वह शिष्य अपनी जिज्ञासा गुरुके पास प्रस्तुत करता था. शिष्यके अधिकारको समझकर विचार करके शिष्यको उस विषयका उपदेश गुरु देते थे.

विज्ञापन छपवाकर प्रवचन करनेकी आजकलकी पद्धति मुझे सचमुचमें पसन्द नहीं, क्योंकि जहाँ दोनों ओरका *ट्राफिक* सरलतासे चलता हो वैसे बडे मार्ग पर चलना अच्छा होता है, संकरे मार्ग पर चलना यह उचित बात नहीं है.

प्रश्न १ ५०० वर्ष पहले श्रीमहाप्रभुजीने जो सिद्धान्त प्रकट किये, आचार-विचारकी जो रीति दिखाई ; आजके वैज्ञानिक युगमें क्या उसका आचरण या पालन सम्भव है ?

उत्तर १ विज्ञानकी हमें बातें करनी हो तो आज विज्ञानकी बहुत सारी बातें ऐसी है जो मैं कहूँ तो एक तरफ तो अपना जो आचार-विचार है वह वैज्ञानिक सिद्ध हो जायेगा और दूसरी तरफ जो आचार-विचारकी सिरपच्ची थी वो विज्ञानके माध्यमसे अपने गले मण्ड जायगी! एक बहुत ताजा उदाहरण देता हूँ, कि हमलोग कहते थे कि किसीके उच्छिष्ट = जूठे पात्रमें खाना नहीं चाहिये. इसी वजहसे आज जो होटलमें जाकर खाते हैं उनपर घरके बडे नाराज होते हैं. यदि अखबारोंमें अमेरिकाके बारेमें पढे तो जान पडेगा कि वहाँ एइड्स रोग फैल रहा है. एइड्सका मतलब है कि अपनी जो प्रतिरोधक व्यवस्था (Immune system) है उसका बिगड जाना. ऐसे अनेक रोगोंके चेप लगनेकी अनेक बजहोंमेंसे एक बजह यह भी बताई है कि किसी पीडितकी थालीमें दूसरे खायें तो थूंकके स्पर्शसे AIDS जैसे रोग फैलते हैं. वैज्ञानिक बात है, तुम्हें सावधानी रखनी चाहिये.

उसी आचारविचारकी मैं बात कर रहा हूँ, नयेकी नहीं. यद्यपि मैं मेरे घरमें नलका ही जल इस्तेमाल करता हूँ, क्योंकि कुआ है ही नहीं, पर फिर भी मैं एक बात बताऊँ, कि अभी थोडे ही दिन पहले मैंने पढा था कि नलके जलमें जो *क्लॉरिन* मिलाई जाती है उससे अपने शरीरमें *केन्सर* हो सकता है. कमसे कम कुएमें कोई *क्लॉरिन* तो नहीं मिलाता.

ऐसी तो अनेक प्राचीन आचार मर्यादा प्रणालियोंका वैज्ञनिक समर्थन (Justification) दिया जा सकता है. पर मुझे ऐसे Justificationमें रुचि नहीं, क्योंकि मेरी बहुत साफ मान्यता है कि शास्त्रीय बातका समर्थन मैं विज्ञानसे नहीं लेना चाहता. क्योंकि विज्ञान एक विकासशील शास्त्र है, पूर्णतया विकसित शास्त्र नहीं है. कोई ऐसा समझता हो तो वह विज्ञानको ही नहीं समझता. विज्ञानका मतलब ही यह है कि हर वक्त परीक्षण (experiment) और निरीक्षण (observation) द्वारा आगे बढते जाना. विज्ञान आगे बढता हुआ शास्त्र है ; बढा हुआ नहीं, पूर्णताको प्राप्त किया हुआ नहीं. वह आज एक मान्यताको स्थापित करेगा और कल उसी मान्यताको ठुकरा देगा.

आपको शायद पता नहीं होगा पर शुरुआतमें scienceमें एक

बहुत बडा प्रश्न उठ खडा हुआ था, कि प्रकाश बल्ब जोडनेसे अपनी आंख तक आये या सितारोंसे अपनी आंख तक आये वह किस प्रकार आता है? यह बात ६०-७० साल पहले की है. तो उन्होंने सोचा कि कोई माध्यम तो होना चाहिये कि जिसके द्वारा प्रकाश यहाँ तक आता है. उस संभाव्य पदार्थका नाम उन्होंने ईथर रखा. माने ईथर विविध ग्रहों और आकाशगंगाओंके बीचमें है, और ईथरके माध्यमसे प्रकाश अपने तक पहुंचता है. अब अपने यहाँ भी आकाशको पंचमहाभूतमेंसे एक तत्त्वके रूपमें हमने स्वीकारा है. तो शुरुआतके दौरमें तथाकथित आधुनिक विद्वान उसका खण्डन करते थे, कि आकाश कोई तत्त्व ही नहीं, यह तो बेकारकी बात खडी कर दी है. अब वैज्ञानिकोंने ईथर नामक तत्त्व माना तो अपने यहाँके रूढिवादी पण्डित उछलने लग गये कि "देखो, हम तो पहलेसे कहते आये हैं कि आकाश तत्त्व है! scienceको आज मालूम पडा, परन्तु हमारे शास्त्रमें तो हजारो वर्ष पहलेसे कहा है". पर पीछेसे क्या हुआ कि ५-१० सालमें experiment-observation करते-करते वैज्ञानिकोंको मालूम पडा कि ईथर नामक कोई पदार्थ है ही नहीं. और Light जो है वो wave भी है और particle भी है. तो ईथर पदार्थका "गणपति बापा मोरिया" विसर्जन हो गया! अब क्या करोगे? अब आकाश तत्त्व कहाँ गया? इसलिये ऐसी गडबडी नहीं करनी चाहिये. science आज एक बात कर रहा है, कल उसे cancel भी कर देगा.

मेरे साथ एक वक्त ऐसा हुआ. अखबारोंमें मैने पढा कि *जीनन* नामक पदार्थ पत्तोंको हरा रखता है, और सिन्थोल साबुनमें वो *जीनन* इस्तेमाल करते हैं. मुझे लगा कि सिन्थोल ही इस्तेमाल करना चाहिये, कि जिससे अपन हरेभरे ही रहें, कभी कसर आये ही नहीं! इस्तेमाल शुरू करनेके थोडे दिन बाद *जीनन*वाला सिन्थोल न लगाऊँ तो मुझे त्वचामें खुजली होने लगती. जिस किसी दिन सिन्थोल न लगाता तो बस ये ही परेशानी! मैं हमारे *फैमिली डाक्टर*के पास गया. वह भी चकरा गया. कुछ साल ऐसे ही चला. पीछेसे मैने *सायन्स टुडे*में पढा कि *जीनन* नामक पदार्थपर अमेरिकामें पाबन्दी लगा दी गई, क्योंकि *ओपरेशन* करनेसे पहले *डोक्टर* उस पदार्थसे हाथ धोते थे इसके कारण

वह उनके मस्तिष्कमें जमा होके *ब्रेन*के *टीश्यूसको डेमेज* करता था! मुझे ये पढकर ऐसा डर लगा कि आज तक फिर सिन्थोलसे नहाया नहीं ; और खुजली क्या मालूम कहाँ गई? *सायन्स*का सब ऐसा है. आज एक बात कहे और कल दूसरी बात करे. उसके भरोसे हम कोई शाश्वत मूल्य स्थापित नहीं कर सकते. उसके भरोसे हम सिन्थोल इस्तेमाल कर सकते हैं और छोड सकते हैं. आज *जीनन* पत्तोंको हरा रखता है तो कल *ब्रेन टीश्यूको डेमेज* करता है ऐसा विज्ञान खोजेगा. मैं यह नहीं समझ पाता कि शास्त्रके किसी भी सिद्धान्तका विज्ञानसे क्यों समर्थन करना चाहिये? मैं इस मतका नहीं. यह तो बात समझानेके लिये समझाई. वैज्ञानिक युगमें कोई बात सिद्ध होगी तो कोई नहीं होगी. आप यदि धार्मिक हो तो आपको इस बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. कमसे कम मुझे तो चिन्ता नहीं होती, क्योंकि क्या पता आज क्या सिद्ध हुआ और कल क्या असिद्ध होनेवाला है. यह तो वैज्ञानिकोंको भी पता नहीं. रोज कुछ नया आता है और कुछ पुराना असिद्ध हो जाता है.

अभी आपने पढा होगा कि गंगामें प्रदूषण बढा है. इस चर्चाके दो साल पहले मैंने पढा था कि सब परीक्षण करके इन लोगोंको मालूम पडा कि गंगाके पानीमें प्रदूषणको पचानेका अनोखा सामर्थ्य है ; हिमालयकी जडीबुटियोंके संसर्गसे या न जाने क्यों? और लोगोंने उछलना शुरू किया, कि हम नहीं कहते थे कि गंगाजल पवित्र है? क्या मालूम किस वैज्ञानिकने परीक्षण करके अब सिद्ध किया कि गंगामें जितना प्रदूषण है उतना विश्वकी किसी नदीमें नहीं!

इसलिये ऐसे नित्य बदलते परिणामवाले विज्ञानसे मैं प्रभावित नहीं कि मेरे शाश्वत सिद्धान्त इस कसोटीके पत्थरपर कसके देखूं. मुझे लगता है "तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितम्। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इहार्हसि॥" आपको लगता होगा कि इस वैज्ञानिक युगमें कोई बाबा आदमके जमानेका अवैज्ञानिक आ गया! पर मेरी समझमें नहीं आता कि ऐसे विज्ञानपे भरोसा कैसे किया जाय?

आज तक वैज्ञानिक कहते हैं कि एक ही ज्ञातिमें विवाह करनेसे आनुवंशिक शक्ति घटती जाती है इसलिये वर्णसंकर विवाह ज्यादा अच्छे

हैं. और अभी ही एक *स्पर्मबॅन्क* स्थापित हुई है जो *नोबल प्राईज* विजेताओंकी बौद्धिक विरासतके संरक्षणार्थ उनका वीर्य इकट्ठा करती है. एक ओर अच्छी ओलादके गाय या घोडे केलिये *ब्रीडिंग* किया जाता है उसमें विशेष तौरपर अच्छी *क्वालिटी मिक्सअप* न हो जाय उसका ध्यान रखा जाता है ; उसमें *इन्टरकास्ट* नहीं चलता! कौन जाने उसमें सच क्या है और जूठ क्या है. दोनों सच्चे या जूठे हो सकते हैं.

मैंने तो पढा है कि व्यावसायिक स्पर्धामें सामनेवालेका माल ज्यादा बिकता रोकनेकेलिये ऐसे परीक्षण किये जाते हैं कि उस मालमें इस्तेमाल किये जाते पदार्थसे क्या नुकसान होता है. नुकसान होता है या नहीं होता ऐसे *डेटा* प्रकाशित किये जाते हैं. तो माल बिकना कम ही हो जाता है. क्योंकि हम भी मानव हैं और *सायन्टिस्ट* और व्यौपारी भी मानव है, तो वैज्ञानिक युग क्या और अवैज्ञानिक युग क्या? विज्ञानके आधारपे आध्यात्मिक कृत्य करनेमें मुझे बहुत निष्ठा नहीं, क्योंकि मैं उन्हें विज्ञानके बजाय शास्त्रसे निर्धारित करना अधिक पसन्द करता हूँ.

यह बात समझ लो कि महाप्रभुजीने आचारविचारकी कोई नई रीति दिखाई ही नहीं है. जो रीति चलती आई है उसमें रहो और सेवा करो ऐसे महाप्रभुजीने कहा. "अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेद् बुधः." जो प्राचीन रीति चलती आई थी वह तो सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गई है यह महाप्रभुजी कहते हैं. "वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेन तु, क्रियमाणे न धर्म स्याद् अतस्तस्मात् न मोचनम्, अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेद् बुधः" विरोधमें जो कर रहे हैं वो तो मन मनानेकी बात है.

हम गोस्वामिओंकी एक बार जातिसभा मिली. सबने कहा कि आचार पलते नहीं, तो कुछ छूटछाट मिलनी चाहिये. अब एक युवा महाशय थे उन्होंने कहा कि यह महाराजोंमें बंडी पहननेका नियम है उसमें भी कुछ छूटछाट मिलनी चाहिये. जमाना चांद पर पहुँच गया. पुरानी पीढीके लोग कहते थे कि पेन्ट-शर्ट पहननेपर क्लार्क जैसे दिखोगे, तुम्हारी शान बिगड जायेगी आदि. बीच की पीढीवाले बोले कि यह दोनों अति करते हैं. धोती-उपरना पहननेका जमाना बीत गया यह हम भी मानते हैं और पेन्ट नहीं पहनना चाहिये यह भी हम मानते हैं ;

सिर्फ कुर्तेकी छूट मिलनी चाहिये! तब मैंने कहा कि जो लोग गये है ना चांदपे वे धोती-कुर्ता पहनके गये थे या पेंट? इसलिये चांदपर जाना हो तो पेन्टकी छूट मिलनी चाहिये और हिन्दुस्तानमें रहना हो तो धोती-उपरना अच्छे हैं. पर बीचमें धोती-कुर्ता कहाँसे आ गया? मतलब सबको अपनी-अपनी पसन्दके पक्षमें निर्णय लेना है ; शास्त्रोंका कथन कोई पाल नहीं सकता. पालन नहीं कर सकते इसलिये यह हुआ कि मन माने सो धर्म. ऐसे तो व्यवस्था नहीं रह जाती. तब ऐसा बखड-जन्तर खडा होता है हर समाजमें.

एक भाई कहते थे कि जमानेके मुताबिक बदलना चाहिये. मैं *एडमीशन* लेके कोलेजमें गया तो एक अध्यापक मुझे देखकर इतना दुःखी हो गया कि गहरा निःश्वास छोडकर बोला "महाराज कुछ तो बदलो. जमाना कहाँ जा रहा है!" मैं भी थोडा *नर्वस* हो गया. परन्तु मैंने नाटक करनेकी ठानी और कहा "मैं समझा नहीं!" वे बोले "जमाना आगे बढ रहा है, कुछ तो कपडे पहनो." मैंने उपरना पकडकर पूछा "ये कपडे नहीं?" बोले "कपडे तो हैं पर तुम्हारा शरीर दीखता है". मुझे हुआ अब बात *लाईन*पे आई. मैंने कहा "सर जमानेके हिसाबसे तो *हिप्पी* नंगे घूम रहे हैं! मैं वैसा नंगा नहीं हो पाता इसलिये अर्धनंगा हूँ. आपका बंद गलेका कोट तो अब निश्चयेन पुराने जमानेकी बात है. आप कहो तो मैं *हिप्पी* हो जाऊँ." बोले "नहीं नहीं, वह मतलब नहीं". तो जमानेके हिसाबसे आगे बढना भी बहुत मुश्किल है भाईसा'ब! इतना आगे बढनेकी तैयारी है? तैयारी न हो तो जहाँ हो वहीं ठीक हो. इसलिये मैं जमानेमें भी बहुत विश्वास नहीं करता. मैं तो इसमें विश्वास करता हूँ कि जो हमसे बन सके वो करना चाहिये. न हो सके तो मैं क्या कर सकता हूँ? जमानेके हिसाबसे आगे बढने जाऊँ तो मुझे शायद *हिप्पी* होना पडे!

५०० वर्ष पहले महाप्रभुजीने निरूपित किये हुए सिद्धान्त पहलेसे ही श्रुति-स्मृति-पुराणमें निरूपित थे. उन्होंने नये प्रकट नहीं किये ; जो थे उन्हें ही समझाये हैं. वैसे ही आचारविचारकी रीतिके बारेमें भी कहा कि शास्त्रकी इस प्रणालीमेंसे जो पाल सको वह पालो. व्यर्थमें

उसे तोडनेकी अहंकारभरी चेष्टा न करो कि पाल सकते हैं फिर भी तोडेंगे क्योंकि जमाना आगे बढ गया है! ऐसी धृष्टता शास्त्रके साथ मत करो ; विनम्रतासे जो पाल सकते हो वो पालो. जो नहीं पाल सकते वह हमारी लाचारी है. हर आदमी समझता है कि क्या पाला जा सकता है और क्या नहीं. यथाशक्ति पालकर ''कृष्णसेवा सदा कार्या'', ''अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेद् बुधः'', ''सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि, पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम'' यह बात महाप्रभुजी समझा रहे हैं.

हम यह नहीं समझ सके उसके ये सब कुपरिणाम हैं. मैं कमसे कम सन् '६०से महाप्रभुजीके ग्रन्थ पढता आ रहा हूँ ; और कोई दिन ऐसा नहीं गया होगा जिस दिन मैंने महाप्रभुजीका कोई न कोई ग्रन्थ न देखा हो. आज तक मुझे ऐसा वाक्य नहीं मिला कि कुएके बिना सेवा नहीं हो सकती. महाप्रभुजीने कुएको शुद्ध नहीं गिना, अशुद्ध गिना है ''उद्धृतोदकवत् सर्वे पतितोदकवत् तथा''. पर महाप्रभुजी समझते हैं कि हर गाँवमें यमुनाजी, गंगाजी पधारनेवाले नहीं. इसलिये आपके गाँवमें कुआ है तो छूट दी कुएकी. कुएके जलसे सेवा करो. जो छूट दी उसे हम नियम समझ बैठे! मैं आपके छूट दूँ कि बैठो, और फिर मैं बम्बई चला जाऊँ फिर भी आप यहाँ बैठे ही रहो, क्योंकि महाराजश्रीने आज्ञा दी है! छूट = *परमीशन* और आज्ञा = *ओर्डर*में भेद है. हम सेवाको कुएमें डूबो देंगे पर कुए बगैर सेवा नहीं करेंगे. ऐसा महाप्रभुजीने कहाँ कहा है?

आप मुझसे पूछें कि मैं पुष्टिमार्गमें दीक्षित हुआ हूँ तो अब गाडी बाँई ओर चलानी या दाँई ओर? तो मैं क्या कहूंगा? कि हिन्दुस्तानमें हो तो बाँई और अमेरिकामें हो तो दाँई. मैं थोडा ही ये सब बताऊंगा. जिस देशमें जो R.T.O के नियम हो वह पालो. *टेक्स* कितना भरना या कितना चोरना ये क्या मैं बताऊंगा? वह तो तुम तुम्हारी सामर्थ्यसे व्यवस्थासे निपट लो.

हममें जिस तरह बड़ोंके प्रति प्रेमयुक्त आदरभाव होता है वैसे ही श्रीमहाप्रभुजीको शास्त्रकेलिये प्रेमयुक्त आदरका भाव है. इसी कारणसे महाप्रभुजीने शास्त्रीय आचारविचार अमान्य नहीं किये. ऐसे नहीं कहा

कि यह सब जूठ है, पुरानी रूढियाँ हैं, उन्हें फैंक दो. हम समझे कि महाप्रभुजीने यह प्रणाली हमें समझाई है, और यह प्रणाली समझाई है इसलिये हम सेवाको फैंक देंगे पर आचारविचारकी प्रणालीको नहीं फैंकेंगे!

मैं एक बात अक्सर कहता हूँ कि मनुष्यका स्वभाव है कि सिर पर कुछ गिरनेवाला हो तो हम हाथ सिर पर रख देते हैं. क्यों? क्योंकि सिरकी किमत हम ज्यादा मानते हैं ; हाथपे लग जाय तो लग जाय किन्तु सिर तो बचायें. कोई हाथको बचाने सिर बीचमें डालेगा? कोई नहीं. पर हम यह करते हैं. आचारविचार पालनेमें तकलीफ आती हो तो सेवारूपी सिर बीचमें धर देते हैं! चोट सेवाको चाहे लगे मगर आचारविचारको चोट नहीं आनी चाहिये!

आचारविचार हाथ जैसे हैं ; उनके बगैर जीवन अपाहिज आदमीके जीवन जैसा है. किन्तु यह भी समझनेकी कोशिश करो कि सिरकी किमतपे हाथ बचाने जाओगे तो सिर भी तूटेगा और हाथ भी तूटेगा. दयारामभाई कहते हैं ''ज्ञानीनुं सुख एवुं मानजो के पाग सारु छेदावे शीश, शीश छेद्या पछी पाग क्यां धारे, सहु कोई मूर्ख मनमां न विचारे''. हम भी आचारविचारकी जटिल प्रणालीके मोहमें सेवाको छोड रहे हैं, जो आज नहीं पर महाप्रभुजीके वक्तसे, वस्तुतः तो उससे भी पहलेसे, तूटी हुई है.

महाप्रभुजी भी बादमें प्रगटे हमें आश्वासन देने, कि कोई चिन्ताकी बात नहीं. ''सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि, पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम''. ''सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वतः, पापपीनस्य दीनस्य श्रीकृष्णः शरणं मम''. यह आश्वासन हमें देते हुए श्रीमहाप्रभुजीने पुष्टिमार्ग प्रवर्तित किया, कि घबरानेकी कोई बात नहीं, सब कुछ खतम हुआ है पर कृष्ण और उसके प्रति हमारा अनन्यभाव यदि खतम नहीं हुआ हो तो उसे पकड लो. क्योंकि आचारविचार कृष्णभजनकेलिये है. आचारविचारकी कोई उपयोगिता है तो वो कृष्णसेवाकेलिये है. पर जो आचारविचार तुम्हें ऐसे समझाता हो कि कृष्णसेवा छोड दो पर आचारविचार मत छोडो, तो वह आचार नहीं पर अनाचार है, विचार नहीं पर दुर्विचार है महाप्रभुजीके सिद्धान्तके हिसाबसे. यह बात स्पष्ट समझो.

बहुत कुछ शक्य है, बहुत कुछ अशक्य है. क्या शक्य है और क्या नहीं यह हम एक प्रवचनसे तय नहीं कर सकते. हर व्यक्तिको अपने-अपने हृदयपर हाथ रखकर सच्चाईसे पूछ लेना चाहिये क्या शक्य है? जो शक्य हो उसे कर लेना चाहिये. और जो अशक्य है उसकेलिये माफी मांग लेनी चाहिये कि आप आज्ञा करते हो पर शक्य नहीं, क्या करूँ? इसमें कोई सिद्धान्त तय नहीं किया जा सकता कि शक्य क्या है और अशक्य क्या है.

प्र. २ महाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट पुष्टिमार्गके मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं?
उ. २ विज्ञान कहता है कि Matter three dimensional है ; length, breadth और depth. इसी तरह मनुष्यके तीन आयाम हैं कृति, मति और रति. पंखा जैसे चल सकता है पर समझ नहीं सकता कि मैं चल रहा हूँ. और कुछ चीज, जैसे कम्प्युटर चलता है तो समझ भी सकता है. कभी बंद हो जाता है तो alarm बजाता है ; उसे समझ है कि कब चल रहा है और कब नहीं चल रहा. मगर रति नहीं है कम्प्युटरमें. कम्प्युटर ये नहीं कहता कि मुझे चलना है. वो तो program के अनुसार चलता रहता है. मगर हमारे तीन आयाम हैं. हम चलते हैं, हम समझ पाते हैं कि हम चल रहे हैं और हमारी रति या अरति उसमें प्रगट होती है कि हमें चलना या न चलना पसन्द आता है या नहीं.

इन तीन आयामोंको ध्यानमें रखकर महाप्रभुजीने भी अपने सिद्धान्त तीन पहलूमें प्रस्तुत किये हैं. सबसे पहले मति. मतिकेलिये महाप्रभुजीने सिद्धान्त प्रकट किया शुद्धाद्वैतवाद = ब्रह्मवाद. ब्रह्मवादका सीधा और सरल मतलब यह है कि "सर्वं खलु इदं ब्रह्म." सब कुछ ब्रह्म है. दुनिया भी ब्रह्म है, ब्रह्मसे अलग नहीं. जैसे सोना और सोनेसे बना हुआ गहना दो चीज नहीं है ; सोना ही गहना बन जाता है. इस तरह जगदीश ही जगत बन गया है. जगदीश और जगत, ब्रह्म और आत्मा दो चीज नहीं है.

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि एक ही है तो जो कुछ दो है वो मिथ्या है. ऐसा एकताका डिब्बेबंद ख्याल महाप्रभुजीका नहीं

है. जैसे ये पंजा एक है क्योंकि आपने एक पंजेके रूपमें इसे गिना. मगर ऊंगली पाँच हैं. तो १=५ भी है और ५=१ भी है. गणित इस बातको नहीं समझा पायेगा. पर हम जानते हैं कि पंजेपे १=५ होता है. यदि ऊंगलीके बदले रेखाएँ गीनते तो? मतलब एक=अनन्त भी हो सकते हैं. उपनिषद्ने हमें यह समझाया कि "एकोहं बहु स्यां प्रजायेय. स एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. स आत्मानं द्वेधा पातयत्. पतिश्च पत्नी चाभवताम्". वह एक तत्त्व अनेक रूपमें खिल उठा है. जैसे भक्तकवि नरसिंह महेता कहते हैं "जुजवे रूपे अनन्त भासे, ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे". तो ब्रह्मका ब्रह्मके पास चलता यह कोई लटका है. एक लीला है कि एक अनेक हो गया है. महाप्रभुजी हमें समझाते हैं कि मतिमें यह बात साफ होनी चाहिये कि जो भी कुछ हो रहा है "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा, स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः" जो कुछ था, जो कुछ है, जो कुछ होगा सब ब्रह्मकी इच्छासे होगा. ऐसे मतिको आश्वस्त करो. इसलिये महाप्रभुजीके सिद्धान्तमें साम्प्रदायिक स्पर्धाकी अपेक्षा नहीं है. क्योंकि सारे सम्प्रदाय भगवदिच्छासे प्रेरित हैं. कोई शैतान हो तो दूसरे सम्प्रदायकी प्रेरणा दे न!

४००-५०० वर्ष पहले पोपने कुछ पादरीयोंको आज्ञा दी कि हिन्दुस्तान जाके धर्मका प्रचार करो. बडे उत्साहसे पादरी यहाँ आये. मगर खुद ईसाके बारह शिष्योमेंसे एक *सेंट थोमस* ईसाके वक्त ही हिन्दुस्तान आ गये थे, जिनकी समाधि मद्रासमें है. उस *सेंट थोमस*ने उनसे १५०० वर्ष पहले भारतके समुद्रकिनारेपे ईसाई मतका प्रचार किया था. तो पादरी लोग यहाँ इस अहमूसे उतरे कि हम इन जंगली लोगोंको ईसाका दिव्य सन्देश देने आये हैं, मगर यहाँ तो ईसा पहलेसे मौजूद थे *सेंट थोमस*द्वारा. तो वे *नर्वस* हो गये. उन्होंने अपने बिशपको पत्र लिखे, कि आपने यहाँ हमको प्रचार करने भेजा है पर हमसे पहले ही कोई शैतान आके यहाँ ईसाई मतका प्रचार कर गया है! पर बादमें पता चला कि वह शैतान नहीं, पर *सेंट थोमस* था.

तो आदमी जब अहंकार करता है कि किसीको मैं परिवर्तित करूंगा तब कोई शैतान प्रचार कर जाता है. मगर जब अहंकार नहीं

है, जब हम मानते हैं कि भगवान एक है, तो जो भी धर्म प्रचारित हुआ है वो भगवदिच्छासे प्रचारित हुआ है. सवाल यह है कि आपको किस धर्मका अनुसरण करना है. जब भगवान पाण्डवोंका सन्देश लेके दुर्योधनके पास गये तो दुर्योधनने कहा "बांध लो इसे, बहुत बातें बना रहा है". तो भगवानने कहा "चल बांध ले मुझे." और उस महलमें जितने खंभ थे सबके समीप खडे हो गये और उपर नीचे खडे हो गये. और कहा "चल बांध, कितने रूपको बांध सकता है?" इतनी तो जंजीरे नहीं जितने भगवानके रूप हैं. इतनी तो मनुष्यकी शक्ति नहीं जितने धर्मोंकी भगवानने प्रेरणा दी. सवाल सब रूपको बांधनेका नहीं है, सवाल है कि आप किस रूपको पकड सकते हैं. अर्जुनके सामने भगवानने सहस्रमुख सहस्रहस्त प्रगट किये थे. अर्जुनने कहा "तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते." मुझे फिर उसी रूपमें दिखलाई दो जिसे मै पकड सकूँ. हजार हाथवालेको दो हाथवाला नहीं पकड सकता ; दो हाथवाला दो हाथको ही पकड सकता है.

ग्रीसमें *झेनोफेन* करके दार्शनिक हुए. ग्रीक लोगोंका धर्म भी अपने जैसा समृद्ध था और वे सुन्दर-सुन्दर मूर्तियोंका पूजन करते थे. *झेनोफेन* उसमें बुद्धिवादी पैदा हुए. तो उन्होंने मजाक की, कि मनुष्यने भगवानकी मूर्ति मनुष्य जैसी इसलिये बनाई कि उसे मूर्ति बनानी आती थी, और घोडा यदि भगवानकी मूर्ति बनाता तो घोडेके जैसी बनाता! इस बातको सोच-सोचके कोई लोग हिन्दुस्तानमें मूर्तिपूजाका खण्डन करने लगे. मगर हिन्दुस्तानकी गंभीरताको वो लोग समझते नहीं. हिन्दुस्तानमें भगवानका घोडारूप भी है हयग्रीवके रूपमें. शेररूप भी है नरसिंहके रूपमें. मछली रूप भी है मत्स्यावतारमें. कछुआ रूप भी है, मनुष्यरूप भी है. हमने सब रूप भगवानके माने हैं, क्योंकि "सर्वं खलु इदं ब्रह्म". जितने रूप हैं वो सारे भगवानके रूप हैं इस आश्वासनको अपने अनेक अवतारोंसे भगवानने हमें पुष्ट कर दिखाया है. *झेनोफेन* हमें नहीं डरा सकता. घोडा क्या भगवानका घोडारूप बनायेगा? हमने मनुष्य होते हुए भी भगवान हयग्रीवकी मूर्ति बनाई है, गणेशजीकी हाथीकी सूंडवाली मूर्ति बनाई है. हम सब रूप बना सकते हैं क्योंकि हमने सब रूपोंमें भगवानको चाहा है क्योंकि भगवान सर्वरूपमय हैं. हम ऐसा नहीं मानते कि वो

सातवें आसमानपे स्थित दिव्यशक्ति है जिसका वर्णन नहीं हो सकता. हम तो कहते हैं कि शालिग्रामके रूपमें भगवान पथ्थर है, भगवान मूर्ति है, भगवान धातु है, सब हैं. क्योंकि "सर्वं खलु इदं ब्रह्म".

मगर सवाल यह है कि आपको किसी एक रूपका चयन करना है; सब रूपमें आप चयन नहीं कर सकते, वो आपकी सीमा है. मनुष्यकी कृति, मति, रतिशक्ति इतनी नहीं है कि सारे रूपोंको स्वीकार करनेके बावजूद उन्हें अपना सके. जैसे मैं आपको कह रहा हूँ कि आप भगवान हैं, पर अगर आप मुझसे झघडने लग जाओगे तो मैं नहीं मान पाऊंगा कि आप भगवान हैं.

एक स्वामीजीने सन्न्यास लेके मठ बनाया. मठमें काफी चेले जुट गये. तो मठका खर्च चलानेकेलिये किसीने उनको खेत भेट किये, कि जो लगानकी आमदनी आये उससे खर्च चलाना. अब सन्न्यासका नियम होता है कि किसीको मारा-पीटा नहीं जा सकता, अभयव्रत लेना पडता है. किसानोंको ये पता चल गया कि स्वामीजी कुछ कर नहीं सकते. तो किसानोंने लगान देना बंद कर दिया. तो मठमें घाटा होने लगा. स्वामीजीने दाताके सामने यह समस्या रखी. दाताने कहा "आप दण्ड नहीं दे सकते पर ब्रह्मज्ञान तो दे सकते हो न?" उन्होंने कहा "दे सकता हूँ." तो बोले "एक लकडेकी गुरुपादुका बनाओ जिससे पीटनेसे ब्रह्मज्ञान मिले. जो किसान लगान न दे उसे पचास ब्रह्मज्ञान दो." स्वामीजीने देना शुरु किया और सब समझ गये कि लगान न दो तो ब्रह्मज्ञान मिलेगा!

तो हम मान लें कि जगत मिथ्या है, पर उस मिथ्या जगतमें मिथ्या मठ चलानेको ब्रह्मज्ञान तो देना ही पडेगा न! किसान लगान न दे तो ब्रह्मज्ञान बिना तो काम चलेगा नहीं. जगतकी अपनी सीमा है, सिद्धान्तकी सीमा है. मनुष्य जो कुछ समझ लेता है वो सब कुछ कर नहीं पाता. व्यवहारकी अपनी सीमा है, स्नेहकी अपनी सीमा है. उन सीमाओंको ध्यानमें रखते हुए शास्त्रोंने कृतिके पहलूको उद्देश्य बनाके एक उपदेश बताया है. भगवान् गीतामें कहते हैं "तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितम्, ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इहार्हसि".

वैसे ये बात ठीक है कि "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा

हुतम्, ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना." एक बार एक शास्त्रीजीके घरमें श्राद्ध था. उन्होंने पत्नीसे कहा कि तुम खीर बनाओ, मैं ब्राह्मणोंको आमन्त्रित करने जाता हूँ. खीर बनी तो सुगन्ध आई तो पत्नीने सोचा थोडी खीर चख लूँ, क्योंकि अन्तमें खीर भी ब्रह्म और मैं भी ब्रह्म और आनेवाले ब्राह्मण भी ब्रह्म, तो ब्रह्ममें तो कोई भेद है ही नहीं. शास्त्रीजी तब तक ब्राह्मणको लेके आये, तो पत्नीको खीर चखते देखा. उन्होंने कहा "ये तुमने क्या अनर्थ किया? ब्राह्मणोंको खिलानेकी खीर पहले ही चख ली?" पत्नीने कहा "शास्त्रीजी आपने तो समझाया कि ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि. मैं ब्रह्म, खीर ब्रह्म और आनेवाले ब्राह्मण भी ब्रह्म ; तो उन्होंने पहले खाई या मैंने, फर्क क्या पडता है?" अब शास्त्रीजी सोचमें पडे कि सब जगह ब्रह्म प्रगट हो गया कि चक्कर क्या है? तो उन्होंने खीर पकानेकी जलती लकडी लेके पत्नीको छुआई. पत्नीने कहा "ऐसा मत करो, मैं जल रही हूँ!". शास्त्रीजीने कहा "ये भी ब्रह्म और तुम भी ब्रह्म. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः!"

सब ब्रह्म है कहना तो सरल है, पर खीर ब्रह्मके रूपमें अच्छी लगती है, जलते लकडे नहीं लगते. यद्यपि दोनों ब्रह्म है. आदमी चतुर है. सिद्धान्त तो सब समझ जाता है पर इस्तेमाल उसीका करता है जो उसे अच्छा लगता है. खीरको या दोस्तको या दाढीवाले किसी महाराजको ब्रह्म मान लेना बहुत सरल है, पर अंगारेको या गलीमें काटने आनेवाले कुत्तेको ब्रह्म मान लेना आसान नहीं.

मतिका सिद्धान्त कृतिसे जूठ नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि मति कृतिके पीछे काम करती है. जैसे टोर्चमें जुडता बल्ब है, पर उसे जोडती है बेटरी. इस तरह कृतिका बल्ब जुडेगा हमारे शास्त्रविधानानुसारी आचरणसे. क्या करना और क्या नहीं करना इसका निर्धारण हम "सब कुछ ब्रह्म है" इस बातसे नहीं करेंगे. इसका निर्धारण हम शास्त्र मुझे क्या करनेको कह रहा है और क्या करनेकी मना कर रहा है इस बातसे करेंगे. यद्यपि उसमें शक्ति ब्रह्मवादकी बेटरीकी है. हमारी सीमित टोर्चमें मति बेटरीका काम करेंगी, प्रकाशको मार्गदर्शन देगा शास्त्रविधान. हिन्दुको गीता मार्गदर्शन देगी, मुसलमानको कुरान मार्गदर्शन देगा, ईसाईयोंको

बाईबल मार्गदर्शन देगा, हम पुष्टिमार्गीयोंको महाप्रभुजीके षोडशग्रन्थ मार्गदर्शन देंगे कि हमें क्या करना और क्या नहीं करना. तुमने जब तक राग-द्वेषको जीता नहीं है तब तक सब कुछ ब्रह्म है इससे तुम्हें क्रियाका निर्देश नहीं मिलेगा. क्रियाका निर्देश मिलेगा शास्त्रसे, और "सब कुछ ब्रह्म है" यह मति पीछे बेटरीकी तरह काम करेगी. सब कुछ ब्रह्म होते हुए भी करना मुझे वही है जो शास्त्र मुझसे करनेकी अपेक्षा रख रहा है. सब कुछ ब्रह्म है करके आप दाँई ओर गाडी नहीं चला सकते, कि दाँई और बाँई दोनों बाजुएँ ब्रह्म है. जैसे गाडी चलानेके R.T.O के नियम हैं वैसे हमें चलनेकेलिये शास्त्रके नियम हैं. तो मतिकेलिये महाप्रभुजीका सिद्धान्त है ब्रह्मवादका. कृतिकेलिये शास्त्रका "यावद् देहाभिमानं तावत् वर्णाश्रमधर्म एव स्वधर्मः."

आपको क्या करना है यह जाननेकेलिये पहले आप खुद क्या है इसे आपको समझना होगा. यदि बाप हो तो बेटेको पालना आपका कर्तव्य है, विद्यार्थी हो तो विद्याध्ययन कर्तव्य है, गृहस्थ हो तो गार्हस्थ्य चलाना आपका कर्तव्य है. यह तो वर्ण, आश्रमकी बात हुई. इसी तरह आप शैव हो तो शिवपूजा कर्तव्य है, वैष्णव हो तो विष्णुपूजा आपका कर्तव्य है, मुसलमान हो तो पांच बार नमाज पढना आपका कर्तव्य है, पुष्टिमार्गीय हो तो महाप्रभुजीद्वारा षोडशग्रन्थमें उपदिष्ट सिद्धान्तोंसे आपका कर्तव्यनिर्धारण होगा. सब कुछ ब्रह्म है इससे आपका कर्तव्य निर्धारित नहीं होगा. अथवा शैवागम, कुरान, बाईबल सबका उपदेश एकसाथ आप नहीं पाल सकोगे. अपने-अपने अभिमान और अपने-अपने शास्त्रसे अपने-अपने कर्तव्यका निर्धारण होगा. Broad minded क्या इतना होना चाहिये कि कृति out of focus हो जाय? Mind broad होना चाहिये पर कृति broad नहीं होनी चाहिये. इंजेक्शन तो डॉक्टर ही देगा, अग्निशामक दलका बंबावाला देने लग जाय तो कितना बडा इंजेक्शन दे देगा! हर आदमी हर कृति करने लग जाये तो समाज छिन्न-भिन्न हो जायेगा.

रतिका निर्धारण करते हुए श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि भगवान कृष्णसे हमारी रति होनी चाहिये. ये हमारे पुष्टिमार्गकी सीमा है. यदि कोई शैव हो तो उसकी शिवसे रति होनी चाहिये, मुसलमान हो तो

अल्लासे. ये महाप्रभुजीके मूलभूत सिद्धान्त हैं. पहले अपने आपको समझो कि आप क्या हो, फिर आपको पता चलेगा कि आपको कौनसी कृति करनी चाहिये और किससे रति करनी है. सब ब्रह्म है, पर सबसे रति नहीं हो सकती.

मेरा कोलेजका दोस्त मुझे अक्सर कहता कि सब गुजराती लडकी मणिबेन हैं. पिकनिकपे आती हैं तो साथ नाचती-कूदती नहीं, बस बैठी रहती हैं. हमसे mixup नहीं होती. मैने सोचा ये बडा broad minded आदमी है. पढाई खत्म होनेके बाद एक दिन वह अपनी शादीका निमन्त्रण देने आया. मैंने कहा "किससे ब्याह रहे हो भाई?" वो बोला "गुजराती लडकी है". मैं बोला "मणिबेनसे क्यों ब्याहता है?" वो बोला "कोलेजकी *लाईफ* तो कोलेजमें गई, गृहस्थीमें तो मणिबेन ही काम आती है"! मतलब चित और पट दोनों अपनी बना ली. गृहस्थीमें मणिबेन चाहिये और कोलेजमें मणिबेन पर गुस्सा है. मतलब रतिके आधारमें कहीं कुछ गडबड है. तो अपने आपको समझो. तुम मणिभाई हो तो तुम्हारे लिये मणिबेन ही ठीक है ; नहीं हो तो मणिबेन तुम्हारे लायक नहीं है.

तो महाप्रभुजी स्पष्ट समझाते हैं कि यदि आप पुष्टिसम्प्रदायके अनुयायी हैं तो "प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत्, पूर्णानन्दो हरिः तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम". तात्पर्य यह भी है कि "कृष्ण एव गतिर्मम" ये बात महाप्रभुजी सबको नहीं कह रहे हैं. जिसने अष्टाक्षर और ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा ली है उसे कह रहे हैं श्रीमहाप्रभुजी.

महाप्रभुजीके सिद्धान्तमें छीना-झपटी नहीं, पर अनन्यता पहली शर्त है. क्योंकि अनन्यता मनुष्यकी अपने आपकी सीमा है. प्रभु अनन्य नहीं, सर्वरूप है. पर सर्वरूप स्वीकारनेके बावजूद हम सर्वरूपके साथ प्रभुकी तरह बरत नहीं सकते. हमारी कृति, मति, रतिकी सीमाओंको पहचानते हुए प्रभुके सामने जाना चाहिये. इसलिये महाप्रभुजी कहते हैं "यद् यद् इष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः, येन स्यात् निर्वृतिः चित्ते तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्." जो आपको प्रिय लगता है, जो आपके घरमें अनायास उपलब्ध है और जिसे भगवानको समर्पित करनेमें आपके चित्तमें उल्लास आता है वो सारी चीज भगवानको समर्पित करो. प्रभुको

भोग चाहिये. आपके घरमें लड्डु-पेड़ा हो तो वो भोग धरो, चना हो तो चना धरो. वार्तामें आता है कि सिर्फ जलकी लोटी भोग धरी है. भगवानका नेग वही है जो आपके घरमें है. "असमर्पितवस्तूनां तस्मात् वर्जनमाचरेत्, निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः". यह महाप्रभुजीका मूलभूत सिद्धान्त है.

प्र. ३ श्रीमहाप्रभुजीकी दार्शनिक विचारधाराके अनुसार द्वैत और अद्वैत का स्वरूप क्या है?

उ. ३ सांख्यमतके चिन्तकोंने प्रकृति और पुरुषके संयोगसे चलते इस जगतकी रचना अंधे और पंगुके आपसी सहयोगसे चलनेके उदाहरणद्वारा समझाई है. अंधा चल सकता है पर देख नहीं सकता. चलनेके प्रयासमें ठोकर खाकर शायद गिर पडेगा. पंगुको दिखलाई देता है पर चल नहीं सकता. एक जड और दूसरा चेतन, पर दोनों परस्पर सहयोग करें तो दोनोंको ही एक-दूसरेके सामर्थ्यका लाभ मिल सकता है. कुछ ऐसा ही सम्बन्ध श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुके साकारब्रह्मवाद और पुष्टिभक्तिमें भी है. पुष्टिभक्तिमें यह शक्ति है कि इसके सहारे जीवात्मा पुष्टिमार्ग पर चलकर परमात्मा तक पहुँच सकती है. परन्तु परमात्मा है कहाँ? यदि परमात्माकी ओर कदम बढाने हैं तो परमात्माकी दिशाका बोध आवश्यक है. साकारब्रह्मवादी दृष्टि हमें दिशाबोध प्रदान करती है. यों साकारब्रह्मवाद और पुष्टिभक्ति परस्पर एकदूसरेके पूरक बन जाते हैं. साकारब्रह्मवादके बिना हमारी पुष्टिभक्ति अन्धश्रद्धामें बदल जाये ऐसी सम्भावना है. तथा पुष्टिभक्तिके बिना निरी साकारब्रह्मवादी दृष्टि हमारे पंगुविश्वासकी द्योतक होगी. अतः आवश्यकता है पुष्टिभक्तिके मार्गपर साकारब्रह्मवादी दृष्टिसे सम्पन्न होकर चलनेकी.

चलना है तो देखते हुए चलना पडेगा, पर कहीं हम देखते ही न रह जायें इसलिए चलते भी रहना चाहिये. आखिर क्या आवश्यकता है चलनेकी? क्या चले बिना रहा नहीं जा सकता? क्या कहीं रुका नहीं जा सकता है? हाँ, रुका जा सकता है, पर हमारे रुकनेसे चलनेकी क्रिया नहीं रुक जायेगी. हम पृथ्वीपर रुक सकते हैं, पर हमारे अस्तित्वको ढोनेवाली पृथ्वी निरन्तर चलती रहेगी ; और हम रुके हुए भी चल

रहे होंगे. यहाँ सब कुछ चल रहा है. जो स्थिर लगता है वह भी किसी दूसरी अपेक्षाओंमें चल रहा है, पर चल तो रहा ही है. हमारे भौतिक देहमें निरन्तर रक्तका परिभ्रमण चल रहा है. अणुमें परमाणुओंका परिभ्रमण चल रहा है. हमारे इर्दगिर्द हवा, चन्द्र, तारे सभी तो चल रहे हैं ; फिर रुका कैसे जायेगा? प्रति जन्ममें आत्मा चलकर एक देहसे दूसरे देहकी ओर जा रही है, फिर कैसे कहीं रुका जा सकता है?

कुछ आधुनिक दर्शन हमारी चेतनाकी भौतिकवादी व्याख्या करना चाहते हैं. भौतिक विज्ञान, किन्तु, भौतिक पदार्थोंकी भी ऐसी परतें निरन्तर खोल रहा है कि जो उनके अभौतिक स्वभावकी गवाही देती जा रही है. जब शरीरशास्त्र शरीरके अभौतिक चेतनाप्रयुक्त व्यवहारोंकी भौतिक-रसायनिक व्याख्या दे रहे हैं तभी स्वयं भौतिकशास्त्र भौतिक पदार्थोंके अभौतिक पक्षका संकेत दे रहा है. इसी लिये *बर्ट्रान्ड रसेल* कहते थे "What is mind? Does not matter! What is matter? Never mind!" परन्तु mind और matter के विवाद अभी तक निपट नहीं पाये.

भौतिकवाद कहता है कि आत्माकी कोई आवश्यकता नहीं ; भौतिक नियमोंके आधारपर सभी पदार्थों तथा व्यवहारों की व्याख्या सम्भव है. परन्तु आधुनिक भौतिकविज्ञान कहता है कि भौतिक द्रव्य निष्क्रिय नहीं ; स्वत: सक्रिय है. भौतिक पदार्थोंकी परस्पर क्रियाओंका प्रभाव एक-दूसरेपर पडता है. तदनुरूप प्रतिक्रिया भी उनमें प्रकट होती है. एक जड पदार्थ जब दूसरे जड पदार्थोंके प्रभावोंको ग्रहण कर तदनुरूप प्रतिक्रिया यदि व्यक्त कर सकता हो तो फिर वही तो प्रक्रिया कुछ थोडी और जटिल बनकर चेतनाके लक्षणके रूपमें प्रकट होती है. ऐसा जड फिर जड नहीं किन्तु चेतन ही है.

कुछ अभौतिकवादी चिन्तक कहते थे कि तर्कशक्ति, इच्छास्वातन्त्र्य और नैतिकविवेक जड पदार्थोंसे पृथक् आत्माके अस्तित्वके अकाट्य प्रमाण हैं. जड यन्त्र स्वयंचालित होता है पर उसमें तर्कशक्ति, इच्छास्वातन्त्र्य या नैतिकविवेक सम्भव नहीं है. परन्तु ये सारे करतब यदि कोई विकसित कोम्प्युटर कर दिखाये तो चेतनाकी क्या आवश्यकता रह जायेगी? और

चेतनाके तर्कशक्ति, इच्छास्वातन्त्र्य या नैतिकविवेककी विकासवादी = theory of evolution शरीरविज्ञान और मनोविज्ञानने आत्माकी कल्पनाके बिना ही जब सम्पूर्ण व्याख्या दे दी तो अभौतिक चेतनाके अस्तित्वकी क्या आवश्यकता रह जायेगी ?

आज भौतिकवाद (materialism) की विचारशैली और अभौतिक विज्ञानवाद (Idealism) की विचारशैली अपनी - अपनी ढपली और अपने - अपने राग ही केवल बन गई हैं. प्रकृति - पुरुष, जड - चेतन या mind-matter के द्वैत जगतकी पूर्ण व्याख्या देनेमें असमर्थ हैं. कुछ निषेधात्मक चिन्तनप्रेमी विचारक अत एव जगतके मूल तत्त्वको अभौतिक अनात्मिक (neither material nor mental) कहना अधिक पसन्द करते हैं.

विधानात्मक रुचि होनेपर मूल तत्त्वको उभयरूप जडजीवात्मक (material cum mental) भी माना जा सकता है. आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक व्यवहार जगतके मूलपदार्थके उभयात्मक होनेके प्रमाण भी माने जा सकते हैं. एक ऐसा व्यापक तत्त्व, जो भौतिक और अभौतिक दोनों तरहके रूप एवं व्यवहारों का आधार बन पाये. उस व्यापक तत्त्वको उपनिषद् ब्रह्म कहते हैं. ब्रह्म यानि व्यापक.

ब्रह्मकी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति का अनुभव जब हमें स्थूल अभिव्यक्त रूपोंमें होता है तो हमें लगता है कि सारे ब्रह्माण्डकी भौतिक नियमोंमें व्याख्या सम्भव है. हम *ऑकम*के तर्कका प्रयोग करने लग जाते हैं, कि जब केवल भौतिक जड पदार्थोंकी सत्ताको स्वीकार करके ब्रह्माण्डके सभी तरहके व्यवहारोंकी व्याख्या दी जा सकती हो तो व्यर्थ ही दूसरे किसी अभौतिक पदार्थकी कल्पना क्यों करनी चाहिये ? इसके विपरीत अभौतिक विज्ञानवादी कहते हैं कि यह तर्क यदि उचित है तो सारे जगतकी व्याख्या मनकी कल्पनाओंके रूपमें दी जा सकती है फिर व्यर्थ ही अमानसिक भौतिक पदार्थकी सत्ता क्यों स्वीकारी जाये ?

यह जगत जिस रूपमें अनुभवगोचर होता है उस रूपमें तो यहाँ सभी तरहके द्वैत दिखलाई देते हैं. बुद्धि कहती है कि जो जड है वह चेतन नहीं हो सकता. आंखें कहती है कि काला सफेद नहीं हो सकता. नाक कहती है कि सुगन्ध दुर्गन्ध नहीं हो सकती. नैतिक

बोध कहता है कि ऋत अनृत नहीं हो सकता है. धर्मबोध कहता है कि पाप पुण्य नहीं हो सकता. सौन्दर्यबोध कहता है कि कुरूप सुरूप नहीं हो सकता है. हृदय कहता है कि हमारा अप्रिय शत्रु प्रिय मित्र नहीं हो सकता है. अद्वैतवादी कहते हैं कि एक अनेक नहीं हो सकता है. मायावादी कहते हैं कि जगत सत्य नहीं हो सकता है. निराकारवादी कहता है कि परमात्मा साकार नहीं हो सकता है... परन्तु ऐसी सभी द्वैतघटित धारणाओंकी उपयोगिता केवल कामचलाऊ ही लगती है, इससे अधिक और कुछ भी नहीं.

कुछ अनात्मवादी चिन्तकोंने आत्माका अस्तित्व सिद्ध न हो जाये इसलिए आत्माके सभी गुण, व्यवहार एवं प्रभाव जड पदार्थोंमें भी मान्य कर लिये हैं. उधर कुछ आत्मवादी चिन्तकोंने आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेकी धुनमें उसे सभी तरहके गुणधर्म और विशेषताओं रहित निर्गुण, निर्धर्मक और निर्विशेष मान लिया है! कोई बेचारा भौतिकवादी ऐसी निर्गुण - निर्धर्मक - निर्विशेष आत्माके अस्तित्वका खण्डन करे तो कैसे करे! ऐसी आत्माके होने या न होनेमें किसी भी एक पक्षकी उपपत्ति या दूसरे पक्षकी अनुपपत्ति खोजी नहीं जा सकती.

ईसाईओंने परमात्माका भी रंग गोरा श्वेत माना, क्योंकि उनका ईश्वर काला नहीं हो सकता था. इस बातपर केशियस क्ले मोहम्मदअली बन गया, क्योंकि गोरा परमेश्वर कालोंके मनोभावोंको समझ नहीं पायेगा. यदि सचमुच दुर्गन्ध सुगन्ध नहीं हो सकती होती तो एक ही सेन्ट या इत्र एक व्यक्तिको अच्छा और दूसरेको बुरा कैसे लग सकता है? यदि सचमुच अनृत ऋत नहीं हो सकता होता तो अनृत अपने सभी देश - काल - परिस्थितिके उदाहरणोंमें अनृत ही रहता. शास्त्र भी देश - काल - व्यक्तिके सन्दर्भमें ही किसी कृत्यको धर्म और किसी कृत्यको अधर्मके रूपमें मान्यता प्रदान करते हैं. सभी कृत्य सभी देश-कालमें सभी व्यक्तियोंकेलिए धर्म नहीं होते. हम कुरूप और सुरूपका भेद तो करते हैं परन्तु रुचि, संस्कार या अभ्यासके अलावा आज तक कोई ठोस परिभाषा सुरूपता या कुरूपताकी दी नहीं जा सकती है. हमारी प्रशंसा हमें हमारे अप्रिय शत्रुके द्वारा की गई भी प्रिय लगती है पर हमारी निन्दा हमें हमारे प्रिय मित्रके द्वारा की गई भी अप्रिय

लगती है.

हथेली एक होती है पर ऊंगलियाँ पाँच. एकेश्वरवादी आज तक समाधान नहीं दे पाये कि सर्वसमर्थ-सर्वहितैषी सर्वकर्ता परमेश्वर और शैतान एक हैं या अनेक. ब्रह्म और मायाके बीच द्वैत है या अद्वैत. इन प्रश्नोंको या तो अनुत्तरित रखा जाता है या फिर इनके बीच अनिर्वचनीय सम्बन्ध मान लिया जाता है. कारणको निराकार मानना तो सरल है, पर कार्यमें आकार कहाँसे आया यह हम दिखला नहीं पाते. किसी ऐसे हेतुकी कल्पना कर लेते हैं जो न है और न नहीं है ; सद्-असद्विलक्षण! हमने प्रश्नको टाल दिया उसके उत्तरको खोजनेके बजाय.

परन्तु उपनिषदोंने इन द्वैतोंका समाधान एक ऐसे अद्वैतमें खोजना चाहा है कि जो एककी ही अनेकताकी घोषणा करता है. एक ही ब्रह्म अनेक नाम-रूपोंको धारण कर सकता है. एक ही परमात्मा हमसे साधुकर्म कराता है हमारी उन्नतिकेलिए. और वही हमसे बुरे कर्म भी कराता है हमारी अधोगतिकेलिए. फिर भी वह असंग, उदासीन और शुभतम ही है, क्योंकि वह व्यापक है. ऊपर नीचे आजु-बाजु सर्वत्र वही है. वह हमें नहीं ऊपर उठाता किन्तु स्वयंके अंशको ऊपर उठाता है. वह हमें नहीं नीचे गिराता पर स्वयंके अंशको नीचे गिराता है. जहाँसे ऊपर उठाता है और जहाँ तक ऊपर उठाता है वह दोनों जगह वह है. जहाँसे नीचे गिराता है और जहाँ तक नीचे गिराता है वह दोनों जगह वह है. वह निराकार है और सर्वाकार भी है. वह अणुसे अणुतर है और व्यापकसे व्यापकतर भी. अत एव श्रीमहाप्रभु कहते हैं "ब्रह्म अणु होनेपर भी व्यापक है. कृष्ण माँ यशोदाकी गोदमें बैठा हुआ ही समुचे ब्रह्माण्डका आधार है!"

श्रीमहाप्रभु इसे विरुद्धधर्माश्रयता कहते हैं और श्रीशंकराचार्य विरुद्धधर्मसमवायिता. बृहदारण्यकोपनिषद्के भाष्यमें श्रीशंकराचार्य इसे बहुत प्रभावशाली शब्दोंमें प्रतिपादित करते हैं "मेरे ब्रह्मदुर्गमें तार्किक राजाकी चापलूसी करनेवाले भाडूती सैनिकों जैसे विचारक प्रविष्ट नहीं हो पायेंगे. अतः यहाँ तो निर्भय होकर रहा जा सकता है. जिनपर शास्त्र एवं गुरुकी कृपा न हो ऐसे लोग भी यहाँ बस नहीं पायेंगे. क्योंकि यह

ब्रह्म चल है और अचल है, समीप है और दूर है. तार्किककी बुद्धिको चकरा देनेवाले ऐसे अनेक विरुद्ध गुणधर्म इस ब्रह्ममें समवेत हैं''.

जगतकी सभी दार्शनिक मान्यताएँ तत्तद्रूपोमें इसी एक ब्रह्मके अनेकविध पक्षोंका वर्णन करती हैं. कोई इसे प्रकृति कहता है, कोई परमाणु, कोई माया, कोई अदृष्ट कर्म, कोई वासना, कोई काल, कोई स्वभाव, कोई शून्य, कोई शिव, कोई शक्ति, कोई विष्णु, कोई यहोबा, कोई अल्लाह. श्रीमहाप्रभु कहते हैं ''तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्''. वही इन सभी रूपोंको कभी विचारकोंकी बुद्धिमें धारण करता है तो कभी बाहर भी. एकांगी दृष्टिकोणसे देखनेपर इनमेंसे कोई भी दार्शनिक मान्यता समग्र ब्रह्मका प्रतिपादन कर नहीं पाती हैं. अतः आपसमें इन्हें टकरानेपर ये मान्यताएँ टूट जाती हैं. पर यदि यथायोग्य इन्हें जोडकर देखा जाये तो पता चलेगा कि ये सभी मान्यताएँ ब्रह्मके एक-एक हिस्सेका चित्र प्रस्तुत कर रही हैं ''सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद्, अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च, विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम्.'' श्रीमहाप्रभु इस कारिकाकी व्याख्यामें कहते हैं ''विभिन्न दार्शनिक मतवाद भिन्न-भिन्न दार्शनिकोंके मनकी कल्पनाओंके अनुसार चाहे प्रकृतिको मूलतत्त्व मानें या परमाणुओंको, मायाको अथवा शून्यको, कालको अथवा स्वभावको ; इन प्रकृति-परमाणु-माया आदिके चित्र उनकी कल्पनाओंमें उभरते हैं ब्रह्मके एक-एक हिस्सेके चित्रके रूपमें ही. समग्र ब्रह्मके दिखलाई न देनेके कारण अन्ततः इन आंशिक चित्रोंकी सहायतासे ही मूलतत्त्वको पहचाननेका प्रयत्न करते हैं और अंशतः सफल भी हो जाते हैं.''

यह ठीक ही है कि प्रकृति परमाणु नहीं हो सकती, परमाणु माया नहीं हो सकते, सत् असत् और सद्-असद्से विलक्षण माया चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य नहीं हो सकती, निष्क्रिय शून्य सक्रिय काल नहीं हो सकता और ये परस्पर विरुद्ध मत सत्य नहीं हो सकते. ब्रह्म परन्तु सब कुछ हो सकता है— प्रकृति, परमाणु, माया, शून्य, काल, कर्म, स्वभाव, पुरुष इत्यादि. अतः कोई भी दार्शनिक स्थापना अप्रामाणिक नहीं किन्तु अपूर्ण है. मान्यता तो मनके दुराग्रहों और पूर्वाग्रहों से घिरी रहती है अतः मिथ्या हो सकती है ; पर वाणी तो उस अनन्तमूर्ति ब्रह्मकी एक-एक मूर्तियोंका ही वर्णन कर रही है. अतः

बात सभी की ठीक है पर मान्यतामें गडबडी हो जाती है.

कुछ तर्कशास्त्री कहते हैं कि माना तो कुछ भी जा सकता है पर वाणीसे व्यक्त करने जाओगे तो व्याकरण और तर्कशास्त्र के नियम लागू हो जायेंगें. श्रीमहाप्रभु किन्तु कहते हैं कि मान्यता पूर्वग्रहोंसे जकडी हुई होती है अत: अप्रामाणिक भी हो सकती है, पर वाणीसे उसे व्यक्त करने जाओगे तो सत्यके ही किसी न किसी पहलूको उसे उजागर करती हुई पाओगे! वाग्देवता कभी मिथ्या नहीं हो सकते. अत: सभी वादोंके विवादसे ऊपर होनेपर भी ब्रह्म वाग्देवताके अनुरोधपर सभी वादोंके स्तर पर उतर आता है.

ब्रह्म एकमेवाद्वितीय है, पर यह अद्वैत किसी जड पदार्थका अद्वैत नहीं है कि वह परमसत्ता अपने आपको ज्ञान और ज्ञेयके द्वैतमें विभक्त न कर पाये. हाँ, ब्रह्म निष्क्रिय है, परन्तु इस अर्थमें कि उसमें प्रकट होती क्रियाओंका कर्म स्वयं उसके अलावा अन्य कोई हो नहीं सकता. कुरान कहती है "लम् यलिद व लम् यूलद" न वह किसीका बेटा है और न उसका कोई बेटा है. हमारे यहाँ भी तो कहा गया है "न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते" न वह किसीका कार्य है और न उसका कोई कार्य है. बात तो पतेकी कही है वेदने भी और कुरानने भी, पर अर्थ उसका समझना पडेगा. ब्रह्मका ब्रह्मसे भिन्न न कोई कारण है और न कार्य ही. ब्रह्म परन्तु स्वयं कार्य और कारण नहीं बन पाये या बाप और बेटा नहीं बन पाये इतना असमर्थ नहीं है.

द्वैत और अद्वैत के विवाद हमारे पूर्वग्रह और सीमित दृष्टिकोणसे उभरती विवक्षाके कारण चलते रहते हैं. जब हम एक राष्ट्रके रूपमें अपना वर्णन करना चाहते हैं तो हमारी अद्वैतविवक्षा होती है और हम भारतके रूपमें एक राष्ट्र बन जाते हैं. और यही एकत्व जनसंख्याकी विवक्षा होनेपर साठ करोड भी बन सकता है. एक और दो, या सचाईसे कहें तो शून्यकी संख्या भी परस्पर सापेक्ष धारणाएँ हैं. बर्फ जमनेके तापमानको हमने शून्य मान लिया तो अधिक ठंड पडनेपर कहना पडता है "शून्यसे तीन डीग्री नीचे!" क्या कह रहे हो? शून्यके बाद संख्या कैसी? यहाँ परन्तु शून्य सौके बराबर भी हो सकता है!

और हम हैं कि एक या दो के विवादमें उलझे हुए हैं. अद्वैतका खण्डन करनेपर द्वैत भी खण्डित हो जायेगा और द्वैतका खण्डन करनेपर अद्वैत भी. शून्यके भी अस्तित्वको इन्कारनेपर एक नहीं मिलेगा तो दो-तीनकी तो बात ही क्या? परन्तु पूर्वग्रहसे ग्रस्त धारणा द्वैत और अद्वैतकी बिल्लियोंके विवादमें बहुधा शून्यके बन्दरको न्यायका निकष मान लेती है.

परमात्मा वस्तुतः एकमेवाद्वितीयं तत्त्व है जब हमारी विवक्षाका विषय ब्रह्म होता है. और परमात्मा वस्तुतः सर्वं खलु इदं है जब हमारी विवक्षाके विषय उसके अनन्त नाम-रूप होते हैं. उपनिषदोंमें अत एव ब्रह्मको सच्चिदानन्द कहा गया है. वह है, और एक बीमार बेहोश व्यक्तिकी तरह नहीं किन्तु अपने होनेके पूरे होशके साथ है. अतः वह न केवल सत् है अपितु चित् भी है. न उसकी सत्तामें कोई न्यूनता या सीमा है और न उसकी चेतनामें ही. देश काल द्रव्यके परिच्छेदोंसे रहित उसकी असीम सत्ता और चेतनामें कहीं कोई विसंवाद (Disharmony) नहीं है. विभिन्न स्वर उस असीम ध्रुवपदमें अस्थाई, अन्तरा, संचारी और आभोग बन जाते हैं. देश काल द्रव्य उसकी सत्ताके ही तीन पहलू हैं, उससे स्वतन्त्र नहीं हैं. द्रव्य (matter) ब्रह्मसे भिन्न नहीं है किन्तु ब्रह्मकी सत्ताका ही एक अन्यतम रूप है. काल (time) भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं किन्तु ब्रह्मके क्रियाशील होनेकी चेष्टा है. देश (space) को श्रीमहाप्रभु द्रव्यके ही अन्तर्गत गिनते हैं, स्वतन्त्रतया नहीं. ये द्रव्य और काल जैसे सदंश हैं वैसे ही कर्म (kinetic energy) और स्वभाव (potential energy) भी ब्रह्मकी ही सत्ताके अदृश्य रूप हैं. इन्हीं कर्म और स्वभाव के कारण कालमें द्रव्य स्थितिशील या गतिशील होता है. यों ब्रह्मकी सत्ताके चार भौतिक पक्ष है— १. द्रव्य, २. काल, ३. कर्म, ४. स्वभाव.

इन चारोंका तन्त्र जडयन्त्रकी तरह स्वयंचालित नहीं किन्तु सत् चित् आनन्द ब्रह्मके चिदंश - चेतना द्वारा चालित होता है. वह चेतना सदंशमें छिपी हुई रहती है. अतः बाहरसे देखनेपर लगता है कि द्रव्य - काल - कर्म - स्वभाव स्वयंचालित हैं. पर परमात्मा इन्हें बाहरसे नहीं पर अन्दरसे चालित करता है. अत एव उपनिषद् कहते हैं "यः सर्वेषु

भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरो यमयति. यं सर्वाणि भूतानि न वेद. एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृत" जो सभी भौतिक पदार्थोंमें स्थित है, जो सभीके भीतर है, जिसे कोई भौतिक पदार्थ जान नहीं पाता, सभी भौतिक पदार्थ जिसके शरीरकी तरह हैं, जो सभी भौतिक पदार्थोंका नियमन उनके भीतर रहकर करता है, वही आत्मा तुम्हारी भी अन्तर्यामी अमृत है. जो ब्रह्मकी चेतना भौतिक पदार्थोंके स्वयंचालित होनेका भान पैदा करती है वही ब्रह्मचेतना हमारे भीतर भी आंशिक रूपमें विद्यमान है. पर तथाकथित अचेतन भौतिक पदार्थोंमें वह छिपी हुई है, अतः वे जान नहीं पाते उनकी सत्ताको. आधिभौतिक पदार्थोंमें ब्रह्मकी सत्ता ही केवल प्रकट हुई है, चेतना छिपी हुई रहती है. जब कि हमारे स्वरूपमें सत्ता और चेतना दोनों ही अंशतः प्रकट हैं. अतः हमें अपने अस्तित्वका भान रहता ही है. यही अन्तर है भौतिक पदार्थ और जीवात्मामें. चला सभीको वही अंशी ब्रह्मचेतना रही है ; कहीं प्रकट होकर और कहीं छिपकर. जहाँ चेतना अपनेको छिपाती नहीं उस सत्ताके रूपको पुरुष या जीवात्मा कहा जाता है. इसी तरह द्रव्यका दूसरा नाम प्रकृति है ; चेतना जहाँ जडके भीतर छिप गई है.

यह काल - कर्म - स्वभाव - प्रकृति - पुरुषका तन्त्र सच्चिदानन्द परमात्माकी चेतनाद्वारा चालित है स्वयं निजके आनन्दकी उपलब्धिकी ओर. अत एव उपनिषद् कहता है— "ये सभी जड-चेतनरूप उस आनन्दमेंसे प्रकट हुए हैं, आनन्दमें स्थित हैं और पुनः आनन्दमें ही लीन हो जायेंगे. उस आनन्दको पहचानो, वह आनन्द ब्रह्म है.

ब्रह्म जब अपनी सत्ताकी अनेक सम्भावनाओं (potential forms) के प्रति स्वयं निजकी चेतनामें सचेत होता है तो वे सम्भावित रूप सत्तामें घनीभावकी प्रक्रियाद्वारा साकार बन जाते हैं. इसी तरह आनन्दकी विभिन्न सम्भावनाओंके प्रति सचेत होनेपर आनन्दांशमें भी घनीभावकी प्रक्रियाके द्वारा आकार उभरने लगते हैं. घनीभूत साकार सत्ता यह क्षर जगत है और घनीभूत साकार आनन्द क्षराक्षरातीत पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं. चेतना जो इन क्षर एवं पुरुषोत्तमके रूपोंके प्रति सचेत होती है वह अक्षरब्रह्म या अक्षरपुरुष कहलाती है. हमारी जीवचेतना भी इस अक्षरपुरुषकी आंशिक अभिव्यक्ति होनेके कारण पुरुष कहलाती है. चेतनामें घनीभाव

नहीं होता अत एव अक्षरब्रह्म और उसकी अंशभूत जीवात्मा निराकार माने जाते हैं. हमारा पांचभौतिक देह सत् है, इस देहके भीतर हमारी आत्मचेतना सच्चित् है और उसके भीतर छिपा हुआ परमात्मा सच्चिदानन्द अन्तर्यामी है.

जड हो या जीव, सभीके भीतर आनन्द छिपा हुआ है और सभीका नियमन भीतरसे करता है. बाहरसे देखनेपर लगता है कि जल बहता है, हवा चलती है, पेड उगता है, आग जलती है, फूल खिलते हैं और फिर मुरझा जाते हैं. पर भीतरसे वह जलको बहाता है, वह हवाको चलाता है, वह फूलोंको खिलाता है और वही मुरझाता भी है. वह अन्तर्यामी है. अत एव चीजें बाहरसे देखनेपर स्वयंचालित प्रतीत होती हैं. स्वयं जीवोंकी भी सभी तरहकी ज्ञान एवं क्रियाशक्तियोंका नियन्त्रण वही अन्तर्यामी परमात्मा भीतरसे करता है. हमें लगता है कि हम यह जानते हैं, हम यह चाहते हैं, हम यह करते हैं और हम सुखी हुए या दुःखी हुए हैं. दरअसल वह हमारे भीतर ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, कृति और सुख-दुःखकी अनुभूति पैदा करता है. वही अन्तर्यामी जड-चेतन सभीका भीतरसे नियमन कर रहा है. अत एव बाहरसे देखनेपर जडमें स्वयंचालितताकी भ्रान्ति होना स्वाभाविक बात है. हमारी चेतनामें भी तो इसी तरह ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, कृति, फलानुभूतिकी स्वतन्त्रताकी भ्रांति पैदा होती ही है. क्योंकि यदि ऊंगली पकडकर कोई बाहरसे चलाये तो चलनेकी क्रियामें पराधीनता लगेगी. वह तो अन्दरसे हमें चला रहा है. फिर चलनेमें हमें अपनी स्वतन्त्रताका अनुभव क्यों न हो?

श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "इदं तत्त्वं न नाना किन्तु सर्वेषाम् एकमेव तत्त्वम्. तत्र सर्वं पञ्चाङ्गम्. तेषां पञ्चानां (काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषाणां) यदि भगवानेव तत्त्वं तदा तत्कार्याणां सुतरां तदेव तत्त्वं भवति." यह तत्त्व नाना नहीं है किन्तु नाना रूपोंमें यही एक तत्त्व है. काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषके नानात्वको यदि एक भगवानके ही पाँच रूपोंमें परखा जा सके तो फिर इनके जो कार्य होंगें उन्हें- भी उस परमतत्त्वके विभिन्न रूपतया पहचानना सरल हो जायेगा.

सत् और चित् के इन अनेक नाम-रूपोंका विकास ब्रह्ममें किसी

बाहरी माया जैसे तत्त्वोंके दबाव या प्रभाव वश नहीं होता है. नाम-रूपोंका यह विलास ब्रह्मके निजस्वभावके आन्तरिक दबावसे ही होता है. और ब्रह्मके इस निजस्वभावको ही आनन्द कहा जाता है. इस आनन्दमय स्वभावको कभी आत्मरति तो कभी आत्मक्रीडा, कभी आत्ममिथुन तो कभी भूमासुख, कभी आत्मकाम तो कभी आप्तकाम और कभी अनन्त तो कभी मोद-प्रमोद भी कहा जाता है. इस आनन्दके सागरमें ही नाम-रूप, ज्ञाता-ज्ञेय, कार्य-कारण, रति-विरति, शान्ति-श्रान्ति, आकार-निराकारके ज्वार-भाटे आते रहते हैं. इन द्वैतोंकी लहरें उठती हैं इसी आनन्द-अद्वैतके सागरमें. अनेकविध द्वैतकी लहरोंमें लहराता हुआ आनन्दके अद्वैतका सागर है परमात्मा. श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि यह आनन्दका स्वभाव ही है कि सारे विरुद्धधर्म वहाँ आश्रय पाते हैं. अत एव ऋग्वेदमें कहा गया है— "सर्वे होतारो यत्रैकनीडं भवन्ति।"

ब्रह्मसे सृष्टिकी बात सुनकर कुछ दार्शनिक अधीर हो जाते हैं. वे आक्षेप करने लग जाते हैं कि यदि सृष्टि निष्प्रयोजन बनाई गई है तो ब्रह्मको बुद्धिमान नहीं माना जा सकता! और यदि किसी प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये ब्रह्मने ब्रह्माण्डकी रचना की तो ब्रह्मको अपूर्ण मानना पडेगा! यदि सृष्टिके रूपमें ब्रह्म स्वयं परिणत हुआ है तो वह विकृत हो जायेगा! अन्यथा ब्रह्मके अलावा सृष्टिके दूसरे उपादानकारणकी कल्पना की तो ब्रह्मका अद्वैत खण्डित हो जायेगा!

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि सृष्टिकी उत्पत्तिके विचारमें उसकी सप्रयोजनता या निष्प्रयोजनता का विचार अप्रासंगिक है. सृष्टि ब्रह्मकी एक क्रीडा है, लीला है. लीला न तो किसी प्रयोजनवशात् की जा सकती है और न निष्प्रयोजन ही. जैसे तादात्म्यके सम्बन्धमें (सुवर्णकुण्डल = सुवर्ण या ३ = १+२ में) न तो पूर्णतया भेद ही माना जाता है और न अभेद ही. यदि पूर्ण अभेद मानते हैं तो सम्बन्ध खत्म हो जायेगा, क्योंकि सम्बन्ध किन्हीं दोके बीचमें ही होता है. यदि पूर्णतया भिन्न माना जाये तो तादात्म्य कैसा? अत: "तादात्म्य किन्हीं दो भिन्न चीजोंके बीच होता है या फिर किसी एक ही वस्तुका वह स्वरूप है?" ऐसे अयुक्त प्रश्न पूछकर तादात्म्यको ठुकराया नहीं जा सकता है. जैसे श्यामवर्णकी श्वेत अथवा अश्वेतमें हम पूर्ण व्याख्या दे नहीं पाते. क्योंकि

श्वेत वह होता नहीं है और अश्वेत तो हरे नीले आदि अनेक रंग हैं जो श्वेत नहीं है. इसी तरह लीलाको सप्रयोजन कृति नहीं मानी जा सकती और न निष्प्रयोजन कहनेसे ही लीलाका पूर्ण स्वरूप हृद्गत हो पायेगा. पेशेवर खिलाडी धन कमानेकेलिए खेलते हैं करके शौकिया खिलाडीका हम उपहास नहीं कर सकते. हम उसे यह नहीं कह सकते कि यदि वह धन कमानेकेलिये न सही तो धन खोनेकेलिए ही खेलता है. सृष्टिक्रीडाको भी ब्रह्मके शौककी तरह ही समझना चाहिये. क्रीडा अपने आपमें प्रयोजन होती है ; हम क्रीडाका प्रयोजन पूछ नहीं सकते हैं.

लोहेके बरतन बन जानेपर भी लोहा लोहा ही रहता है. इसी तरह जड-जीव रूप धारण करनेपर भी ब्रह्म ब्रह्म ही रहता है, विकृत नहीं होता. प्रश्न उठ सकता है कि अखण्ड चैतन्यरूप ब्रह्म जड कैसे बन सकता है और अखण्ड आनन्दरूप ब्रह्म सुख-दुःख-मोहग्रस्त जीव कैसे बन सकता है? श्रीमहाप्रभुका कहना है कि जडका चेतनाहीन होना केवल बाहरी रूप है ; भीतर प्रत्येक जड पदार्थोंके भी चेतना विद्यमान है. इसी तरह सचेतन जीवका सुख-दुःख-मोह आदिसे ग्रस्त होना उसके चैतन्यमण्डलकी परिधिमें पैदा होती अनुभूतियाँ हैं ; केन्द्रमें तो प्रत्येक चेतनाके एक अव्यक्त आनन्द छिपा हुआ रहता ही है. ''को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्!''

जैसे ध्रुवप्रदेशोंके समीप सागरमें हिमशिलाएँ तैरती दिखलाई देती हैं. सागरकी उपरी सतहपर वे सागरका हिस्सा होनेपर भी सागरसे पृथक् प्रतीत होती हैं. पर उनकी बर्फकी परतमें छेद करके देखा जाये तो भीतर सागरका जल मिलता है. इसी तरह व्यापक अक्षरब्रह्ममें जड और जीवात्मा हिमशिलाकी तरह प्रकट हो जाते हैं. ये अक्षरब्रह्मके सागरमें अक्षरब्रह्मसे प्रकट हुए अक्षरब्रह्मके अंशरूप अक्षरब्रह्मात्मक हिमशिलाएँ जैसे हैं. असीम अक्षरब्रह्मके सागरमें जमते और पिघलते इन असंख्य ब्रह्माण्डोंके हिमानी द्वीपोंको उससे न तो भिन्न और न अभिन्न ही माना जा सकता है. इनके जमनेसे न तो सागरमें कोई वृद्धि होती है और न पिघलनेसे विनाश ही. हिमका रूप ऐसा नहीं होता कि उसे जमा हुआ जल माननेमें कोई अडचन आये. और न पिघल जानेपर

उसे शेष सागरसे पृथक् ही किया जा सकता है. जमनेकी प्रक्रियामें जल कारण लगेगा और हिम कार्य, पिघलनेकी प्रक्रियामें हिम कारण लगेगा और जल कार्य! अब कौन किसका कारण है सचमुच? दोनोंमें परस्पर तादात्म्य है. दोनों है ; दोनों ही एक-दूसरेके कभी कार्य बनते हैं और कभी कारण. फिर भी दोनों न तो सर्वथा भिन्न हैं और न सर्वथा अभिन्न ही.

जब किसी वस्तु या घटनाका वाणीसे हम वर्णन करते हैं तो अर्धनारीश्वर शिव-पार्वतीकी तरह वाणी और अर्थ परस्पर आलिंगनबद्ध हो जाते हैं. पर कभी वाणीसे वाणीके बारेमें जब हम कुछ अभिव्यक्त करना चाहते हैं तो बडी अटपटी स्थिति पैदा हो जाती है. लिखकर व्यक्त करना हो तो एक उपाय हमने खोज लिया है. (१) रामायणमें रामकी लीलाका वर्णन है. (२) 'रामायण' = रामकी लीलाका वर्णन. १ में रामायण शब्द ग्रन्थवाची है, २ में 'रामायण' शब्द रा-मा-य-ण ध्वनियोंके समूहसे बननेवाले 'रामायण' शब्दका स्वयं स्ववाची बन जाता है. लिखकर व्यक्त करनेमें समस्या उद्धरणचिह्नसे हल हो गई, कि शब्द स्वयं स्ववाची बन गया. पर कभी वाणी स्वयं "अनृतं वै वाग् वदति" कहे तो क्या अर्थ समझना चाहिये? यह विधान स्वयं सत्य है या असत्य? यदि इसे सत्य माना जाये तो सिद्ध नहीं होगा कि वाणी जो कुछ कहती है वह अनृत होता है, क्योंकि स्वयं यह वाणी सत्यका निरूपण कर रही है. अतः यह विधान गलत सिद्ध हो जाता है! फलतः इसे असत्यका निरूपक माना जाये तो सिद्ध होगा कि वाणी सत्यका निरूपण करती है. ऐसी स्थितिमें यह पुनः गलत सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि इसमें तो कहा गया है कि वाणी असत्यका निरूपण करती है!

वाणीसे वाणीके निरूपणमें ऐसी गडबडी पैदा हो जाती है. उपनिषद् कहता है— "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्? विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्!" वैसे ही जिस वाणीसे सभी वस्तुओंका निरूपण करते हैं उस वाणीका किस वाणीसे निरूपण किया जा सकता है?

इसी तरह "स्वयं आनन्दरूप परमात्माका सृष्टि रचनेका क्या प्रयोजन था?" यह पूछना प्रयोजनके प्रयोजनकी जिज्ञासा है. जो परमात्माका

आनन्द सृष्टिके समस्त क्रियाकलायोंका प्रयोजन है ऐसे परमात्माका सृष्टि बनानेमें क्या प्रयोजन था यह क्या कोई प्रश्न है? जिस आनन्दोपलब्धिके प्रयोजनसे प्राणी जीता है, संघर्ष करता है, जीतता हो या हारता हो पर जीना चाहता है ; यदि मरता भी है तो इसी आनन्दको और अधिक उपलब्ध करनेकेलिए, उस आनन्दने यदि सृष्टि बनाई तो हम कैसे पूछ सकते हैं कि प्रयोजन क्या था! प्रयोजनका प्रयोजन किस प्रयोजनसे पूछा जाता है?

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥" ब्रह्म पूर्ण है, पूर्ण आनन्दरूप है. अपने इस पूर्ण आनन्दके स्वभावके प्रति उसका सजग होना ही सृष्टिक्रमका सूत्रपात है. स्वयं अपने पूर्ण आनन्दके अनुभवकेलिए वह अपूर्ण जैसे रूप धारण कर लेता है, जडमें चिदंशको तिरोहित करके तथा जीवमें आनन्दांशको तिरोहित करके. वह एक रूपवती स्त्रीकी तरह अपने आनन्दांशके सौन्दर्यका प्रतिबिम्ब निजके सदंश जडके दर्पणमें निहारना चाहता है. क्यों? क्या रूपको निहारनेसे रूप बढ जाता है? नहीं! क्या रूपको न निहारे तो रूप घट जायेगा? नहीं! फिर भी रूपको नयनोंसे निहारना पडता है. नयन रूप चाहते हैं और रूप नयन!

प्र. ४ उपनिषदोंमें वर्णित ब्रह्म और पुराणोंमें वर्णित भगवान क्या एक ही हैं?

उ. ४ एक-दो बातका स्पष्टीकरण प्रारम्भमें ही अच्छी तरह समझ लें. आचार्यचरण निबन्धमें आज्ञा करते हैं "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।" ब्रह्म, परमात्मा और भगवान ऐसे तीन प्रकारसे आचार्यचरणने निबन्धके तीन– शास्त्रार्थ, सर्वनिर्णय और भागवतार्थ– प्रकरणोंमें विवेचन किया है. उपनिषद्, स्मृति (गीता) और भागवत इनमें उपनिषद् ब्रह्मका, स्मृति परमात्माका और भागवत भगवानका निरूपण करते हैं. भगवतः इदम् भागवतम्।

ब्रह्म एक निरपेक्ष प्रत्यय है ; ब्रह्मका दूसरी चीजके- माध्यमसे निरूपण करनेकी आवश्यकता नहीं. परमात्मामें थोडी सापेक्षता आ जाती है, क्योंकि आत्मा और परम आत्मा. आत्माकी परिभाषा "अतति व्याप्नोति"

करनेमें आई है. आचार्यचरण "तमु कान्तौ" से 'आत्मा' शब्द बताते हैं— आसमन्तात् कान्त इति आत्मा। परम आत्मा=परमात्मा. इसलिये परमात्माका अर्थ परमप्रिय होता है. "नवारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" यह उपनिषद्ने बताया हुआ आत्माका रूप है. उपनिषद्में बताये हुए इस रूपका स्पष्टीकरण भागवतमें मिलता है— "अहम् आत्मात्मनां धात प्रेष्ठः सन् प्रेयसाम् अपि, अतो मयि रतिं कुर्यात् देहादिर्यत्कृते प्रियः". देहादिमें प्रियता आत्माके कारण है इतना प्रतिपादन उपनिषद्में हुआ है. पर यह प्रियता स्वयं आत्मामें निरुपाधिक है या परमात्मोपाधिक है इस बातका स्पष्टीकरण हमें पहली बार भागवतमें मिला है. मैं आत्माकी आत्मा हूँ इस अर्थमें परमात्मा हूँ. जैसे मित्रोंमें खास मित्रको हम परममित्र कहते हैं, गुरुके गुरुको परमगुरु कहते हैं, वैसे आत्मामें भी जो आत्मा हो, अर्थात् आत्मरूपसे निवास कर रहा है, उसे इस अर्थमें परमात्मा कहते हैं. इसीलिये अपने यहाँ शुद्धाद्वैतमें 'आत्मा सो परमात्मा'को सच नहीं माना जाता, 'आत्मामें परमात्मा' ये माना जाता है.

इस न्यायसे परमात्मा पहलूका निरूपण स्मृतिमें मुख्यतया है. परमतत्त्वके परमात्मा होनेके जो गुणधर्म हैं उन गुणधर्मोंका प्रतिपादन मुख्यतया गीता अधिक करती है.

ये जो परमतत्त्वके ब्रह्म होनेके गुणधर्म हैं उस अर्थमें ब्रह्म निरपेक्ष है. जिस अर्थमें ब्रह्म अधिकरणरूप है, जिस अर्थमें ब्रह्म काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषका प्रवर्तक है, जिस अर्थमें ब्रह्म कर्म आदिका फल देनेवाला है, उन सब अर्थोंमें ब्रह्मके रूपका निरूपण उपनिषद् करता है.

इस सन्दर्भमें कहें तो ब्रह्म दार्शनिक प्रत्यय है, परमात्मा धार्मिक प्रत्यय है और भगवान पौराणिक प्रत्यय है. पुराणको अंग्रेजीमें *मायथोलोजी* कहते हैं इसलिये आज उसका अर्थ बिगड गया है. उसका मूल कारण यह है कि अंग्रेजोंने यूनानियों और रोमनोंकी पौराणिक गाथाओंको मिथ्या और बेकारकी गप्प मान ली है.

एक बार पादरी *कोप्पलस्टन* और *बर्ट्रेन्ड रसेल*का "ईश्वर है या नहीं" इस विषयमें एक मजेदार शास्त्रार्थ हुआ था. *बर्ट्रेन्ड रसेल*को

उसने पूछा "ईश्वरकी सत्ताको तुम मानते हो या नहीं?" *रसेल*ने जवाब दिया "जितनी तुम ग्रीक पौराणिक देवताओंकी सत्ताको मानते हो उतनी ईश्वरकी सत्ताको मैं मानता हूँ. यदि *ग्रीक मायथोलोजीकल* देवताएँ हैं तो बाईबलका ईश्वर भी है. बोलो, *ग्रीक मायथोलोजीकल* देवताएँ हैं या नहीं?" यह सुनकर पादरी *कोप्पल्स्टन* चिड गया. उसने कहा "तुम इन दोनोंकी तुलना मत करो". तब *रसेल*ने कहा "तुम तुलना न करनेकी बात कर रहे हो. क्योंकि यूनानी संस्कृति आज कायम नहीं है इसलिये मेरी बात तुम्हें धर्मनिन्दा लगती है. पर यदि तुम प्राचीन यूनानमें होते तो तुम्हारी बात भी उतनी ही धर्मनिन्दा मानी जाती जितनी मेरी बात आज तुम्हे धर्मनिन्दा लग रही है".

यह सारी खराबी धर्मान्ध ईसाईयोंने की, जिससे *मायथोलोजी* शब्द आज पुराने गप्पके अर्थमें प्रयुक्त हो रहा है. हमारे यहाँ तथाकथित पढे-लिखे खुले दिमागवाले (Broad minded) विद्वान पुराणोंका अर्थ मिथ (myth) कर रहे हैं. पर हम ईसाईयोंके अर्थमें पुराणोंको क्यों माने? हम अपने अर्थमें भगवानको पौराणिक प्रत्यय कहते हैं.

पर यदि भगवानको दूसरे प्रत्ययोंसे पृथक् समझना हो तो किस प्रकार समझना?

जिन रूपोंमें परमतत्त्व जगतका कारण बनता है, जगतका नियामक बने और जगतका आधार बने उन सब रूपोंमें हम उसे ब्रह्म कहते हैं. ब्रह्मको नजरमें रखकर सोचेंगें तो वहाँ मनुष्यका कोई प्रश्न ही नहीं उठता. ब्रह्मकी भूमिकामें पक्षी, चींटी या मनुष्य सब समान ही हैं. क्योंकि ब्रह्मका सीधा सम्बन्ध ब्रह्माण्डसे है, मानवसे नहीं.

एक मुसलमान मित्रने हमें एक बात बताई थी, कि खुदा अपने दुःखका ईलाज क्यों नहीं करता? खुदा यदि रहीम और करीम है तो फिर मानव दुःखी क्यों है? मोहम्मद साहबने इसका जवाब दिया है कि मानव चलता है तब उसके पैरोंके नीचे आ जानेवाले चींटी, मकोडे आदि जीव मरते हैं उन्हें वह कभी भी देखता है क्या? मानव चींटी आदिको मरते हुए देखता नहीं है क्योंकि उनका अस्तित्व मानवकेलिये निरर्थक है. इसी प्रकार खुदाकी नजरमें भी मानवका अस्तित्व निरर्थक है. तुम्हारे चलनेसे चींटियाँ मर जाती है यह ऐसा सिद्ध नहीं करता

कि तुम क्रूर हो, कठोर हो. तुम्हारे हृदयमें दयालुता है, पर तुम्हारी दृष्टिसे चींटीयोंका इतना महत्त्व नहीं है कि वे तुम्हारी दयाका पात्र बने. ऐसे ही मानवका भी ब्रह्माण्डमें उतना महत्त्व नहीं कि वह, खुदाके रहीम और करीम होने पर भी, उनकी दयाका पात्र बने. इससे ईश्वर निर्दय है ऐसा नहीं है.

यह ब्रह्मकी दृष्टिसे विचार है. पर परमात्मा मानवके अस्तित्वसे इस प्रकार निरपेक्ष नहीं रह सकता. ब्रह्म निरपेक्ष हो सकता है. चींटी मर रही है तो मरने दो ; मानव अपनी मस्तीमें चला जाता है, चींटीके मरनेकी उसे फिकर नहीं. जब परमात्माकी दृष्टिसे विचार करेंगे तो एक प्रकारका व्यक्तिगत सम्बन्ध उसके साथ स्थापित हो जाता है. ब्रह्म और जगतके सम्बन्धकी कोई निश्चित दिशा नहीं है. यदि कोई दिशा है तो वह इतनी अमूर्त दिशा है कि हम उसे व्यक्त नहीं कर सकते. व्यक्त करने जायेंगे तो कुछ न कुछ घोटाला हो जायेगा.

परमात्मा और जगतके सम्बन्धकी जो दिशा है वो यह कि परमात्मा आत्माके सम्बन्धसे परमात्मा है. यह सम्बन्धकी दिशा बनते ही अपने सब धार्मिक भाव और कृतिको हम इसके सन्दर्भमें ही देखने लग जायेंगें. जब हम कुछ पाप करते हैं तो हमें यह अनुभूति होती है कि परमात्माने मेरे पापको देखा है. मुझे परमात्माको साक्षी मानकर कोई पाप नहीं करना चाहिये. हम कुछ सत्कर्म करते हैं तो हमें लगता है कि परमात्माकी प्रसन्नताकेलिये मैंने यह किया है. सत्कर्मद्वारा बहुतसे लोग लौकिक फलकी कामना करते हैं ; ऐसोंकी यह बात नहीं, पर जो उच्च कक्षाके अधिकारी हैं उनके सत्कर्म परमात्माकी प्रीतिकेलिये होते हैं. उनके सत्कर्ममें एक आह्लाद प्रगट होता है कि जिसमें परमात्माकी अनुभूति होती है. वह अनुभूति कोई व्यापक निरपेक्ष अनुभूति नहीं, पर एक वैयक्तिक अन्तर्यामी परमात्माकी होती है. यह सम्बन्धकी दिशा जीवसे परमात्मा तककी है. यों जीवके बिन्दुसे परमात्माके बिन्दु तककी रेखा बनेगी.

पर भगवानका जो सम्बन्ध है वो भगवानसे जीव तकका सम्बन्ध है. उसकी दिशा एक विलक्षण प्रकारकी है. जब परमात्मा भूतलपर अपना स्वरूप या अपनी लीला प्रकट करते हैं तब यह 'भगवान'

शब्दकी पूर्ण सार्थकता उसके अवतरित होनेमें आ जाती है. इसलिये जब तक लीलाका निरूपण न हो सके तब तक उस तत्त्वको 'भगवान' नहीं कहा जा सकता.

इस प्रकार कोई तीन तत्त्व नहीं हैं. हमारे यहाँ कोई त्रिपुटीवाद (trinity) नहीं और न ही त्रिपुटीका सिद्धान्त है. एक ही तत्त्वके तीन पहलू हैं, तत्त्व एक ही है. आचार्यचरण कह रहे हैं "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते, त्रितये त्रितयं वाच्यं क्रमेणैव मयात्र हि।" मैं इन तीन पक्षोंका तीन प्रकारसे ख्याल रखकर ही मेरी बात कहूंगा. आचार्यचरणकी बात समझनेमें जब यह तीन पक्ष हम अपनी नजरके सामने न रखें तब घोटाला हो जाता है. कोई बात आचार्यचरण ब्रह्मको ख्यालमें रखकर कहते हैं, कोई बात परमात्माको ख्यालमें रखकर कहते हैं, कोई बात भगवानको ख्यालमें रखकर कहते हैं —यह बात हमें भी ख्यालमें रखनी चाहिये. यदि उसका तालमेल हम न बैठा सकें तो पंक्तियोंका अर्थ बराबर लगेगा नहीं और अर्थमें गडबड हो जायेगी. अतः हमें हर वक्त यह बात याद रखनी होगी कि जब भी आचार्यचरणकी वाणीमेंसे या लेखनमेंसे कोई सिद्धान्त सामने आ रहा हो तब अपने मनको पूछते रहना चाहिये कि ये ब्रह्मपक्षसे कही गई बात है या परमात्मापक्षसे या फिर भगवानपक्षसे कही गई बात है?

यह एक आधारभूत नींव है. बातको साफ-साफ अपने मनमें पूछते रहेंगें तो उसका अर्थ हमें स्पष्टतया समझमें आयेगा. और फिर हर बार आचार्यचरण इतनी सावधानी नहीं रखते कि जब कुछ कहे या लिखे तब ऐसे बतायें कि मैं अब ब्रह्मके विषयमें कह रहा हूँ, या परमात्माके विषयमें कह रहा हूँ या भगवानके विषयमें कह रहा हूँ. वे तो अपनी मस्तीमें कहते हैं. प्रारम्भमें ही आपश्रीने इस बातका स्पष्टीकरण कर दिया कि मैं कहूंगा वो इन तीन पक्षोंको ख्यालमें रखकर कहूंगा. वे हमसे अपेक्षा रखते हैं कि जब हम आपश्रीकी वाणी सुनें या पढें तब मनमें सुनिश्चित करते रहें कि कब किस पक्षको लेकर क्या बात कही गई है.

उपनिषद्में ब्रह्मकी परिभाषा एक विशिष्ट प्रकारसे की गई है. वर्णन तो अनेक प्रकारसे हुए हैं ; यहाँ वर्णनकी बात नहीं. परिभाषाएँ

भी अनेक प्रकारकी दी गई हैं. इन सभी परिभाषाओंको व्यासजीने परिभाषाके रूपमें मान्यता नहीं दी. व्यासजीने जो परिभाषा मान्य की वह यह है कि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः।" और उसमें "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म" इस श्रुत्युक्तप्रकारसे ब्रह्मको परिभाषित किया. यहाँ ब्रह्मकी लीलाके तीन ही पहलू दिखाये हैं— उत्पत्ति, स्थिति और संहार.

यह उत्पत्ति-स्थिति-लयरूप ब्रह्मके तीन कार्योंकिलिये पुनः परमात्माके तीन अवतार या रूप प्रकट होते हैं —यह पौराणिक व्याख्या है. ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक-एक लीलाके एक-एक अधिष्ठाता देवता हैं. श्रुति जिस समय सम्पूर्ण जगतका निरूपण करने जाती है उस समय सभी वस्तुकी व्याख्या करते-करते वह एक अमूर्त जैसे तत्त्वकी ओर अपनी बुद्धिको ले जाती है. जबकि पुराणकी व्याख्याकी पद्धति वे सब अमूर्त अरूप तत्त्वके मूर्त पहलूओंके वर्णनकी है. पुराण सबको विशिष्ट मूर्त उदाहरणसे समझानेका प्रयत्न करता है, इसीलिये "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म"की व्याख्या पुराणोंमें तीन गुणावतारके रूपमें की गई है— ब्रह्मा, विष्णु और महेश.

श्रुतिमें जब ऐसा कहा है कि "नवारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।" तब पुराणमें एक कामदेवका निरूपण किया गया है, उसका स्वरूप समझानेमें आया है, उसकी लीलाएँ समझानेमें आई है. पुराणपर जरा भी गौर करेंगें तो समझमें आयेगा कि वहाँ सब अमूर्त तत्त्वोंका निरूपण मूर्तरूपमें करनेमें आया है. इसलिये पुराणोंकी परिभाषामें शुरुआतमें ही कहा है कि वेदार्थका और अव्यक्त ब्रह्मका उपबृंहण (अर्थात् व्याख्या) इतनी सरलतासे किया गया है कि वेदार्थ व्यक्तिके उदाहरणद्वारा समझमें आ जाता है. कोई भी सिद्धान्त अमूर्त स्वरूपमें प्रस्तुत नहीं किया गया. यदि वेदमें कोई सिद्धान्त अमूर्त अथवा रूपहीन (Abstract) स्तरपर बतानेमें आया हो तो पुराणमें उसे कोई न कोई भगवानकी लीला, अर्थात् कोई न कोई अधिष्ठाता देवताके चरित्रके रूपमें (Concrete) समझाया जाता है. तत्त्वके दोनों पहलू

हैं, जैसा कि उपनिषद्में स्वीकार किया गया है— "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपं मूर्तं चैव अमूर्तं च" ब्रह्मके दो रूप हैं, मूर्त भी और अमूर्त भी.

यह पुराणकी और वेदकी आन्तरिक संगति है, जो लोग समझ नहीं सकते इसलिये उनको उसके सब विपरीत अर्थ दिखते हैं. उनको ऐसा लगता है कि पुराणमें कोई गडबड घोटाला किया गया है, सिद्धान्तोंको तोड-मरोड दिये गये हैं. वस्तुतः तो कोई तोड-मरोड नहीं हुआ. पुराणोंका प्रवर्तन इसीलिये किया गया है कि वेदके जो अमूर्त सिद्धान्त थे उन्हें मूर्त रूपवाले पहलूके उदाहरणसे समझाया जाये. इसलिये पुराणमें ब्रह्मकी त्रिविध लीलाका अनेकविध लीलाओंके रूपमें वर्णन हुआ है. जैसे एक ब्रह्म तत्त्व अनेक नाम-रूप धारण करके सृष्टिरूपमें प्रकट हुआ है.

प्र. ५ महाप्रभुजी जगतको सत्यतया स्वीकारते हैं तो श्रुतिगीतामें "खपुष्पादि समत्वादि" इसमें जगतको मिथ्या कहा है, ऐसा क्यों?

उ. ५ यहाँ जो श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं वे किस अधिकारीको सामने रखकर कह रहे हैं ये जब तक सामने नहीं लायें तब तक इसका अर्थ हमें गडबड लगेगा. महाप्रभुजीने इस बातका खुलासा पहले ही कर दिया है. जो व्यक्ति या अधिकारी जगत सत्यका अर्थ ऐसा घटायें कि जगत सत्य है तो जैसे परमात्मा सत्य है और परमात्मा आराध्य है वैसे जगत भी सत्य होनेसे आराध्य है, तो फिर परमात्माका आराधन छोडके जगतका आराधन करो —इस प्रकार जगतकी सत्यताका उपयोग जो परमात्माके आराधनके खण्डनमें करना चाहे. तो उस अधिकारीको ऐसा कहो कि यदि तू परमात्माको भूलकर जगतको सत्य मानता है तो जगत सत्य नहीं; जगत मिथ्या है. अब वह पद्धति अपनाकर आचार्यचरणने सब अर्थ वहाँ दिया है. उसमें आप देखोगे तो विस्तारसे प्रत्येक पंक्ति दी हुई है. उसमें उत्तरोत्तर दो श्लोक हैं. पहले मायावाद लेकर उसका उत्तर दिया है पहले श्लोकमें और दूसरे श्लोकमें दूसरे कल्पमें कहा है कि मायावाद भी अपूर्ण उत्तर है; असत्वाद लेकर अर्थ दिया हुआ है. मायावाद भी झूठा अर्थ है. मायावादियोंने जगतको

सर्वथा असत् नहीं माना, सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या माना है. आचार्यचरण कहते हैं कि यदि तुम परमात्माको भूलकर और जगतको सत्य मानकर जगतको आराध्य बनाते हो तो हम अब यह कहते हैं कि जगत् खपुष्प है, तो कैसे आराधन कर सकते हैं? यह बात आचार्यचरणने वहाँ कही है.

प्र. ६ श्रीशंकराचार्यके मार्गमें और श्रीमहाप्रभुजीके मार्गमें क्या अन्तर है?
उ. ६ अपने यहाँ कोई भी आचार्यने जो मत प्रवर्तित किये वो भगवत्प्रेरणासे ही किये हैं. दूसरे धर्मोंमें उन लोगोंद्वारा यह कहा जा सकता है कि एक अल्लाह है और एक शैतान है, एक God हैं और एक satan है. अपने यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि एक भगवान है और एक शैतान है, क्योंकि हम अद्वैतवादी हैं. श्रुति कहती है "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" ब्रह्म एकमेव अद्वितीय है इसलिये दूसरी कोई चीज हो नहीं सकती. शैतान हो नहीं सकता. इसलिये कोई भी सम्प्रदाय या विचारधारा, चाहे फिर हिन्दु हो, मुसलमान हो या ईसाई हो ; अपनी प्राचीन समयसे एक धारणा चलती आई है कि हरेकमें भगवत्प्रेरणा काम कर रही है. अब यदि हरेककेलिये यह बात है तो शंकराचार्य उसमें अपवाद नहीं. और फिर श्रीशंकराचार्यजीको हम महादेवजीके अवतार मानते हैं. तो यह भी इसका सबूत है कि जो कुछ मत प्रवर्तित हुए हैं वे भगवत्प्रेरणासे प्रवर्तित हुए हैं.

भगवत्प्रेरणासे प्रवर्तित हुए इसलिये हरेक मतका अनुवर्तन करना यह भी अपना मत नहीं. आजकल ऐसा चलता है कि वाडाबंदी तोड दो, पर प्राय: ऐसा कहनेवाले कोई नये प्रकारकी वाडाबंदी खडी करते होते हैं! अपन ऐसा नहीं कहते कि हरेक मत भगवत्प्रवर्तित होनेसे हरेककेलिये अनुवर्तनीय है. अपना यह मत है कि हरेक मत उन-उन अधिकारीकेलिये अनुवर्तनीय है.

इसीलिये श्रीमहाप्रभुजीने आज्ञा की कि तीन प्रकारके जीव हैं ; "पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्-पृथक् जीवदेहक्रियाभेदैः". तो पुष्टिजीव हैं, मर्यादाजीव हैं, प्रवाहीजीव हैं. और जो जीव जिस अधिकारका है वैसे अधिकारानुसार उसकेलिये अनेक मत भगवत्प्रेरणासे प्रवर्तित हुए

हैं. जो जीव जो अधिकारका हो उसकेलिये वो मत अनुवर्तनीय है. हमें ऐसा लगता हो कि हम पुष्टिजीव हैं तो हमारे लिये पुष्टिमार्ग अनुवर्तनीय है.

एक बडी भ्रान्ति वैष्णवोंमें और हम उपदेशकोमें भी है, कि पुष्टिमार्ग विश्वधर्म है. एक बात साफ समझ लो कि ऐसा पूर्वाचार्योंने कभी भी नहीं कहा था कि पुष्टिमार्ग विश्वधर्म है. दुनियाका कोई भी मार्ग, कोई भी धर्म विश्वधर्म है ही नहीं. धर्म उसका है जो उसे पाले. जो व्यक्ति जिस धर्मका अनुसरण करता हो वो धर्म उसकेलिये है. जो व्यक्ति जिस धर्मको न पाल सकता हो वह धर्म उसकेलिये नहीं. यह बात साफ समझ लो. हमने कंठी बंधा ली पर पुष्टिमार्गका अनुसरण न करते हों तो पुष्टिमार्ग हमारेलिये नहीं है. कंठी बंधाना कोई गोलोकमें जानेकी टिकट या Reservation नहीं. पुष्टिमार्गका अनुसरण करो तो बस पुष्टिमार्ग तुम्हारे लिये है और तुम्हारे लिये ही है. और पुष्टिमार्गका अनुसरण नहीं करते हो तो कंठी बंधानेसे बहुत फर्क नहीं पड जायेगा. "धारणात् धर्मो उच्यते।" जो धारण कर सकते हो वही धर्म कहा जाता है. जो धारण न करे तो धर्म नहीं. तुम्हारी जेबमें हो वो तुम्हारा धन है, दूसरोंके करोडो रूपये तुम्हारे नहीं.

तो दो अतिवादसे बचनेकी बहुत आवश्यकता है. एक तो यह मान लेना कि अपना मत विश्वधर्म है. यह सरासर झूठ है. कोई धर्म विश्वधर्म नहीं. हरेक धर्म जो उसे अनुसरता है उसका है ; सारे विश्वका धर्म कोई एक धर्म हो नहीं सकता. इतनी तलवारें चलाकर सबको मुसलमान बनानेकी कोशिशें की, सब मुसलमान बन गये? नहीं. अभी भी ईसाई लोग कितना प्रलोभन देते हैं. हम अपने लोगोंकी देखभाल नहीं रखते इसलिये कँई लोग ईसाई हो जाते हैं. पर तो भी सब तो ईसाई नहीं हो जाते. आदिवासी बस्तीमें ऐसे भी कँई मिलेंगें जो इतने प्रलोभनके बावजूद अपना धर्म नहीं छोडते. कारण यही कि वे लोग अपने धर्मका अनुसरण कर रहे हैं तो उनका अपना धर्म है. तो विश्वधर्म कोई नहीं. साथ ही साथ हरेक मत भगवत्प्रवर्तित होनेपर भी हरेककेलिये अनुवर्तनीय नहीं. उन - उन अधिकार अनुसार वो - वो धर्म अनुवर्तनीय है.

तो शंकराचार्यजीने भी भगवत्प्रेरणासे एक मार्ग प्रवर्तित किया, और उस मार्गकी कुछ अलग ज्ञान-वैराग्यकी साधनारीति है. ज्ञान-वैराग्यकी इस रीतिमें अद्वैतके ज्ञान और साथ ही साथ वैराग्य को साधना होता है, क्योंकि शंकराचार्यके मतमें अद्वैतमें सबसे बडा बाधक तत्त्व है द्वितीय, कोई भी दूसरापन होना. जैसे मैं और माईक. एक मैं और दूसरा माईक. अब जब मैं "दूसरा माईक" ऐसा कहूँ तब मुझे मोह होगा कि माईक नहीं होगा तो मेरी आवाज तुम तक कैसे पहुँचेगी? इसलिये माईकमें मुझे ममता जगेगी. तो मेरा वैराग्य खण्डित होगा, मैं माईक छोडूंगा नहीं. और माईक न छोडूँ तब तक मुझे मेरा एकमेवाद्वितीय होनेका ज्ञान कभी सुदृढ = पक्का हो नहीं सकता. यह उनकी साधनारीतिकी भीतरकी बात.

अब ऐसी साधना हो कि मैं एक ही पारमार्थिक तत्त्व हूँ तो जो कुछ द्वितीय चीज है उसमें मेरा भाव टूटना चाहिये. भाव टूटे कैसे? क्योंकि मनुष्यका जो व्यवहार है उसमें दूसरी चीजकी जरूरत तो कदम-कदमपर पडती ही है. आदमी सन्न्यास ले ले पर भगवे वस्त्रकी तो जरूरत होगी ही न. आदमी सन्न्यास ले ले, घर छोड दे, पर आश्रमकी तो जरूरत पडेगी न. धंधा छोड दे, पर भिक्षाकी तो जरूरत पडेगी न. परिवार छोड दे, पर शिष्य और श्रोताओंकी जरूरत तो पडेगी न. यह सब जरूरतोंपर काबू कैसे पाना? तो काबू पाना हो तो एक ही उपाय है कि हर जगह वैराग्य जगना चाहिये. वैराग्य न जगे तब तक हर वस्तुमें हमें पारमार्थिकता दिखती रहती है. इसलिये श्रीशंकराचार्यजीको ऐसा कहनेकी जरूरत लगी कि जगत पारमार्थिक नहीं, मिथ्या है. तुम ऐसा सोचो कि तुम्हारे सिवा हर चीज मिथ्या है. सत्य तो केवल तुम एक ही हो, और सब मिथ्या है. "न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चः". सब मिथ्या है ऐसा सोचेंगें तो हमें वैराग्य आयेगा, वैराग्य आयेगा तो हमें आत्माके अद्वैतका भाव जगेगा. इसलिये "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।" यह विचारशैली, यह साधना प्रस्तुत करनी पडी.

पर बात बदलती नहीं. जैसे बापकी औरत कहो या माँ कहो, हकीकत दो नहीं, एक ही है. माँका मतलब बापकी औरत और बापकी

औरतका मतलब माँ. हकीकत एक होनेपर भी कहनेवालेका भाव बदल रहा है. माँको "बापकी औरत" कहोगे तो तमाचा मारेगी. और बापकी औरत न हो तो भी किसीको "माँ" कहो तो उसे बेटेका भाव आयेगा. इसलिये श्रीमहाप्रभुजीको ऐसा लगता है कि इस जगतको बापकी बीबी क्यों कहना, माँ क्यों न कहना? क्योंकि शास्त्र ऐसा कहता है कि "माता भूमिः पुत्रोहं पृथिव्याः।" यह भूमि मेरी माता है, मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ. हम ऐसा नहीं कहते कि यह पृथ्वी मिथ्या है. हम कहते हैं "विष्णुपत्नी नमस्तुभ्यं पर्वतः स्तनमण्डिते।" तू विष्णुपत्नी है. कालिदास कहता है कि पर्वत तो हमारी पृथ्वी माताके स्तन हैं जिसमेंसे दूध बहे वैसे नदियाँ बह रही हैं! श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः।" उसे कभी यमयातना नहीं होती जो यमुनाका पयःपान करता है. हम विष्णुको पिता और पृथ्वीको माताके भावसे देखते हैं. ऐसी भूमिको बापकी बीबी क्यों कहें ; माँ क्यों न कहें? माया क्यों कहें, माँ क्यों न कहें? बस बात इतनी है. वैराग्य साधना हो तो माया कहो और भक्ति साधनी हो तो माता कहो. क्या पाना है उसपर सब बातका आधार है. माता कहोगे तो तुम कह सकोगे कि "व्रज वहालुं रे वैकुण्ठ नहीं रे आवुं, त्यां नन्दनो कुंवर क्यांथी लावुं?"

घरमें हरेक प्रकारकी औलाद होती हैं, कोई माँवादी तो कोई बापवादी. किसीको माता ही पसन्द आये तो किसीको पिता ही. अपना अपना झुकाव है. माता-पिताको भी कोई संततिके प्रति स्नेहका आधिक्य होता है. तो जो ज्ञानी जीव है वो बापवादी जीव है ; उसे माता पसन्द नहीं, सिर्फ बाप ही पसन्द है. वह माँको छोडकर बापके पीछे धंदेमें जाना चाहता है, कि तू सृष्टि कैसे चलाता है, सृष्टि कैसे पैदा हुई यह मैं जानना चाहता हूँ. मैं भी तेरी तरह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान होना चाहता हूँ. कोई संतति माँवादी होती है, बापके साथ उसे नहीं जमता ; माँकी गोदमें ही बैठा रहता है. वैसे जीवोंको हम प्रवाहीजीव कहते हैं. उन्हें "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।" ऐसा ही पसन्द आता है.

पर जो भक्तजीव है वो दोनोंसे भिन्न है. वह न तो सिर्फ

बापवादी है और न ही सिर्फ माँवादी. वह माँकी गोदमें बैठकर बापको बुलानेवाला जीव है. "व्रज वहालुं रे वैकुण्ठ नहीं रे आवुं।" व्रज किन्तु इसलिये प्यारा नहीं कि व्रजभूमिपे प्यार है, पर "त्यां नन्दनो कुंवर क्यांथी लावुं?" अर्थात् माँकी गोदमें बैठकर नन्दके कुंवरको बुलाना है. हम ऐसे जीव हैं कि बाप या माँ दोमेंसे किसीको भी छोडना नहीं चाहते, हमारे लिये दोनों समान. इसलिये श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं "भगवान् एव हि फलं, स यथा आविर्भवेद् भुवि।" दोनों बातकी श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं. पुष्टिजीवका फल क्या? तो कहते हैं भगवान. पर वैकुण्ठस्थित भगवान नहीं, "स यथा आविर्भवेद् भुवि।" भगवान भूतलपर प्रकटित हो वो पुष्टिजीवकेलिये फल है, वैकुण्ठस्थित भगवान पुष्टिजीवकेलिये फल नहीं. और अपना भूतलपर होना फल नहीं है, क्योंकि यदि भगवानके साथ हम भूतलपर नहीं रहते हैं, जगतमें हम जगदीशके साथ नहीं रहते तो हम कुछ खो रहे हैं. तो जगतमें रहना है पर जगदीशको भूले बिना रहना है ऐसी हमारे हृदयकी मांग है. इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी समझाते हैं कि भगवान ही फल है, पर भूतलपर प्रकट हो उस प्रकारका. प्रभुकी सेवा हमें भूतलपर करनी है.

भागवतमें प्रभुकी दशविधलीला– सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, इशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय– मेंसे मुक्ति और आश्रयलीला बहुत कम अध्यायोंमें, जिसे हम औपचारिकता पूर्ण करनी कहे वैसे, वर्णित की है. पर दशम निरोधस्कन्ध, जिसमें भगवान कृष्ण भूतलपर प्रगटे हैं और भक्तोंके साथ प्रभुने बालभावसे, सख्यभावसे, स्वामीभावसे, प्रियतमभावसे, शिष्यभावसे, गुरुभावसे, बन्धुभावसे... जो-जो भक्तके जो-जो भाव, उन-उन भावसे प्रभुने भूतलपर जो विहरण किया है उस लीलाका भागवतकारने कितने अध्यायोंमें विस्तारसे वर्णन किया है! वो उस भावको दिखाता है कि "भगवान् एव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि।"

इसलिये श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि पुष्टिजीवको ब्रह्मसम्बन्ध लेकर अपने घरमें अपने ठाकुरजीकी सेवा करनी चाहिये. क्योंकि अपने घरमें हम ठाकुरजीकी सेवा करेंगें तो वो मजा ले पायेंगें कि "भगवान् एव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि।" फल तो जो मेरे घरमें प्रकट हो वो भगवान ही हैं. गाँवमें जिसकेलिये भटकना पडे वो भगवान

फल नहीं. जो भगवान हमारे घरमें हमारे सेव्य स्वामी बालक बनकर बिराजे वो भगवान पुष्टिजीवकेलिये फलरूप है. इसलिये श्रीमहाप्रभुजीने ब्रजकी लीला हम अपने घरमें जी सके ऐसा प्रकार गठित किया है.

श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि कुएमें कोई डूबता हो तो हम रस्सी फेंकते है कि इसे पकड ले और बच जा. पर तुम्हारा प्यारा बेटा डूबता हो तो इतनी धीरज न रखकर तुम स्वयं कुएमें कूद पडोगे उसे बचानेकेलिये. ऐसे भव या संसार कोई कूप होगा तो प्रभु उसमें कूद पडते हैं, कि तेरा संसार कूप है तो मैं भी उसमें तेरे साथ रहनेकेलिये आता हूँ. और प्रभु अपने साथ बिराजे तब संसार कूप नहीं रह जाता, वो लीलाक्षीराब्धि हो जाता है! "नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्। लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्॥" ऐसे लीलाक्षीराब्धि जगतको हम मिथ्या कहकर उससे विरक्त होंगे तो सेवा कहाँ करेंगें? प्रभुको धरी जाती पुष्पमालाको, भोगको, सिंहासनादिको मिथ्या कहेंगे, उससे वैराग्य साधेंगें तो सेवा कैसे करेंगें? प्रभुको रीझायेंगें कैसे? और रीझायेंगें नहीं तो "भगवान् एव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि" को हम जी कैसे सकेंगे? जो दशमस्कन्धमें वर्णित ब्रजभक्तोंके साथ भगवानकी लीला है वो हम अपने जीवनमें कैसे बुन पायेंगे, यदि जगतको मिथ्या मायिक कहेंगे तो? तो भूमिको बापकी औरत क्यों कहनी? सेवोपयोगी सामग्रीसे प्रभु रीझ रहे हैं तो उसे मिथ्या क्यों माननी? यदि जगत मिथ्या हो तो भगवानको मिथ्या जगतमें अवतरित होनेकी जरूरत क्या? भगवान् गीतामें स्पष्ट आज्ञा करते हैं "जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेति मामेति सोऽर्जुनः।" मेरा जन्म, कर्म सब दिव्य है. मिथ्या जगतमें दिव्य प्रभु कैसे अवतरित होंगें?

पर जिन्हें ज्ञान साधना है, मुक्ति पानी है, उन्हें यह बात हजम नहीं होगी. अतः उन्हें यह बात समझानेमें आई है कि जगत मिथ्या है. जैसे बालक रसोईघरमें चूलेसे खेलने जाये, चाकूसे खेलने जाये, तो हम रोकेंगे या नहीं? अब उसे हम कहे कि तू इसे छू मत तो बालक समझेगा नहीं. तो बालकको डराना पडेगा, उस बातके प्रति घृणा पैदा करनी पडेगी, क्योंकि किसी प्रकारसे बालकको उससे खेलते

रोकना है. वैसे ज्ञानीको जगतमें खेलनेसे रोकनेकेलिये जगतको मिथ्या कहा गया है. ज्ञानी होकर भी जगतमें अनुरक्त रहेगा तो ज्ञानका पूरा-पूरा परिपाक नहीं होगा. इसलिये वैराग्य साधनेकेलिये जगतको मिथ्या कहनेकी जरूरत पडी है. ''यत् मायिकत्वकथनं पुराणेषु उदीर्यते तद् वैराग्यार्थम्।''

वैराग्य साधनेके बाद मत डरो. बालक चाकूसे खेलता बन्द हो जाये सो तो ठीक है, पर इतना डर जाये कि सब्जी काटते भी बंद हो जाये तो-तो बलिशता है न! बालक अभी ज्ञानी नहीं, इसलिये चाकूसे खेलने नहीं देना चाहिये. पर जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया और फिर भक्तिका अवसर प्राप्त हुआ उस वक्त डरने जैसा कुछ रह नहीं जाता, क्योंकि सभी ब्रह्म है. बडे होनेके बाद चूलेसे, चाकूसे डरना नहीं है. उनका सदुपयोग करना है ; दुरुपयोग या अनुपयोग नहीं. सदुपयोग सच्चा कर्तव्य है. वैसे ही प्रभुने जो अहन्ता-ममताकी सामर्थ्य हमें दी है उसका दुरुपयोग या अनुपयोग हम न करें ; उसका प्रभुसेवामें सदुपयोग करें. अर्थात् ''यद् यद् इष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः। येन स्यात् निर्वृतिश्चित्ते तत्कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्।'' जो तुम्हें पसन्द है, जिसमें तुम्हें मोह होता है, उसे प्रभुको समर्पित करके भगवत्प्रसादरूपमें तुम लो. ''ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृह कस्यचित् धनम्॥'' इस न्यायसे जो प्रभुकी उपभोग्य चीज है उसे प्रभुको समर्पित करके लेनेका अनुशासन तुम पालोगे तो तुम्हें हर चीजका सदुपयोग करना आ गया. बस इस सदुपयोगमें ही भक्तिका रहस्य छुपा हुआ है.

प्र. ७ जैसे श्रीआद्यशंकराचार्य आसेतुहिमालयसार्वजनीन है वैसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी सार्वजनीन नहीं हुए उसका कारण क्या है? वैष्णवोंने एक स्थिर पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय बांधा और वह सम्प्रदाय श्रीवल्लभाचार्यको मानता है — ये मान सकते हैं या नहीं?

उ. ७ पहली बात तो यह है कि पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय रुद्रसम्प्रदाय कहा जाता है, अर्थात् पुष्टिमार्गीय सम्प्रदायके आद्य प्रवर्तक श्रीमहादेव रुद्र हैं. इसलिये उनके अवतार श्रीशंकराचार्य आसेतुहिमालय (रामेश्वरसे हिमालय तक) प्रसिद्ध हो उसमें हमें ईर्ष्या करने जैसा कुछ भी नहीं

है. साथ ही श्रीशंकराचार्य पुष्टिमार्गीओंके आद्यसम्प्रदायस्थापक श्रीमहादेवजीके अवतार है इस बजहसे श्रीशंकराचार्यके सम्प्रदायका अनुसरण करना भी प्राप्त नहीं होता. क्योंकि ये तो केवल सम्प्रदायके आद्यप्रवर्तकके अवतार है पर सम्प्रदायके साक्षात् आराध्य भगवान श्रीकृष्णके अवतार बुद्ध भगवानका भी हम वैदिक मतानुयायी नमन-अभिवन्दन करनेपर भी अनुसरण नहीं करते, कारण उनके द्वारा उपदिष्ट (उपदेश किया हुआ) मार्ग वेदादि शास्त्रके अनुकूल नहीं है. साक्षात् वेदोंकी ही निन्दा भी आसुरव्यामोहनार्थ भगवानने बुद्धरूपसे की है. वैसे ही मायावादके उपदेशमें पुष्टिसम्प्रदायके परम आराध्य भगवान श्रीकृष्णके रूप और आकार को मिथ्या, मायिक और कल्पित माने हुवे होनेसे हम पुष्टिमार्गीय श्रीशंकराचार्यके मतका अनुसरण नहीं करते.

वैसे ही दूसरी बात इसमें ध्यान देने लायक यह है कि आसेतुहिमालय प्रसिद्ध होना यह कोई भी सिद्धान्तकी वास्तविकता या उत्तमताकी आध्यात्मिक गेरंटी हो ही ऐसा नहीं कह सकते. नहीं तो शंकराचार्यकी तुलनामें बौद्ध मत चीन, जापान, लंका आदि देशोंमें अधिक व्यापक है. और उससे भी ज्यादा व्यापक इस्लाम मत है. करीब पूरी दुनियामें ईसाई मत जितना व्यापक मत या धर्म दूसरा कोई नहीं है. तो वह ईसाई मत सबसे उत्तम और सत्यतम गिना जायेगा! और श्रीशंकराचार्यका मत इतना विश्वविख्यात नहीं हो सका उसका कारण उनके अनुयायीओंका एक स्थिर सम्प्रदाय बांधना और केवल श्रीशंकराचार्यको ही मानना हुआ –ऐसा गिना जायेगा! जनगणनाका आधार लें तो चीन और दक्षिण-पूर्व एशियाके साठ-सत्तर करोड मनुष्य और रशिया तथा पूर्व युरोपके तीस करोड मनुष्य ऐसे मिलकर करीब एकाद अरब मनुष्य यदि साम्यवाद और मार्क्स को मानते हों तो उसकी तो आधी संख्या भी श्रीशंकराचार्यके अनुयायीओंकी नहीं है. इससे साम्यवाद उत्तमोत्तम या सत्यतम सिद्धान्त नहीं ठहरता. ऐसी गणना राजनीतिमें शासन पानेमें निर्णायक मानी जा सकती है किन्तु आध्यात्मिक विकास या दर्शन (philosophy) की गहराईसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है. विश्वमें आसेतु-हिमालय प्रसिद्धि बहुत कम प्रसिद्धि है!

तीसरी बात यह ध्यानमें रखनी है कि पुष्टिमार्गीय सम्प्रदायका

भेड-बकरियोंकी भांति इतने सब मुंड या झुंड यदि अनुसरण नहीं करते हों तो उसमें सम्प्रदाय या श्रीवल्लभाचार्यका कुछ अगौरव नहीं है, बल्कि महान गौरव है. कोहीनूर तो पूरी दुनियामें एक ही है और वह उसका अगौरव नहीं पर महान गौरव है. पुष्टिमार्ग भगवत्कृपाका मार्ग है और वह भगवत्कृपा सब्जी-तरकारीकी तरह फूटपाथपर गली-गली और महोल्ले-महोल्लेमें बिकती नहीं मिलती हो तो इसमें न्यून मानने जैसा कुछ भी नहीं है. भगवत्कृपा रास्तेमें पडी हुई तो नहीं मिलेगी! और मिले तो उसकी महत्ता क्या?

एक सुभाषितमें कहा गया है कि बरसातमें जैसे मैंढक सब जगह टर्र-टर्र करते हैं वैसे कलियुगमें सर्वत्र वेदान्ती वेदान्तका उपदेश देते हो जायेंगे! मैंढकों जैसी गति पुष्टिमार्गीकी न हो जाय वह तो पुष्टिमार्गपर सचमुच ही भगवानकी कृपा ही माननी चाहिये. और यदि ऐसी गति हो तो फिर समझ लेना चाहिये कि पुष्टिमार्गके पांचसो वर्ष सचमुच पूरे हो गये.

श्रीशंकराचार्यके अद्वैतमतके प्रखर विद्वान श्रीहर्ष अपने खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थमें कहते हैं कि समग्र सांसारिक भयोंको निवृत्त करनेवाले हमारे मत (अद्वैतसिद्धान्त) के संस्कार जगतमें ईश्वरके अनुग्रहसे दो-तीन मनुष्योंको ही हृदयारूढ हो सकते हैं. "ईश्वरानुग्रहाद् एषा पुंसाम् अद्वैतवासना, महाभयकृतत्राणा द्वि-त्रीणामेव जायते॥" जब ज्ञानमार्गीय सिद्धान्त भी सच्चे प्रकारसे दो-तीन मनुष्योंको ही हृदयारूढ होते हों, और वह भी ईश्वरानुग्रहसे ही, तो स्वयं ईश्वरानुग्रहका सिद्धान्त अर्थात् पुष्टिमार्ग तो जगतमें एक मनुष्यको भी हृदयारूढ हो तो भी बहोत है.

चौथी बात. श्रीमहाप्रभुजीका तो सिद्धान्त ही यह है कि सभी जीव भगवदिच्छानुसार अपने-अपने मार्गपर चलते हैं. जैसा जिस जीवमें प्रभुने बीजभाव स्थापित किया हो उसी मार्गका वह जीव अनुसरण करेगा. इसीलिये पुष्टि-प्रवाह-मर्यादाभेद ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभुजी विभिन्न बीजभाव और विभिन्न मार्ग और अपने-अपने मार्गानुसार विभिन्न साधनाचरण और विभिन्न फल तथा इन सबसे विभिन्न जीवोंका तारतम्य है ऐसा निरूपण करते हैं. सभी जीव पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय या प्रवाहमार्गीय नहीं हो सकते, पर अपने-अपने अधिकारानुसार ही पृथक्-पृथक् मार्गोंका

अनुसरण करते हैं. यह बात अलग है कि पुष्टिमार्गके नामपर भीड इकट्ठी करके अन्तमें भीडको खुश करनेके चक्करमें पुष्टिसिद्धान्तोंकी ही हत्या करनेवाले लोग आजकल प्राय: प्रवचन करते दिखाई देते हैं.

पुष्टिमार्ग भगवत्कृपाके सिद्धान्तका मार्ग होनेके कारण उसपर ही अवलम्बित है. इसलिये भगवदिच्छानुसार सहजतया जो इस मार्गमें रुचि लेकर आता है वही सच्चा अधिकारी है. वह यदि दुर्लभ हो तो यह पुष्टिमार्गकी दुर्लभताका ही प्रमाण है, न कि उसकी कोई न्यूनताका. ऐसा दृढ निर्धार हमारे हृदयमें नहीं रहनेसे जलभेदमें उपदिष्ट आज्ञाको भूलकर जहाँसे मिले वहाँसे पुष्टिमार्ग सुननेका पागलपन पनप निकला है. उस बजहसे कुछ पापात्माएँ भी हमारे पुष्टिमार्गीयोंके समक्ष हमारे ही मधुराष्टक जैसे ग्रन्थोंपर प्रवचन करके पुष्टिमार्गीय जनताको बहकानेकेलिये साक्षात् श्रीमहाप्रभुजीको भी पापी कहनेसे चूकते नहीं! और हम पुष्टिमार्गीय भी सिर हिलाकर ऐसे भद्दे विधान सुन और सह लेते हैं! प्रभु ऐसी सार्वजनीनता पुष्टिमार्गकी न करें तो अच्छा ही है!

पाँचवी बात. हम देख गये कि आसेतुहिमालय प्रसिद्ध नहीं होना यह पुष्टिमार्गकी न्यूनता नहीं है किन्तु दिव्यता और दुर्लभता का प्रमाण है. फिर भी विश्वमें स्थिर सम्प्रदायको बांधने और श्रीवल्लभाचार्यजीको मानने का जो अल्पप्रसिद्धिके कारणके रूपमें उल्लेख किया गया है उस बारेमें भी कुछ विचार करना चाहिये.

श्रीशंकराचार्य अपने उपनिषद्के भाष्यके लेखनका प्रारम्भ करते हुए "ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्य:" कहते हैं. इससे सिद्ध होता है कि श्रीशंकराचार्य भी अपने आपको एक स्थिर सम्प्रदायके साथ बांधना चाहते हैं. अब यदि उनके ही अनुयायी स्वयंका स्थिर सम्प्रदायमें बंधना उपयुक्त नहीं समझते हों तो ऐसे स्वच्छन्द और अस्थिर चित्तवाले अनुयायीओंको स्वयं श्रीशंकराचार्य अपने भगवद्गीताके भाष्यमें गाली भी देते हैं— "आत्महा स्वयं मूढो अन्यांश्च व्यामोहयति, शास्त्रार्थसम्प्रदायरहितत्वात् श्रुतहानिम् अश्रुतकल्पनां च कुर्वन्. तस्माद् असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविद् अपि मूर्खवद् एव उपेक्षणीय:." (गीता शांकरभाष्य १३।२)

अनुवाद - आत्मघाती वह स्वयं मूढ है और दूसरोंको बनाना चाहता

है. क्योंकि सम्प्रदायानुसार उसको शास्त्रका अर्थ करना आता नहीं, जिससे जो कुछ सुनते आये हैं उसका त्याग करके कभी न सुनी हो ऐसी कल्पनाएँ (शास्त्रप्रवचनमें) करते हैं. इसलिये जो (शास्त्रप्रवचनकार) सम्प्रदायको अच्छी तरह जानकर उसमें निष्ठ न हो वह सभी शास्त्रोंका ज्ञाता हो तब भी वैसे व्यक्तिकी मूर्ख मनुष्यकी तरह उपेक्षा करनी चाहिये.

इन दो वचनोंसे श्रीशंकराचार्य तो स्थिर सम्प्रदाय बांधकर चलनेवालेको ही बुद्धिमान समझते हैं, स्वच्छन्द विचारकोंको नहीं –ऐसा सिद्ध होता है. बेशक कलियुगके प्रभावसे श्रीशंकराचार्यके अनुयायी अब अपने आद्य आचार्यकी गालियोंको भूलकर भी निर्लज्ज होकर मनचाहे ढंगसे आधुनिक श्रोताओंको खुश करनेकेलिये व्याख्यान करते हैं, किन्तु उससे धार्मिक जगतमें वैचारिक स्वच्छन्दता आती है और वह धर्मके मूलपर प्रहार करती है. इसीलिये श्रीमहाप्रभुजीने जलभेद ग्रन्थमें कैसे वक्ताके पास सिद्धान्त सुनना चाहिये उसका स्पष्टीकरण किया है. किन्तु आसेतुहिमालय-ख्याति प्राप्त करनेकी इच्छावाले वक्ता धर्मके नामपर असंगत विचारोंका प्रचार करते हैं. वे पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंकी आज तककी श्रीवल्लभाचार्य और उनके सम्प्रदायमें रही हुई अडिग श्रद्धाको तोडनेकेलिये नाम लिये बिना श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंको कोसते हैं. आदि - मध्य - अन्तमें कभी - कभी "श्रीवल्लभाचार्य भक्तिके बादशाह है" ऐसी मिथ्या प्रशंसा भी करते हैं. किन्तु वैष्णवोंका यह कर्तव्य है कि ऐसी कूटनीतिसे भरे धर्मोपदेशसे बचना चाहिये. क्योंकि केवल "अल्लाह - अल्लाह" या तो केवल राम, कृष्ण, शिव, गणपति आदि ईश्वरके नाम लेनेवालेकी अपने - अपने सम्प्रदायानुसार ईश्वरमें जितनी सच्ची निष्ठा होती है उतनी "ईश्वर या अल्लाहमें भेद नहीं" गिननेवालोंकी प्राय: सच्ची नहीं होती. ऐसोंको न तो ईश्वरके साथ लगाव है, न ही अल्लाहके साथ. इसलिये दोनों एक ही है ऐसा कहते हुए भी ऐसोंको जोर नहीं पडता.

दुनियामें खराब चीज है ईश्वर या अल्लाहके नामपर झघडना. पर "अल्लाह" कहते ही कुरानशरीफमें ईश्वरका जिस प्रकार वर्णन करनेमें आया है वैसा रूप ईश्वरका आंखोके सामने आता है. उदाहरणत: वह ईश्वर महान है, हमारे पापोंको क्षमा करनेवाला है, महान रहमदिल है. पर उसका कोई राम, कृष्ण, गणपति या महादेवजी जैसा आकार

या और किसीके भी साथ पिता-पुत्र, मित्र, पति जैसा सम्बन्ध नहीं है. कुरानमें साफ-साफ कहा है "लम् यलिद व लम् यूलद" अर्थात् वह न तो किसीका पुत्र है और न ही उसका कोई पुत्र है. यह भी एक स्वरूप है ईश्वरका. और वह उनके भक्तोंके अपने अधिकारानुसार हृदयारूढ भी होता ही है. जब मुसलमान नमाज पढते हो तब यदि "ईश्वर अल्लाह तेरो नाम" कहकर राम, कृष्ण या महादेवकी छबि ध्यानमें आये तो कुरानद्वारा प्रतिपादित ईश्वरके स्वरूपमें किसी भी मुसलमानका चित एकतान नहीं हो सकता. इसी प्रकार अपने यहाँ जब हम जन्माष्टमी या रामनवमी के दिन दिव्य उत्साहसे भरपूर होकर श्रीराम या श्रीकृष्ण को पलना झुलाते हो और अपने किये हुए अनेकविध पापोंकी क्षमायाचनाकी इच्छा पलना झुलते भगवानके पास यदि उस क्षणमें हो तो अपने भक्तिरसमें निश्चित रसाभास हुए बिना नहीं रह सकता.

इसलिये कहनेका मुद्दा इतना ही है कि जैसे पूरी दुनियामें सभी मनुष्योंके एक से चहेरे हो जाय, वैसे ही सभीके व्यवहार-विचार और भावनाएँ भी एक सी ही हो जाय तो कितने सब कलह मिट जाय! पर ऐसी दुनिया सभीको ही इतनी ज्यादा नीरस, शुष्क या व्यर्थ लगेगी कि सब मर जाना पसन्द करेंगें जीने की अपेक्षा! विविधतामें रस समाया हुआ है. पर यह रस तथाकथित ज्ञानीओंको नहीं समझमें आता, इसीलिये भेदको मिटानेके प्रयास करते रहते हैं. किन्तु अन्तमें सभी प्रयास करके थक जाय तब अभेदज्ञानका उपदेश देनेकेलिये एक-दो नहीं पर आसेतुहिमालय जितने श्रोता या शिष्य मिले तो भी कम ही लगते हैं! कभी भी गुरु-शिष्य या शास्त्री-श्रोताके अनिवार्य भेदसे पेट नहीं भरता! पर उपदेश चलता रहता है कि "मैं और तू का भेद मिथ्या है, बन्धन और मुक्ति का भेद मिथ्या है, सम्प्रदाय और धर्मोंके भेद मिथ्या है, श्रीशंकराचार्य और श्रीवल्लभाचार्य का भेद मिथ्या है!" तब भी एक भेद तो त्रिकालवर्ती सत्य है, और वह भेद है श्रोता और उपदेशक का! जो यह भेद मिट जाये तो दुनियामें सब झघडे, सारी साम्प्रदायिक ईर्ष्या और स्पर्धाकी भावनाएँ मिट जाय! किन्तु जब यह श्रोता और उपदेशक का ऐसा भयंकर भेद नहीं मिटनेवाला तब पुष्टिमार्गीय वैष्णव कमसे कम एक स्थिर पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय बांधकर रहते हैं

उसमें खास कोई हरकत जैसी बात हमे दिखाई नहीं देती.

इसलिये किसी भी प्रकारके भेदको छोडनेकेलिये अन्तमें कोई उपदेशकको यदि मानना ही पडता हो तो हमें अर्थात् पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको माननेमें कोई भी प्रकारकी आपत्ति नहीं होनी चाहिये. ''भूल जिन जाय अनत मन मेरो!''

प्र. ८ षोडशग्रन्थका सम्प्रदायमें स्थान और उपदेश्य विषयके बारेमें समझायें.
उ. ८ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीको श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रमें श्रीभागवतपीयूष-समुद्रमथनक्षमः कहे हैं. श्रीमद्भागवत वस्तुतः भक्तिरसका छलकता सागर है. अनेक प्रकारके रसभावोंको प्रकट करती भगवानकी विविध लीलारूपी जो लहरें उसमें उछलती हैं वैसी लहरें अन्य कोई भी भक्तिशास्त्रमें सहज सुलभ नहीं हैं. इसीलिये कहा गया है कि ''पिबत भागवतं रसम् आलयम्।'' भागवतकी रसलहरियोंमें हिलोरे लेते भक्तोंको संसारसागरके सामनेके किनारे = मुक्तिके किनारे पहुँचना अति तुच्छ लगता है ; तो इस ओर संसारके किनारे जमे रहनेकी भी इच्छा नहीं है. ऐसे भागवतरसामृतसागरका मंथन करके श्रीमहाप्रभुजीने जिस सोलह कलानिधि चन्द्रको प्रकट किया उसका नाम षोडशग्रन्थ है.

यह सोलह छोटे - छोटे ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुजीने अपने अन्तरंग सेवकोंको अपनी ओरसे निजी विश्वास और आश्वासन देनेकेलिये कहीं उपदेशात्मक शैलीमें तो कहीं आदेशात्मक शैलीमें लिखे हैं.

आज जिस क्रममें ये ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं वो क्रम श्रीमहाप्रभुजीद्वारा निश्चित किया हुआ है या नहीं यह हम निश्चित रूपसे नहीं कह सकते. श्रीमहाप्रभुजीके बाद यह क्रम कब निर्धारित हुआ यह कहना भी मुश्किल है. क्रमसंगतिके बारेमें षोडशग्रन्थके व्याख्याकारोंमें जो थोडा बहुत भी मतभेद देखनेको मिलता है उससे समझमें आता है कि यह क्रम सर्वमान्य नहीं था.

श्रीपुरुषोत्तमजी ''षोडशप्रकरणग्रन्थानां संगतिः'' (देखो 'पुष्टिभक्तिसुधा' मासिक - श्रीवल्लभाब्द - ४३६ कार्तिक - मार्गशीर्ष) में अधोलिखित क्रमसंगति समझाते हैं.

शास्त्रोंको अच्छी तरहसे समझकर मन, वाणी और देह से श्रीकृष्णकी सेवा करनेका सिद्धान्त श्रीजगन्नाथपुरीके प्रसिद्ध शास्त्रार्थमें निश्चित हुआ. तदनुसार सभी शास्त्रोंके परमतात्पर्यविषयके रूपमें भगवत्सेवाके उपदेशकेलिये–

१. सर्वप्रथम यमुनाष्टकके स्तोत्रपाठसे सभी पापोंका क्षय होता है और भगवान मुकुन्दमें स्नेहरूपा भक्ति दृढ होती है यह बताया गया है.

२. बालबोधमें संक्षेपमें सभी मोक्षशास्त्रोंका निचोड दिया गया है.

३. सिद्धान्तमुक्तावलीमें कृष्णसेवा ही हमारा कर्तव्य है यह सैद्धान्तिक निर्णय प्रस्तुत हुआ है.

४. नवरत्नमें आन्तरसेवाके अंगभूत पदार्थोंकी शुद्धिका निरूपण किया गया है.

५. अन्त:करणप्रबोधमें इस आन्तरिक शुद्धि अथवा चित्तके स्वास्थ्यका निरूपण है.

६. विवेकधैर्याश्रयमें बाह्य और आन्तरसेवाकी सम्पूर्ण सिद्धिकेलिये विवेक, धैर्य और आश्रयका निरूपण किया है.

७. कृष्णाश्रयमें विवेक, धैर्य और आश्रयमेंसे आश्रयको स्थिर करनेपर भार दिया गया है.

८. चतु:श्लोकीमें उपर कही हुई सभी बातें (विषय) अतिसंक्षेपमें बताई हैं.

९. पुष्टिप्रवाहमर्यादामें पुष्टिजीव, प्रवाहीजीव और मर्यादाजीवके स्वरूप, साधन और फलका निरूपण किया गया है.

१०. भक्तिवर्धिनीमें पुष्टिभक्तिकी वृद्धिकेलिये त्याग, सेवा, श्रवण आदि अंगोंका प्रतिपादन किया गया है.

११. जलभेदमें भक्तिवर्धक हो ऐसे श्रवणकी सिद्धिकेलिये वक्ताका आदर्श स्वरूप समझाया है.

१२. पंचपद्यानिमें भक्त श्रोताका आदर्श स्वरूप समझाया है.

१३. सन्न्यासनिर्णयमें व्रजभक्तोंके भावोंकी भावना करते हुए भक्तिवर्धिनीमें प्रतिपादित त्यागका स्वरूप बताया है.

१४. निरोधलक्षणमें इन व्रजभक्तोंके भावोंकी भावना करते करते संसारको भूलकर भगवानमें आसक्ति सम्पादन करनेके हेतुरूप निरोधका स्वरूप बताया है.

१५. सिद्धान्तरहस्यमें ब्रह्मसम्बन्धकी आज्ञा और
१६. सेवाफलमें सेवाके तीन फलका निरूपण है.

इस क्रमसंगतिके अलावा क्रमसंगतिका एक दूसरा प्रकार भी देखनेको मिलता है, वह निम्न अनुसार है.

१. यमुनाष्टकद्वारा स्वरूपयोग्यता अर्थात् पुष्टिमार्गमें प्रवेश प्राप्त करनेकी योग्यता मिलती है.

२. बालबोधमें ऐसे स्वरूपयोग्यतावाले अधिकारियोंकेलिये स्वकीयता अथवा पुष्टिमार्गीयताके सम्पादनका प्रयास है.

३. सिद्धान्तमुक्तावलीमें ऐसे स्वकीयोंको पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तका उपदेश दिया गया है.

४. पुष्टिप्रवाहमर्यादामें पुष्टिमार्गीय सृष्टि, उसका स्वरूप, साधन, प्रयोजन, फल आदिका परिचय कराया गया है.

५. सिद्धान्तरहस्यमें पुष्टिभक्तको उसके कर्तव्य भगवत्सेवाके अनुष्ठानका प्रकार समझाया गया है.

६. नवरत्नद्वारा भगवत्सेवामें प्रवृत्त जीवको निश्चिन्त बनानेका प्रयास है. जीव तो भगवानकी सेवा करता है परन्तु भगवान उसकी सेवा तथा सेवकके रूपमें स्वयं भक्तका अंगीकार करेंगें या नहीं उसकी व्यर्थ चिन्ता न करनेका उपदेश दिया गया है.

७. अन्तःकरणप्रबोधमें अन्तरात्माको सम्बोधित करके उपदेश दिया गया है.

८. विवेकधैर्याश्रयमें अन्तरात्माके प्रबोधनके अंगतया विवेक, धैर्य और आश्रयका निरूपण है.

९. कृष्णाश्रयमें विवेक अथवा धैर्य सिद्ध न हो तब भी आश्रयका कदापि त्याग नहीं करना चाहिये ऐसा समझाया है.

१०. चतुःश्लोकीमें कृष्णाश्रित अनुयायीकेलिये कृष्णभजनके अलावा अन्य कोई कर्तव्य होनेके भ्रमको दूर किया गया है.

११. भक्तिवर्धिनीमें भक्तिकी वृद्धिके उपायके साथ साथ त्याग, श्रवणादिका निरूपण किया गया है.

१२. जलभेद और १३. पंचपद्यानिमें श्रवणयोग्य वक्ता और श्रोताकी परीक्षा

बताई गई हैं.

१४. सन्न्यासनिर्णयमें यह बताया कि भक्तिवर्धिनीमें त्यागका जो विधान किया गया है उसकेलिये योग्य समय कौनसा होता है.

१५. निरोधलक्षणमें उस त्यागके साधनोंका स्वरूप बताया गया है.

१६. सेवाफलमें इस प्रकार पुष्टिमार्गपर चलनेवालोंको होनेवाली फलकी अनुभूतिका वर्णन किया गया है.

ऐसे परवर्ती आचार्योंद्वारा विरचित षोडश प्रकरणग्रन्थोंकी क्रमसंगतिके दोनों प्रकार हमने देखे.

इस क्रमसंगतिके अलावा इन सोलह ग्रन्थोंकी विषयवस्तुकी संगति श्रीभागवतके बारह स्कन्धोंके अर्थके साथ की गई है, वह हम अब देखें.

श्रीभागवतके बारह स्कन्धके विशिष्ट स्कन्धार्थके साथ श्रीमहाप्रभुजीके इन षोडशग्रन्थोंकी संगति थोडी-बहुत देखनेको मिलती है. व्याकरणमें तत्सम और तद्भव शब्द होते हैं. मूल संस्कृत शब्द हिन्दीमें प्रयोगमें आते हों तब उनको तत्सम शब्द कहे जाते हैं. उदाहरणतः पृथ्वी, पुष्प, वन. मूल संस्कृत शब्द परिवर्तन पाकर गुजराती-हिन्दीमें प्रयुक्त होते हों तब उनको तद्भव शब्द कहते हैं. उदाहरणतः संस्कृत-कुम्भकारका हिन्दी-गुजराती तद्भव शब्द कुम्भार. उसी प्रकार श्रीभागवतके स्कन्धार्थके साथ षोडशग्रन्थमेंसे कुछ ग्रन्थोंका अर्थ तन्मूलक होनेसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, तो कुछ तत्स्थानीय होनेसे आपाततः सम्बन्ध रखते हैं, जैसेकि–

भागवत - विषय - षोडशग्रन्थ

प्रथमस्कन्ध - अधिकार - श्रोता - वक्ता स्वरूप - पंचपद्यानि, जलभेद.

द्वितीयस्कन्ध - अंगनिर्णय - तत्त्वज्ञान, हृत्प्रसादमनन - यमुनाष्टक.

तृतीयस्कन्ध - सर्गलीला - बन्धसृष्टि और मुक्तसृष्टि - पुष्टिप्रवाहमर्यादा.

चतुर्थस्कन्ध - विसर्गलीला - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - बालबोध.

पंचमस्कन्ध - स्थानलीला - देशकालरूप प्राकृतपदार्थका जय तथा आत्मजय. - अन्तेःकरणप्रबोध.

षष्ठस्कन्ध - पोषणलीला - नाम - ध्यान - अर्चनादिद्वारा अनुग्रहकी अभिव्यक्ति - सिद्धान्तमुक्तावली, भक्तिवर्धिनी.

सप्तमस्कन्ध - ऊतिलीला - कर्मवासना - विवेकधैर्याश्रय
अष्टमस्कन्ध - मन्वन्तरलीला - सद्धर्मनिरूपण - चतुःश्लोकी.
नवमस्कन्ध - ईशानुकथालीला - भक्ति (दुःखनिवारण तथा सुखप्राप्ति) - नवरत्न, सिद्धान्तरहस्य.
दशमस्कन्ध - निरोधलीला - प्रपंचविस्मृतिपूर्वक देहेन्द्रिय सर्वका प्रभुमें निरोध - निरोधलक्षण
एकादशस्कन्ध - मुक्तिलीला - मोक्षका स्वरूप (अन्यथा स्वरूपास्थिति) - सन्न्यासनिर्णय
द्वादशस्कन्ध - आश्रयलीला - आश्रयरूपमें भगवद्भावापत्ति - कृष्णाश्रय, सेवाफल.

द्वादशांग श्रीगोवर्धनधरके नामात्मक अंगरूप श्रीभागवतके बारह स्कन्धोंको पुष्टिमार्गीय सन्दर्भमें समझनेकेलिये षोडशग्रन्थ वस्तुतः कितने उपयोगी हैं!

श्रीभागवतार्थनिबन्ध और श्रीसुबोधिनीमें अन्य विषयोंके साथ साकारब्रह्मवाद और निर्गुणभक्तिमार्ग का प्रतिपादन श्रीमहाप्रभुजीने व्याख्यानशैलीमें किया हैं. उन्हीं साकारब्रह्मवाद तथा निर्गुणभक्तिमार्ग को आपने षोडशग्रन्थोंमें अपने सेवकोंको पूर्णरूपसे कहीं उपदेशशैलीमें तो कहीं आदेशशैलीमें समझाये हैं. षोडशग्रन्थकी रचनाके समय श्रीमहाप्रभुजीके समक्ष कोई पूर्वपक्षी या टीका करनेकेलिये कोई ग्रन्थ नहीं था. आपके सन्मुख थे आपके अनुयायी, जो साकारब्रह्मवादकी दार्शनिक मान्यताके कोई न कोई सैद्धान्तिक पहलूके बारेमें श्रीमहाप्रभुजीका अभिप्राय जाननेकेलिये उत्सुक थे. मानो जैसे ये सेवक पुष्टिभक्तिके मार्गपर चलते-चलते अचानक कोई ऐसे मोड अथवा चौराहेपर आ पहुँचे हैं कि अब किस दिशामें जाना यह वे निश्चित नहीं कर सकते. इसलिये वे अपने मार्गदर्शकको योग्य दिशा बतानेकेलिये विनती कर रहे हैं. अतः श्रीमहाप्रभुजी अपने सेवकोंको अपना अभिप्राय अपने निजी प्रमाणों और आश्वासनके साथ इन षोडशग्रन्थोंमें समझा रहे हैं. यही कारण है कि षोडशग्रन्थमेंके प्रायः सभी ग्रन्थोंमें– "वदति वल्लभः श्रीहरेः" (श्रीयमुनाष्टक), "वदामि सुविनिश्चितम्" (बालबोध), "स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्, स्वशास्त्रसर्वस्वम्" (सिद्धान्तमुक्तावली), "साक्षाद्-भगवता प्रोक्तं तदक्षरशः उच्यते" (सिद्धान्तरहस्य), "इत्येव मे मतिः"

(नवरत्न), "इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः" (अन्तःकरणप्रबोध), "इति मे मतिः" (विवेकधैर्याश्रय), "इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्" (कृष्णाश्रय), "इति मे मतिः" (चतुःश्लोकी), "इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्" (सन्न्यासनिर्णय), "अहं निरुद्धो रोधेन... निरोधं वर्णयामि ते" (निरोधलक्षण), "गुणक्षोभेऽपि द्रष्टव्यम् एतदेव इति मे मतिः" (सेवाफल) –वैयक्तिक आश्वासन प्राप्त होता है. हर ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभुजी अपने किसी न किसी अनुयायीको आश्वासन देना चाहते हैं कि मेरा यह निर्णय है, मेरा यह मार्गनिर्देश है. अब तुम्हें विशेष विचार या संशय करनेकी आवश्यकता नहीं है. तुम्हारे हृदयमें सिद्धान्तको दृढ करके उसकी वृद्धि करो और पुष्टिभक्तिके प्रशस्त मार्गपर आगे बढो.

चौरासी वैष्णवकी वार्ता और उसके उपरके भावप्रकाशमें सोलहमेंसे करीब दस ग्रन्थोंके प्रथम उपदेश प्राप्त करनेका प्रासंगिक इतिहास प्राप्त होता है. जैसे कि बालबोध ग्रन्थ नारायणदास अम्बालावालेको सिखाया (देखो भावप्रकाश - वार्ता ५७), सिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थ अच्युतदास सनोढियाको सिखाया (देखो भावप्रकाश - वार्ता ५४), सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थ सर्वप्रथम दामोदरदास हरसानीको सुनाया (देखो वार्ता १), नवरत्न गोविन्द दूबेको (देखो भावप्रकाश - वार्ता ३४) तो चतुःश्लोकी ग्रन्थ राणा व्यासको सिखाया (देखो भावप्रकाश - वार्ता ३२), कृष्णाश्रय बूला मिश्रको (देखो भावप्रकाश - वार्ता ४६) तो भक्तिवर्धिनी पुरुषोत्तम जोशीको सिखाया (देखो भावप्रकाश - वार्ता ३०), सन्न्यासनिर्णय ग्रन्थ नरहरि सन्न्यासीकेलिये लिखा (देखो भावप्रकाश - वार्ता ७२), निरोधलक्षण ग्रन्थ राजा-माधो दूबेकेलिये लिखा (देखो भावप्रकाश - वार्ता ३५), सेवाफल ग्रन्थ विष्णुदास छीपाकेलिये लिखा (देखो भावप्रकाश-वार्ता ५०).

श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रमें "भक्त्याचारोपदेशार्थं नानावाक्यनिरूपकः" की व्याख्यामें श्रीगोकुलनाथजी कहते हैं— "एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तपरायणत्वं निरूप्य, स्वप्रकटित-भक्तिमार्गीयाचारज्ञापकम् अग्रिमं नाम आहुः 'भक्त्याचारोपदेशार्थं नानावाक्यनिरूपकः' इति. भक्तिमार्गीयो य आचार आचरणं; तदुपदेशार्थं नानाविधानि यानि वाक्यानि, नवरत्न-भक्तिवर्धिनीआदीनि, तेषां निरूपकः तदर्थविबोधकः इत्यर्थः." अर्थात् श्रीमहाप्रभुजीने भक्तपरायण होकर पुष्टिभक्तिके

आचरणोंका उपदेश नवरत्न, भक्तिवर्धिनी आदि अलग-अलग ग्रन्थोंमें किया है. उस वक्त आपके समक्ष आपका अनुयायी है, जो आपका आदेश सुननेकी प्रतीक्षा कर रहा है. इसलिये श्रीमहाप्रभुजी करीब सर्वत्र "इति मे मतिः", "स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्", "वल्लभस्य हितं वचः" कहते हैं.

मज़ेकी बात तो यह है कि आपके ये वचन सन्देहनाशक हैं फिर भी इन वचनोंने अनेक तथाकथित विद्वानोंको अनेक प्रकारके सन्देहमें डाल दिया है! जब श्रीमहाप्रभुजी भक्तोंको "ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्" कहते हैं तब विद्वानोंको गहरी चिन्ता होती है! कुछ विद्वान मानते हैं कि वयके साथ-साथ श्रीमहाप्रभुजीकी मान्यताओंमें परिवर्तन आता गया है ; षोडशग्रन्थमें प्रतिपादित सिद्धान्त आपने अपने जीवनके उत्तरार्धमें स्थापित किये थे! दूसरे विद्वानोंकी धारणा है कि अलग-अलग प्रकारके अधिकारवाले जीवोंको लक्ष्यमें रखकर श्रीमहाप्रभुजीने भिन्न-भिन्न सिद्धान्त कहे थे!

वास्तवमें ऐसी सब धारणाएँ श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थों और सिद्धान्तोंके अपूर्ण अभ्यास-चिन्तनपर आधारित हैं. इसलिये सर्व प्रथम हम श्रीमहाप्रभुजीविरचित साहित्यकी रूपरेखा देखेंगे.

श्रीमहाप्रभुजीविरचित साहित्य—

१. निबन्ध– शास्त्रार्थ, सर्वनिर्णय, भागवतार्थ

२. भाष्य– पूर्वमीमांसा, ब्रह्मसूत्र, गायत्री.

३. भागवतव्याख्या– सूक्ष्मटीका, सुबोधिनी.

४. प्रकरण– यमुनाष्टकसे सेवाफल तकके षोडशग्रन्थ.

५. प्रकीर्ण– (१) भगवन्नामात्मक-पुरुषोत्तमसहस्रनाम आदि, (२) भगवद्वर्णनात्मक-मधुराष्टक आदि, (३) वादात्मक-पत्रावलम्बन आदि, (४) उपदेशात्मक-शिक्षाश्लोकी आदि.

इस विशाल साहित्यके वर्गीकरणसे एक बात तो स्पष्ट समझ सकते हैं कि उसकी रचनामें पुनरुक्ति सर्वथा नहीं है, पर उसमें शैलीगत भेद और विवेच्य विषयवस्तुका भेद तो है ही. एक व्यापक सिद्धान्तकी चौखटमें मानों यह सब साहित्य एक चित्र सा सुशोभित हो.

श्रीमहाप्रभुजीके दार्शनिक सिद्धान्तके भवनकी नींवमें साकारब्रह्मवादका सिद्धान्त है. श्रीमहाप्रभुजीके मतमें ब्रह्मवादका तात्पर्य यह है कि जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और लयकी प्रक्रिया केवल ब्रह्मपर ही आधारित है. प्रकृति, परमाणु, माया, अदृष्ट कर्मवासना, अभाव, काल, कर्म या स्वभाव जैसे ब्रह्मसे भिन्न किसी भी तत्त्वपर यह प्रक्रिया आधारित नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीके व्यापक ब्रह्मवादी दृष्टिकोणमें प्रकृति, परमाणु, माया, अदृष्ट आदि विभिन्न दर्शनोंने मान्य किये हुए तत्त्व पदार्थोंकी समष्टि है. ब्रह्म सर्वपदार्थरूप होनेसे ये सभी ब्रह्मके ही विभिन्न रूप हैं, फिर भी ब्रह्म इन सभी पदार्थोंसे विलक्षण भी है. जब कि अन्य दर्शनशास्त्र अन्धहस्तिन्यायसे ब्रह्मद्वारा धारण किये गये इन विभिन्न रूपोंको स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं.

श्रीमहाप्रभुजीके ब्रह्मवादी दर्शनमें सांख्यमतकी प्रकृतिका ब्रह्मके सद्रूपतया और पुरुषका चिद्रूपतया स्थान है. न्यायमतके परमाणुओंका भी सूक्ष्मसदंशके रूपमें स्थान है. शांकरमतकी मायाका स्थान ब्रह्मके सर्वभवनसामर्थ्यके अन्तर्गत एक सामर्थ्यके रूपमें है. न्याय-वैशेषिकोंके अभावोंका स्थान ब्रह्मकी आविर्भाव-तिरोभाव शक्तिओंमें है. काल अथवा स्वभाव जैसे पदार्थोंको भी ब्रह्मके अन्यतम रूपकी तरह मान्य किये हैं. श्रीमहाप्रभुजी "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" इस उपनिषद्वचनमें केवल समग्र ब्रह्माण्डका ही नहीं परन्तु सर्व दार्शनिक चिन्तनोंका समन्वय भी स्वयं ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रयके स्वभावके आधारपर देते हैं.

ब्रह्मवादके साथ लगा हुआ 'साकार' विशेषण ब्रह्मके कृष्णाकारकी घोषणा करता है. वेद, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित ब्रह्म और गीता तथा भागवतमें प्रतिपादित भगवान श्रीकृष्ण अलग तत्त्व नहीं हैं ; दोनों एक ही तत्त्व है. बस यही साकारब्रह्मवादका कुल सिद्धान्त है. बाकीकी सभी बातें इस साकारब्रह्मवादके केनवास या कागजपर चित्रित हुई हैं.

इस साकारब्रह्मवादके अनुसार ब्रह्मको जानना यह हमारी माहात्म्यज्ञान प्राप्त करनेकी क्रिया मानो खेतकी धरतीका सुधार है. उस ब्रह्मको श्रीकृष्णके

मधुर आकारमें पहचानना यह परमात्माके प्रति सुदृढ और सर्वतोधिक स्नेहके बीजका बोना है. इसलिये साकारब्रह्मवादी दर्शनका प्रयोजन माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह ही है. ब्रह्मके माहात्म्यको जानकर जो स्तब्ध हो जाता है वो ज्ञानी है ; उन्हें ज्ञानमार्गीय मुक्ति - ब्रह्मानन्द मिलता है.

श्रीमहाप्रभुजीका यह साकारब्रह्मवादी दर्शन जीवोंके उद्धारकेलिये कोई एकमात्र संकुचित पगदण्डीकी ओर अंगुलीनिर्देश नहीं करता. श्रीमहाप्रभुजीके मतमें सांख्य और योग के आत्मज्ञान और यमनियमादि योगसे भी स्वतः मोक्ष मिल सकता है. शिव अथवा विष्णुकी शरणागति या भक्ति से परतः मोक्ष मिल सकता है. शास्त्रके बताये हुए कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग तीनों ही मोक्ष देनेवाले हैं. श्रीमहाप्रभुजी कोई भी शास्त्रसिद्ध मार्ग या सिद्धान्त को अमान्य नहीं करते. वे सिर्फ पुष्टिजीवोंकेलिये श्रीकृष्णकी शरणागति और भक्ति की आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं. उनमेंके जो श्रीकृष्णकी भक्ति (माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह) करनेमें समर्थ नहीं हैं उन्हें विवेक-धैर्य-आश्रयपूर्वक श्रीकृष्णकी शरणागतिका उपदेश देते हैं.

श्रीमहाप्रभुजीके मतमें सभी जीवोंके आत्मोद्धारकी एक ही तरहकी सम्भावना नहीं है. कुछ जीव पुष्टिजीव होते हैं जिन्हें ब्रह्म श्रीकृष्णस्वरूपमें सुहाता है. कुछ मर्यादाजीव होते हैं जिन्हें शास्त्रमें बताये हुए कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्गद्वारा मुक्ति मिलती है. उन्हें आत्मज्ञानसे या शिवभक्तिसे या विष्णुभक्तिसे या निष्कामकर्मसे या अक्षरब्रह्मकी अव्यक्तोपासनासे मुक्ति मिलती है. इन पुष्टिजीवों और मर्यादाजीवों को श्रीमहाप्रभुजी दैवी जीव मानते हैं. जिन्हें संसारमें ही लगे - बने रहना अच्छा लगता है उन्हें जबरदस्तीसे धार्मिक बनानेका श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीके मतमें ऐसे जीव प्रवाहीजीव होते हैं.

हमें अपने मार्गपर अच्छी तरह चलना चाहिये, किन्तु दूसरोंको छल अथवा बल से हठपूर्वक अपने मार्गपर चलानेकी मनोवृत्तिको श्रीमहाप्रभुजीके साकारब्रह्मवादी दर्शनमें कोई स्थान नहीं है.

ऐसे व्यापक दृष्टिकोणसे श्रीमहाप्रभुजी अपने मार्गकी अनेक पगदण्डियोंका निम्न प्रकारसे निरूपण करते हैं.

साकार ब्रह्मवाद —

१. माहात्म्यज्ञानांग – (१) वेदोक्त प्रकार -

अ) पूर्वकाण्ड - निष्काम कर्ममार्ग - आत्मसुख.

ब) उत्तरकाण्ड - ज्ञानमार्ग - ब्रह्मानन्द.

(२) गीतोक्त प्रकार - प्रपत्तिमार्ग - सायुज्यादि मोक्ष.

२. स्नेहांग – (३) तन्त्रोक्त प्रकार - मर्यादाभक्तिमार्ग - पापनाश - सायुज्यादि मोक्ष.

(४) भागवतोक्त प्रकार -

अ) अप्रकट श्रीकृष्णकी कृपामूलक (मिश्रपुष्टि) - कृष्णसेवामें आसक्ति - अलौकिकसामर्थ्यरूप भजनानन्द /

सायुज्य - सेवोपयोगीदेहरूप भजनानन्द.

ब) प्रकट श्रीकृष्णकी कृपामूलक (शुद्धपुष्टि) - अलौकिकसामर्थ्यरूप भजनानन्द / सायुज्य - सेवोपयोगी देहरूप भजनानन्द.

पुष्टिमार्गकी ये चारों पगदण्डियाँ निबन्ध, भाष्य, सुबोधिनी तथा प्रकरणादि ग्रन्थोंमें कहीं विस्तारसे तो कहीं संक्षेपमें बताई हैं.

जब तक हमें देहाभिमान है तब तक वैदिक वर्णाश्रमधर्मका यथाशक्ति पालन करना ही चाहिये. परन्तु कलिकालके प्रभावसे वैदिकधर्मका सांगोपांग अनुष्ठान अब प्रायः असम्भव है, इसलिये वेदोक्तप्रकार अब अलभ्य बनता जा रहा है. गीतोक्त प्रकारसे प्रपत्तिमार्ग (शरणमार्ग) सर्वजनसुलभ है ; उसमें अधिकार वर्णाश्रमके भेदपर आधारित नहीं है. तन्त्रोक्तभक्तिका प्रकार भी हमारे लिये यथाशक्ति अनुसरणीय है ही. गीतोक्त प्रकारकी भांति वह भी सर्वको सुलभ है, उसमें सबका अधिकार है. इन सबकी अपेक्षा भागवतोक्त भक्तिके प्रकारपर श्रीमहाप्रभुजी सबसे अधिक भार देते हैं. वह दुर्लभ होनेपर भी उसमें सबका अधिकार है.

इस प्रकार संक्षेपमें हमने देखा कि श्रीमहाप्रभुजीका दृष्टिकोण दैवी जीवोंके उद्धारकेलिये कितना अधिक सहृदयतापूर्ण है. शास्त्रकी मर्यादाओंके साथ मन चाहे वैसे छेडछाड किये बिना किस प्रकार सभी जीवोंकेलिये आपने पुष्टिका प्रशस्त पथ प्रकाशित किया है! जिन शास्त्रे और धर्म में सबका अधिकार है उनकी तथा जो शास्त्र और धर्म वर्णाश्रमके अधिकार अनुसार हैं उनकी श्रीमहाप्रभुजीने पृथक् व्यवस्था की है. प्राचीन

सनातन वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाओंको अमान्य किये बिना या उनका उल्लंघन किये बिना भागवतोक्त भक्तिमार्ग और गीतोक्त प्रपत्तिमार्ग का ही उपदेश आज तक पुष्टिमार्गमें अष्टाक्षर और ब्रह्मसम्बन्ध की दीक्षाओं द्वारा दिया जाता है.

वस्तुत: पुष्टिके इस प्रशस्त पथको ये षोडशग्रन्थोंके सोलह कलानिधिरूपी चन्द्र प्रकाशित करते हैं ; जिनकी शीतल सुखद चांदनीमें प्रत्येक पुष्टिजीव योगेश्वरेश्वर वृन्दावनविहारी व्रजाधिप श्रीकृष्णके समीप पहुँचनेका मार्ग ढूंढ सकता है.

प्र. ९ पुष्टि माने क्या? पुष्टिभक्ति किसे कहते हैं?

उ. ९ श्रीमद्भागवतपुराणमें वर्णित भगवानकी दशविध लीलाओंमेंसे पोषणलीलाका वर्णन छठे स्कन्धमें हुआ है. पोषण मतलब भगवानका अनुग्रह. इसे ही हम पुष्टि भी कहते हैं. अब उस पुष्टिके कारण प्रकट होती भक्तिका विचार करें. भगवानके अनुग्रहसे जब निष्काम, अनन्य और अविचल भक्ति प्रकट हो तो ऐसी विलक्षण पुष्टिके कारण प्रकट होती भक्तिको पुष्टिभक्ति कहते हैं.

मराठी भाषामें एक कहावत है– बाप दाखव नाहितर श्राद्ध करा! बापको दिखावो नहीं तो उसका श्राद्ध करना पडेगा! वैसे ही भगवानके स्वरूपमें आसक्ति है तो पुष्टिभक्ति है. और यदि वो नहीं है तो अन्य कोई प्रकारकी भक्ति सम्भव है पर पुष्टिभक्तिका तो अभाव ही समझना. जैसे कृपाके हरेक प्रकारको हम पुष्टिमार्गीय नहीं गिन सकते वैसे भक्तिके हरेक प्रकारको हम पुष्टिभक्ति नहीं गिन सकते. श्रीमहाप्रभुजीने यह बात छठे स्कन्धके निबन्धमें स्पष्टतया समझाई है– "पुष्टि: स्वार्था: परार्था तु भक्तिः, साऽनवमे मता।" अर्थात् पुष्टि जीवात्माकेलिये होती है और भक्ति परमात्माकेलिये, यह अनवम अर्थात् नवम स्कन्धमें पूर्ण कृपासे मिलेगी ऐसा निरूपण करना है.

आजकल जैसे कोई हेतुसे *ट्रस्ट* बनाया जाता है उसमें कोई *ट्रस्टी* बनता है और दूसरे *बेनीफिशियरी.* उसमें *ट्रस्टी* मतलब जो ट्रस्टकी सम्पत्तिकी व्यवस्था सम्भालता हो वह. और *बेनीफिशियरी* मतलब ऐसे ट्रस्टसे लाभ प्राप्त करनेका जो अधिकारी हो वह. श्रीमहाप्रभुजीके अनुसार पुष्टिके

ट्रस्टी स्वयं भगवान हैं और *बेनीफिशियरी* जीव हैं. वैसे ही भक्तिके *ट्रस्टी* हम जीव हैं और *बेनीफिशियरी* भगवान हैं!

कदाचित् कोई वक्त यदि *ट्रस्टी* व्यवस्था सम्भालनेके बजाय ट्रस्टसे मिलनेवाले लाभोंको स्वयं लेने लग जाय, *चेयर्स एडवांटेज* (अर्थात् कुर्सीका लाभ) लेने लग जाय तो उसे *ब्रीच ऑफ ट्रस्ट* अर्थात् विश्वासघात कहा जाता है. वैसे ही हम यदि भगवानके प्रति हमारी भक्तिके कारण कोई लौकिक सुख या पारलौकिक सुख या मुक्ति का लाभ लेनेकी आकांक्षा रखते हों तो प्रभुके साथके हमारे भक्तिमय सम्बन्धमें वह विश्वासघात ही है. भक्तिका सच्चा *बेनीफिशियरी* भगवान ही रहना चाहिये.

भगवान भी कभी अपनी पुष्टिका लाभ लेनेकी वृत्ति नहीं रखते. जो भगवानका भजन करता हो उसपर ही पुष्टि दिखानी ऐसा पक्षपात भगवानको नहीं है. जो भगवानके साथ स्वार्थयुक्त कामभाव या भय या द्वेषयुक्त हिंसाका भाव रखते हैं उनपर भी भगवान तो पुष्टि = कृपा दिखाकर उनका भी उद्धार करते ही हैं! इसीलिये भागवतमें कहा गया है– "कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदम् एव वा। नित्यं हरौ विदधतौ यान्ति तन्मयतां हि ते॥" अर्थ- काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, सौहृद आदि जो भाव हम भगवानमें अखण्डित रख सकें उससे भगवानमें हमारी तन्मयता सध जाती है.

कुछ नासमझ लोग भगवानकी इस समदृष्टिको "टके सेर भाजी टके सेर खाजा" कहकर निन्दा करते होते हैं! उन मूर्खोंको क्या कहना? ऐसे लोगोंको न तो ब्रह्मके अद्वैतकी सच्ची समझ है न तो कर्म और उसके फलके नियमकी सच्ची समझ है.

हमारो देहके प्रत्येक अंगमें हमारा अहंभाव रहता है, जिससे उन अंगोंसे करनेमें आती अनेकविध क्रियाओंके भेदके साथ अपने एक अहंकारका अभेद भी ताने-बानेकी तरह बुना हुआ रहता है. वैसे ही अनगिनत जीवात्माओंके भेदके साथ एक परमात्माके अहंभावका अभेद भी ताने-बानेकी तरह बुना हुआ रहता है. इसलिये जो कुछ हम करते हैं उसकी जीवचेतनामें होती प्रतीति अनुसार देखेंगे तो जीवका कर्तृत्व स्फुरित होता है, पर यदि परमात्मचेतनामें होती प्रतीति अनुसार देखें तो परमात्माका

प्रेरकत्व - कारयितृत्व स्फुरित होने लगेगा.

उदाहरणत: बातचीतमें जो लोग संयम नहीं रख सकते उनकी वाणी स्वच्छन्द बन जाय तब "(वाणी) बकता है" ऐसा कहा जाता है. जब अहन्तासे हमारी वाणीको काबूमें लें और संयमसे सावधानीपूर्वक बोलनेका प्रयास करे तब तो "वाणीद्वारा मैं ऐसा कहता हूँ" ऐसा कहा जाता है. वाणी कहनेकी क्रियामें कर्ता सी है और हम प्रेरक कारयिता से बन जाते हैं. वैसे ही ईश्वर हमारे प्रत्येक कर्मके प्रेरक - कारयिता हैं, हम कर्ता हैं. ऐसी स्थितिमें ईश्वर यदि समदृष्टि रखता हो तो उसमें "टके सेर भाजी टके सेर खाजा" की बात लागू नहीं होती.

वाणीसे बोला जा सकता है पर सुना नहीं जा सकता. कानसे सुना जा सकता है पर बोला नहीं जा सकता. वैसे ही आँख, नाक, त्वचा, हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ उन - उन कार्योंको सम्पन्न करती हैं. उनमें एक इन्द्रियद्वारा दूसरी इन्द्रियका कार्य किया नहीं जा सकता. पर यदि हम अहन्तामें देखेंगे तो लगेगा कि "वे सब कार्य या व्यापार 'मैं' स्वयं ही कर रहा हूँ". जैसे इन्द्रियोंका भेद अपनी अहन्ताके बीच नहीं आता वैसे ही अपनी भिन्न - भिन्न जीवचेतनाका भेद परमात्माकी सर्वव्यापी दिव्य चेतनामें स्फुरित होनेवाली अहन्ताके बीच नहीं आ सकता. इसलिये परमात्माकी पुष्टि सुसाधन, नि:साधन या दुष्टसाधन जीवोंपर भी प्रगट हो सकती है. तब भी सुसाधनता, नि:साधनता और दुष्टसाधनता का भेद तो कायम रहता ही है!

अपनी एक अहन्तासे अभिन्नतया सम्पन्न होनेके बावजूद जैसे देखनेकी, सुननेकी, पकडनेकी या दौडनेकी विभिन्न क्रियाओंमें भिन्नता रहती है ; अपनी अनेकविध इन्द्रियों– आँख, कान, हाथ या पैर आदि– के भेदके कारण इसे हम "टके सेर भाजी टके सेर खाजा" नहीं समझते, वैसे ही विविध जीवात्माओंकी कभी सुसाधनता, कभी नि:साधनता या तो कभी दुष्टसाधनताके भेदमें भी एक अभिन्न पुष्टिको यदि परमात्मा प्रकट करता हो तो उसमें "टके सेर भाजी..." क्यों सोचना चाहिये!

इसके आधारपर ही श्रीमहाप्रभुजी अपने कर्म, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, तप, स्वाध्याय, संयम, नियम, व्रत, तीर्थ, जप, ध्यान, अर्चन आदि कोई भी साधनको वास्तविकतया उतना सक्षम नहीं मानतें कि उसका

अवलम्बन करनेपे परमात्माकी प्राप्तिको निश्चित परिणाम ही माना जा सकता हो! श्रीमहाप्रभुजीके मतानुसार प्रभुप्राप्ति केवल पुष्टिसे ही हो सकती है, साधनोंसे नहीं. उपनिषद्में कहा गया है– "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।" अर्थ– परमात्माकी प्राप्ति प्रवचन, स्वाध्याय या मेधा, या बहुश्रवण द्वारा नहीं होती, क्योंकि वह परमात्मा जिसका वरण करे वो जीवात्मा ही उसे प्राप्त कर सकती है".

अब यह परमात्मा यदि सुसाधन जीवपर कृपा करके उसका वरण करे तो सुसाधन जीव उसे पा सकता है, निःसाधन जीवपर कृपा करके उसका वरण करे तो निःसाधन जीव भी उसे पा सकता है ; और दुष्ट जीवोंपर यदि कृपा करके उनका वरण करें तो दुष्टसाधन जीवात्मा भी परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं! शिशुपाल आदि दुष्टसाधनवाले जीवात्माओंको भगवानके चरणारविन्दकी प्राप्ति हुई थी. वैसे अनेक दृष्टान्त हमें शास्त्रोंमें मिलते ही हैं. उन्हें देखनेपर हम समझ सकते हैं कि वास्तविक साधन तो पुष्टि ही है ; बाकी सब तो उसके पृथक्-पृथक् व्यापार हो सकते हैं.

यह एक गंभीर विवेचन हैं अतः उसे हम एक सरल उदाहरणसे समझ लें. यदि मुझे गरमी लगती हो तो मैं बिजलीका पंखा चलाता हूँ. अब हवा पानेका साधन पंखा कहा जायेगा. पर वो यदि फिरता न हो तो हवा मिलेगी नहीं! और पंखेकी पांखें निकाल दें तो चाहे कितने ही वेगसे वह क्यों न फिरता हो फिर भी हवा तो नहीं मिलेगी! याने हम पंखेको साधन मानते हैं और उसका फिरना यह व्यापार है.

वैसे ही साधन परमात्माकी पुष्टि है और हममें प्रकट होती कर्म, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, तप, स्वाध्याय, संयम, नियम, व्रत, तीर्थ, जप, ध्यान और अर्चन आदि वृत्तियाँ वह पुष्टिरूप साधनके पृथक्-पृथक् व्यापार हैं, पंखेकी फिरनेकी क्रियाकी भांति.

यह सब उदाहरण तो अच्छे साधनोंके ही हमने देखे, पर परमात्मा इतना समर्थ है कि वह चाहे तो असाधनोंको भी साधन बना लें और दुष्टसाधनोंको भी सुसाधन बना सकता है! इसीलिये काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्यभावना, मैत्री आदि हमारे हरेक मनोभावोंमें स्वयंके प्रति

तन्मयता सिद्ध कराके वह परमात्मा जीवोद्धार करनेमें समर्थ हैं. कंस, पूतना, शिशुपाल आदिके अनेक उदाहरणोंमें यह दिव्य रहस्यका निरावरण सबूत हम देख सकते हैं.

श्रीमहाप्रभुजीके मतानुसार इसलिये परमात्मामें भक्ति साधी नहीं जा सकती परन्तु परमात्माकी पुष्टि होनेपर ही जीव भक्तिको प्राप्त कर सकते हैं. क्योंकि यदि हम अपने प्रयासोंसे भक्ति साधने जायेंगे तो उससे पहले मनको मनाना पडेगा, कि परमात्माकी भक्तिद्वारा लौकिक सुख-समृद्धि बढेगी! या मन यदि विरक्तिप्रधान हो तो उसे यों मनाना पडेगा कि परमात्माकी भक्तिसे ब्रह्मज्ञान या मोक्ष मिल सकेगा! और ऐसे करनेपर हम, श्रीमहाप्रभुजीने आगे बताया उस प्रकार, अपनी भक्तिको स्वार्थवाली बना देते हैं. हम प्रारम्भमें ही देख गये कि पुष्टिका लाभ पानेके अधिकारी जीव हैं और भक्तिका लाभ पानेका अधिकारी *बेनीफिशियरी* केवल परमात्मा ही होना चाहिये. भक्तिद्वारा लौकिक सुख-समृद्धि या मुक्ति पानेकी कोशिशमें हमारी भक्ति भगवदर्था न रहकर स्वार्था बन जाती है. भगवदर्था भक्तिकी सरिता तो पुष्टिकी अंधाधुंध बरसात हमारे हृदयप्रदेशपर भगवान बरसायें तभी बहकर परमानन्दके सागर श्रीकृष्णकी दिशाकी ओर बह निकलती है! अन्यथा यह सम्भव नहीं है.

इसलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "नामध्यानार्चनादिकं पुरस्कृत्य हरेः वीर्यं निरूप्यते।" अर्थ- उन-उन जीवोंकी उद्धारकी कथामें कहीं नामसे उद्धार वर्णित है, तो कहीं ध्यानसे या तो कहीं पूजनसे भी. यह सब नाम, ध्यान, पूजन द्वारा अन्तमें श्रीहरिके सामर्थ्यका ही निरूपण अभिलषित है.

अजामिलने अपने पुत्रका नारायण नाम रखा था और अपनी मृत्यु समय वह अपने पुत्रको ही मोहवश याद कर रहा था. फिर भी वाणीमें नारायण! नारायण!! नारायण!!! की धून चलती थी इसलिये विष्णुदूतोंने यमदूतोंको उसे नरकमें ले जानेसे रोका था! इसमें कहनेको तो नामका माहात्म्य है, पर अन्दरसे तो भगवानकी पुष्टि=कृपा ही उसपर प्रकट हुई थी. पुष्टि इस अजामिलके आत्मोद्धारका साधन था और नामोच्चारण तो पुष्टिका व्यापार बन गया! वैसे ही शिशुपालके दृष्टान्तमें उसके आत्मोद्धारकी साधन पुष्टिने द्वेषको या सौ गालियोंको अपना व्यापार

बना लिया था! वाल्मीकि "मरा-मरा" कहकर भी पार हो गये और हम "राम-राम" कहते हैं फिर भी उस ऊंचाईपर नहीं पहुँच सकते! उसका कारण यही कि वाल्मीकिके दृष्टान्तमें पुष्टिने "मरामरा" को अपना व्यापार बना लिया था, जब कि अपने "राम-राम" के जपमें हम अपना साधनबल लगा रहे होते हैं. हम रामनाम जपें यह उत्तम बात हो सकती है, फिर भी जब तक श्रीरामचन्द्रजी उसे अपनी पुष्टिका व्यापार न बनायें तब तक या तो हम रामनाम जपते हुए उबासी लेने लग जायेंगे या तो वाणी रामनाम रटती होगी और मन कोई क्षुद्र काममें फँसा होगा! याने साधन तो एकमात्र परमात्माकी कृपा ही है, बाकी सब उसके व्यापार होते हैं. श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तानुसार परमेश्वरकी पुष्टिके व्यापारतया जब हमारे भीतर भोग-मोक्षकी कामनासे अदूषित ऐसी अविचल भक्ति प्रगट हो तब उसे पुष्टिभक्ति कहते हैं.

इसलिये एक अर्थमें हमारे भीतर प्रकट होते जप, तप, यम, नियम, स्वाध्याय, संयम, योग, वैराग्य, कर्म, ज्ञान या भक्तिरूप व्यापारोंकी प्रभावोत्पादकता नगण्य है. नगण्य इसलिये कि इसमेंसे कोई भी व्यापार जीवकर्तृत्वबलसे प्रकट हो तो यह सुन्दर बात है पर परमात्मा उसके फलनियमसे बंधे हुए ही हों ये जरूरी नहीं! परमात्मा कर्तुं समर्थ होनेसे ऐसे सत्साधनोंसे जीव सम्पन्न न हो वैसे निःसाधन जीवको भी फल देनेकेलिये समर्थ हैं. परमात्मा अकर्तुं समर्थ होनेसे ऐसे सत्साधनोंसे सम्पन्न सुसाधन जीवको फल न देनेकेलिये भी समर्थ हैं. वैसे ही परमात्मा अन्यथाकर्तुं समर्थ होनेसे यह जप, तप, यम, नियम आदि साधनोंसे विपरीत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि दुष्टसाधनोंवाले जीवोंको भी मुक्तिदान करनेकेलिये समर्थ हैं. जैसे पूतना, कुब्जा, कंस, शिशुपाल आदिका उद्धार प्रभुने किया था या नहीं? उनके उद्धारका साधन उनके दुर्गुण नहीं थे पर प्रभुकृपा थी. प्रभुकृपाने उनके दुर्गुणोंको उनके आत्मोद्धारके व्यापार बना लिये थे.

जैसे न्यायालयके निर्णयोंमें कभी-कभी कुछ *रूलींग* दी जाती है. वैसी *रूलींग*को दूसरे मुकद्दमोंमें तुलना कर दिखाकर उसेके आधारपे न्यायकी प्रार्थना कँई बार वकील करते हैं. उसी प्रकार शास्त्रोंमें अनुग्रहके व्यापाररूपमें प्रकट होनेवाले जो-जो अच्छे साधन या दुष्टसाधनों की

जानकारी मिलती है उसके आधारपर क्या हम भी प्रभुसे प्रार्थना कर सकते हैं कि "हे प्रभु! मेरेमें भी काम, क्रोध आदि दुर्गुण हैं, फिर भी तू यदि मुझे तेरी कृपाका पात्र बनाये तो उसमें तुझे कुछ फर्क नहीं पडेगा!"

नहीं. क्योंकि जैसे एक वकील किसी दावेके निर्णयमें दी गई कानूनी व्याख्याओंका अपने दावेमें प्रमाण दे, दोनोंके बीच तुलना भी सिद्ध कर दिखायें, फिर भी उसे स्वीकारना या नहीं यह न्यायाधीशके निर्णय पर अवलम्बित है. वैसे ही परमात्माके समक्ष कृपाकी याचना करते हुए हम अपनी नि:साधनता या दुष्टसाधनता या वैसे अन्य उल्लेख भी करें, फिर भी कृपाके पात्र हम हैं या नहीं यह तो केवल परमात्माकी ईच्छा पर ही निर्भर है.

परमात्मा दुष्टसाधनताको भी कृपाका व्यापार बनाता हो इसलिये यदि हम दुष्टसाधनता साधने जायेंगे तो उससे कोई काम होनेवाला नहीं है. वैसे ही परमात्मापेसे निष्ठा हटाकर हमारे साधनबलपर ही यदि निष्ठा साधनेका हम प्रयास करेंगे तो हमारी कृपार्थिता स्पष्ट नहीं हो पायेगी. इसलिये श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त है "स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्मात् च निवर्तनम्". जैसी अपनी शक्ति या सामर्थ्य हो तदनुसार स्वधर्माचरण करते रहना और विधर्माचरणसे बचते रहना चाहिये. ऐसी रीति-नीति रखकर पूर्णनिष्ठा तो केवल प्रभुपर ही रखनी चाहिये.

हमारे धर्म साधनबलकी अपेक्षा धर्मी परमात्माका कृपाबल अधिक प्रभावशाली होता है ऐसी निष्ठासे, साधनके बजाय स्वयं परमात्मामें निष्ठा, आदर, रुचि या स्नेह रखना उसे भक्तिमार्गमें नि:साधनभाव कहा जाता है. यह नि:साधनभावात्मिका भक्ति प्रभुकृपारूप जो साधन है उसका व्यापार ही बन सकती है. अन्यथा हमारे हृदयका सामर्थ्य इतना नहीं कि वह भाव वास्तविकतया अपने हृदयमें स्पष्ट रूपसे आरूढ हो सके! इसलिये पुष्टिभक्तिका एक प्रमुख लक्षण "नि:साधनभावात्मिका भगवदासक्ति" भी समझना जरूरी है.

जिस जीवात्मामें नि:साधनभावात्मिका पुष्टिभक्ति प्रकट हो सकती है ऐसे जीवको श्रीमहाप्रभुजी पुष्टिमार्गीय जीवके रूपमें स्वीकारते हैं. जिस जीवमें दुष्टसाधनोंका आकर्षण अधिक है वो या तो प्रवाहमार्गीय जीव

है या उसमें बहुकालिक प्रवाहमार्गीय आवेश है. वैसे ही जो जीवमें सत्साधनोंमें भगवानसे अधिक निष्ठा है उसे श्रीमहाप्रभुजी मर्यादामार्गीय जीव घोषित करते हैं. जिस जीवको परमात्मापे ही केवल पूर्ण निष्ठा हो, बाकी उससे जो कुछ शक्य हो उतना धर्माचरण करता हो पर जो शक्य न हो वो न भी करता हो(!), फिर भी कोई भी प्रकारसे भगवद्विमुख न हो –वैसे जीवको पुष्टिमार्गीय नि:साधन जीव समझना चाहिये.

नि:साधनताकी भावभूमिमें प्रभुकी पुष्टिके बीजके बोये जानेसे होनेवाली फसल –यह पुष्टिभक्तिका स्वरूप समझमें आनेपर भगवत्कथा नवमस्कन्धसे दशमस्कन्धकी ओर आगे बढ सकती है.

प्र. १० निष्ठाका मतलब क्या?

उ. १० अपने यहाँ शास्त्रोंने एक व्यवस्था दी है और उसीका श्रीमहाप्रभुजीने स्वीकार किया है. महाप्रभुजी अपना कुछ कहनेका दावा नहीं करते ; महाप्रभुजी तो कहते हैं कि शास्त्रोंका तात्पर्य यह है. महाप्रभुजी अपना नहीं, शास्त्रका मत हमें समझाते हैं. क्योंकि श्रीमहाप्रभुजीने हमें समझाया है इसलिये इसे हम महाप्रभुजीका मत कहते हैं, पर वास्तवमें वह शास्त्रका मत है.

तो शास्त्र कोई भी धर्म, उसकी साधनाप्रणाली, उसके आराध्य देवको अमान्य नहीं करता. पर मान्य करनेका अर्थ ये नहीं कि हम उसका अनुसरण करें. हम ईश्वरवादी है और ईश्वरावलम्बिनी साधनाको अनुसरते हैं, पर जो अनीश्वरवादी साधनाएँ हैं उनके बारेमें भी हमारा शास्त्र यह नहीं समझाता कि वे शैतानोंद्वारा प्रवर्तित हैं. जयदेवजी कहते हैं– "सदयदर्शितपशुघातं केशवधृतबुद्धशरीरं जय जगदीश हरे।" भगवान कहते हैं "वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्।" भगवान कभी ऐसा कहेंगे कि वेद अप्रमाण हैं, वेदमें कही हुई बात सब मिथ्या हैं, तो हम ऐसा नहीं कहेंगें कि वो शैतान कह रहा है. वह भी भगवान ही कह रहे हैं. पर हमारे पास ये स्पष्टीकरण है कि भगवानने यह बात जिसे कही है उसकेलिये ये बात सच है ; हमें यह बात नहीं कही.

जैसे कृष्ण व्यापक है तो जिसे नरकमें होनेका भाव है वो भी सच्चा है. भगवान कहाँ हैं वो तो पूछनेकी बात नहीं न? नरक छोडके सब जगह हैं ऐसा तो नहीं न? पर जिसे जहाँ भजना हो वहाँ भजे. हम माथे बिराजते भगवानको भजते हैं. वैसे ही प्रभु तो अनेक प्रकारकी आज्ञा करते हैं. जिसे जो आज्ञा की हो उसे वो पालनेकी होती है. जिन्हें युद्ध करनेकी आज्ञा दी हो उन्हें युद्ध करना चाहिये, शान्तिसे समाधि लगानेकी आज्ञा दी उसे समाधि लगानी चाहिये, जिन्हें सेवा करनेकी कही उन्हें सेवा करनी चाहिये.

तो अधिकारानुसार उपदेश है और उपदेशानुसार आचरण है. हमारे यहाँकी व्यवस्था यह है कि प्रभु जब उपदेश देते हैं तो उन-उन जीवके उन-उन अधिकारको लक्ष्यमें रखकर देते हैं. बुद्धावतार वेदको मिथ्या कहते हैं, पर वो कहते हैं न, तो ठीक है ; जिनकेलिये कहते हैं उनकेलिये वो बात सच होगी. हमें कहते हैं "वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः" तो हमारे लिये तो वेद सच है.

तो शास्त्र समझाते हैं कि अनीश्वरवादका उपदेश कोई शैतानने नहीं दिया ; वह भी परमात्माने ही दिया है. जो-जो साधनाएँ प्रवृत्त हुई हैं वे प्रभुकी वैसी-वैसी इच्छासे वैसे-वैसे अधिकारीको लक्ष्यमें रखकर प्रवृत्त हुई हैं. "जो-जो जा रसके अधिकारी भरत सम्भाले न छलके. श्रीवल्लभ रोमरोम रस झलके". जिसमें प्रभुको जो रस भरना होगा वो भरनेको वैसा घडा बनाया होगा ; उसमें हमें क्या आपत्ति होनी चाहिये? हमारा घडा जो रस भरनेकेलिये बनाया गया है वो रस उसमें छलके नहीं वैसे भर जाये तो हमारी बात बन गई ; और तो क्या चिंता करे? हम ये नहीं कहते कि कोई मार्ग मिथ्या है, पर हमें जिस मार्गका उपदेश दिया गया है उस मार्गको हम निष्ठापूर्वक अनुसरेंगे. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "स्वाधिकारानुसारेण मार्गस्त्रेधा फलाय हि।" तीनों कर्म, ज्ञान, भक्तिमार्ग अपने अपने अधिकारानुसार फलप्रद हैं ; कोई भी मार्ग निष्फल नहीं. पर हमें उस मार्गका अनुसरण करना है जिसका हमें उपदेश दिया गया है, या जिस मार्गका उपदेश हम जी रहे हैं.

आचरण करनेसे पहले हमें विचार करना चाहिये कि किस मार्गपर

मुझे प्रवृत्त होना चाहिये. प्रवृत्त होनेके बाद तुम घोटाला करो कि इस मार्गपर थोडा चल लिया तो अब थोडे उस मार्ग पर चलें! तो दो नावपे तो यात्रा नहीं हो सकती ; या तो ये नावपें या तो वो नावपे. इस हेतुसे अपने यहाँ निष्ठाकी बात कही गई है.

संस्कृत भाषामें निष्ठाका अर्थ है नितरां स्थिति. जो नाव तुमने पसन्द की, जिस नावमें तुम्हें यात्रा करनी है उसमें दोनो पैर धर दो उसका नाम निष्ठा. इस नावमें यात्रा करनी है और दूसरी नावमें एक पैर धरना है ऐसा मत करो. तुम नावका चयन करनेमें थोडा समय ले लो. नावमें बैठो ही मत, किनारेपे खडे रहो ; उसमें कोई हरकत नहीं. पर जिस एक नावको यात्रा करनेकेलिये पसन्द करो उस नावमें तुम्हारे दोनों पैर होने चाहिये. नितरां स्थितिः, पूरी पूरी एक ठिकाने स्थिति मतलब निष्ठा. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "निष्ठाभावे फलं तस्मात् नास्ति एव इति निश्चयः।" कोई मार्गपे तुम्हें निष्ठा नहीं तो वो मार्ग तुम्हें फल नहीं दे सकता. फिर महाप्रभुजी संक्षेपमें निष्ठाका मतलब समझाते हैं– "निष्ठा च साधनैः एव, न मनोरथवार्तया।" जिस मार्गमें तुम्हें जो करनेकेलिये कहा गया हो वो करनेका तुम प्रयास करो तो निष्ठा है. तुम बहुत प्रवचन सुनो ; इसका भी सुनो, उसका भी सुनो या फिर बहुत मनोरथ करो, कि ऐसे भी हो जायेगा और वैसे भी हो जायेगा तो वो निष्ठा नहीं है.

एक भाईने मुझे कहा कि हम तो मानते हैं कि कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनोंका समन्वय हो जाना चाहिये, क्योंकि त्रिवेणीसंगम होना चाहिये. मैंने कहा जाके प्रयागमें देखके आओ, सरस्वती अब नहीं रही ; सिर्फ गंगा - यमुना हैं. सरस्वती सूख गई है. किसी कालमें थी सरस्वती, आज नहीं, हमारी निष्ठा न होनेसे. कोई भी एक मार्गको पकडो. पर सम्पूर्ण निष्ठासे एक मार्गको पकडो ; फिर सरस्वती नहीं होगी तो भी हरकत नहीं आयेगी. पर एकको भी निष्ठासे नहीं अनुसरो और कहो कि ज्ञान करेंगे, कर्म करेंगे और भक्ति भी करेंगे क्योंकि यह तो त्रिवेणीसंगम है! तो निश्चित समझो कि तुम्हारी सरस्वती सूख गई है! सरस्वती अभी बह नहीं रही, उसमें कुछ घोटाला है. तुम मनोरथ करते रहो, कि इस मार्गमें जायेंगे तो ऐसा होगा और उस

मार्गमें वैसा होगा, तो कुछ होनेवाला नहीं. और उस मार्गकी बातें करते रहो, प्रवचन करते या सुनते रहो उससे भी कुछ होनेवाला नहीं.

साधन शुरू कर दो, दवाई मुँहमें लेके पी जाओ ; फिर रोग मिटेगा. और यदि दवाईके लेबल देखते रहो, बोतल देखते रहो, दवाईकी किमत बाँचते रहो, उसका उत्पादक कौन है ये सब जानकारी ले लो, लेने सम्बन्धी सूचनाएँ पढ लो, रोगके लक्षण पढ लो... सब जानकारी पा लो पर अगर गोली खाई नहीं तो रोग रहनेवाला, रहनेवाला और रहनेवाला ही है. रोगका बराबर निदान करवाओ और तुम्हें भरोसा हो जाये कि ये रोग है और उसे मिटानेकेलिये ये गोली है तो फिर वो गोली खा लो और रोग मिटे और बात खतम. पर तुम जानकारी ही पाते रहो और कोई गोली खाओ ही नहीं तो इस प्रक्रियाके कारण ही रोग बढ जायेगा.

आज वैष्णवोंकी तादात और सिद्धान्तकी जानकारी व्यस्त प्रमाणमें है, क्योंकि आज हमारा जीवन इतना जल्दबाजीसे भरा हो गया है कि आदमी किसी बातको गम्भीरतासे नहीं लेता. बस *थियेटर*में जाकर रविवारको फिल्म देख आयेंगे. अच्छी होगी तो मज़ा आयेगा और धीमी गतिवाली होगी तो *अॅरकंडीशन*में सो जायेंगे! तुम सो जाओ तो हरकत नहीं, पर तुम्हारे खुर्राटोंसे गम्भीरतासे फिल्मकी मज़ा लेनेवाले दर्शकोंकी क्या गति होगी?

एक बार बिस्मिल्लाखानकी शहनाईका प्रोगाम था. इतनी भीड थी कि सब टिकट बिक गई. मुझे मिली नहीं और मैं द्विधामें था. इतनेमें एक भाई आये और मुझे कहा– "मेरे पास *एकस्ट्रा टिकट* है, आप आईये, हम साथमें बैठते हैं". मुझे लगा उदार आदमी है! हमें टिकट दे दी. अब घुसनेके खातिर तो घुस गया पर अन्दर जाके बडा धर्मसंकट आ गया! क्योंकि बिस्मिल्लाखानने शहनाई शुरु की और वो आदमी सो गया! उसके नाककी शहनाई साथ बजने लगी! आसपासवाले तो कह भी सके ; मैं कैसे कहूँ कि तुम ऐसा मत करो? मैंने जोर जोरसे "वाह-वाह" कहना शुरु किया, तो जागकर बोला "क्या शहनाई बजाता है!" फिर सो गया! फिर मैंने "वाह-वाह" की तो फिर जागकर बोला "क्या फूँकपे नियन्त्रण है उसका!" मैंने कहा "साँसपे

उससे भी ज्यादा नियन्त्रण है!''

तो लोग ऐसे नाप-तोल करके प्रोग्राममें आ जाते हैं कि नींद न आये तब तक सुनेंगे और नींद आई तो *ऑरकन्डीशन*में सो जायेंगे! पर ऐसा करनेके बजाय घरमें ही सो जाओ तो क्या हरकत है? दूसरेके त्रासकी चिन्ता नहीं करते उसमें मेरे जैसे आदमी फँस जाते हैं. तो वैष्णवोंका विस्तार ऐसे श्रोताओंकी तरह बढा है पर गहराई कम हुई है. क्योंकि हम सुनते नहीं ; सो जाते हैं. सिद्धान्तकी जानकारी कम हुई है क्योंकि समूचा प्रोग्राम हमने सोते-सोते ही सुन लिया. बीच-बीचमें जागकर बोले ''फूँकपर अच्छा नियन्त्रण है ; महाराजने प्रवचन बहुत अच्छा किया!'' तुमने बहुत सुना नहीं इसलिये.

प्र. ११ ब्रह्मसम्बन्धका स्वरूप क्या है?

उ. ११ ब्रह्मसम्बन्ध भगवत्सेवाकी प्रतिज्ञा है कि मैं तेरी सेवा करूंगा, मैं तेरा दास हूँ. तुझे भूल गया था, पर तूने जो कुछ मुझे दिया वो तेरी सेवाकेलिये दिया, उसका अब मैं तेरे लिये विनियोग करूंगा. आजसे मैं तेरा दास हूँ, तेरी सेवामें प्रवृत्त होऊंगा. ब्रह्मसम्बन्ध प्रभुके सन्मुख प्रभुसेवा करनेकी अपनी घोषणा है.

कुल मिलाकर ब्रह्मसम्बन्धमन्त्रमें आत्मज्ञानोपदेश, भगवत्स्वरूपज्ञानोपदेश, समर्पणोपदेश, दास्योपदेश और स्नेहोपदेश –इतने उपदेश दिये गये हैं. सेवामयी भक्तिमें आत्मज्ञान, भगवत्स्वरूपज्ञान, समर्पण, दास्य और स्नेह –ये पाँचोंकी आवश्यकता है ; इनमेंके एक-दोको छोडकर सेवा करनेपे वैगुण्य आ जायेगा.

आत्मज्ञानोपदेशसे जीवको अपनी सूक्ष्मताका तथा वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है, अतः अपना कर्तव्य स्फुरित होता है और दैन्य आता है. भगवत्स्वरूपज्ञानोपदेशसे प्रभुका माहात्म्य बोधित होता है. आत्मसमर्पणोपदेशसे जीवका ऐहिक पारलौकिक सब कुछ प्रभुको समर्पित करनेसे जीवमें दोष नहीं रह जाते, सेवार्थ अपेक्षित शुद्धि आती है. जैसे गंगाजीमें मिलनेपे अपवित्र जल भी गंगाजल हो जाता है वैसे. समर्पणके कारण ''सैयां भये कुतवाल अब डर काहेका''? ''सब शुद्ध हो गया, अब क्या चिन्ता'' की अनपेक्षित निश्चिन्तता न आ जाये अतः दास्यभावका उपदेश

दिया गया है. कोई ऐसे भी हो सकते हैं जो समर्पित हों पर दास न हो, उदाहरणत: मित्र या पत्नी. नौकर दास होता है पर समर्पित नहीं होता. सेवामें कोई सबका विनियोग करता हो पर बिना दासभावके तो सेवा मशीनकी तरह होगी, कर्ममार्गीय होगी ; भक्तिमार्गीय नहीं. और जो विनियोग करानेकी प्रेरणा न देता हो वैसा दासभाव सेवामें क्या कामका? तो सेवामें दास्य और समर्पण दोनों भाव चाहिये. इनसे सेवार्थ अपेक्षित शुद्धि और निश्चिन्तता आती है. दासत्व भाररूप न लगे अत: अन्तमें पंचाक्षरमें स्नेहोपदेश है. जिसके गुलाम हो उसके प्रति स्नेह नहीं होता, पर जिसके प्रति स्नेह हो उसकी गुलामी भी अच्छी लगती है. केवल स्नेहभाव हो तो भक्ति हो सकती है पर भक्तिमय सेवा न भी हो पाये. तो सेवाकेलिये स्नेहके साथ समर्पण और दास्य का भाव होना भी जरूरी है. ये पाँचों मिलकर जीवमें भक्तसेवकत्वका भाव लाते हैं.

प्र. १२ ब्रह्मसम्बन्ध लेनेवालेकेलिये आवश्यक और अनिवार्य कर्तव्य क्या?
उ. १२ हमारे पास आकर लोग कहते हैं- "ब्रह्मसम्बन्ध दो". हम पूछें "भगवत्सेवा करोगे?" तब वे कहते हैं "महाराज! वह तो निभेगी नहीं". तो हम कहते हैं "तो फिर ब्रह्मसम्बन्ध क्यों लेना चाहते हो?" प्राय: वे कहते हैं "हमारे पिताजीने आपके पिताजीसे ब्रह्मसम्बन्ध लिया था". तब मुझे कहना पडता है "तुम्हारे पिताजीने मेरे पिताजीसे ब्रह्मसम्बन्ध लिया वह न जाने क्यों लिया और न जाने उन्होंने क्यों दिया? वह तो तुम्हारे पिताजी जाने और मेरे पिताजी जाने. पर मैं तो आपको कह रहा हूँ कि भगवत्सेवा कर सकते हो तो ब्रह्मसम्बन्ध लो, नहीं तो मत लेना".

एक बार हमें एक सज्जनने कहा "आप ब्रह्मसम्बन्ध दे दो, फिर हम और भगवान आपसमें समझ लेंगे!". मैंने कहा "आप और भगवान समझ सकते हो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है. भगवानसे आप समझ लो और भगवान आपसे समझ ले तो उसमें मेरा क्या गया? मियां-बीबी राजी तो क्या करेगा काजी! यदि आप भगवानसे समझ लेते हो और भगवान आपसे समझ लेते हैं तो मुझे क्या करना

शेष रहा?''!

किन्तु श्रीगुसांईजीका स्पष्ट आदेश है ''विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः, अविचारितदानेन स्वयं दाता विनिश्यति''. आप यदि ब्रह्मसम्बन्ध नहीं लेते हैं तो उसमें मैं उतना नुकसान नहीं देखता जितना नुकसान मैं इस बातमें देखता हूँ कि ब्रह्मसम्बन्ध लेकर कोई भगवत्सेवा न करे. क्योंकि मैं अजगर बनने तैयार नहीं. वार्तामें आता है कि गुरुजीने चेले तो इकठ्ठे कर लिये किन्तु जो कर्तव्यनिर्देशन, जो मार्गनिर्देशन अपेक्षित था वह तो दे नहीं सके. इसलिये जितने शिष्य थे वे सब चींटियाँ बन गये और गुरु अजगर बन गये! वे सब चींटी बनकर जब अजगरको खा रहे थे उस समय मार्गमें महाप्रभुजी पधार रहे थे. तब शिष्योंने पूछा ''महाराज! इस घटनाका क्या तात्पर्य?'' तो आपश्रीने कहा ''जो गुरु है वे अजगर बन गये है और जो चेले हैं वे चींटियाँ बन गई हैं और अपना कर्ज वसूल कर रही हैं''. तो मेरे कहनेका मतलब यह है कि मैं अजगर बननेको तैयार नहीं हूँ. तुम तो तुम्हारा हिसाब चुका लोगे किन्तु मैं इसकेलिये तैयार नहीं हूँ. मुझे अजगर नहीं बनना.

ब्रह्मसम्बन्ध लेना है तो अवश्य भगवत्सेवाकेलिये हम लें. भगवत्सेवाके जो प्राचीन आकार-प्रकार थे वे तो उस युगके अनुरूप थे. वस्त्र भी उस युगके अनुरूप बनाये गये थे. उदाहरणतः सेवारीतिके पुस्तकमें लिखे हुए कीनखाबके वस्त्र अब बनने ही बन्द हो गये! तो क्या शीतकालमें ठाकुरजीको वस्त्र नहीं धराने? पर जितना प्रकार निभ सके उतना अवश्य निभायें. नहीं तो ब्रह्मसम्बन्ध न लें.

वियेतनामके साथ अमरिकाका युद्ध चलता था उस वक्त केनेडीने बहुत सुन्दर बात कही थी, कि सुलेह करनी हो तो एक टेबल और दो कुर्सीकी जरूरत है और न करनी हो तो तोप, विमान सब चाहिये. वैसे ब्रह्मसम्बन्ध लेना हो तो बहुत कम जरूरत है और न लेना हो तो बहुत सारी जरूरतें हैं. लेना हो तो यह जरूरत है कि तुम्हें महाप्रभुजीद्वारा उपदिष्ट भक्तिमार्गमें निष्ठा होनी चाहिये. है तो ब्रह्मसम्बन्ध ले लो. नहीं हो तो बहुत सारी जरूरतें हैं— एक दिन उपवास करना पडेगा, गुरुघर जाना पडेगा, ठाकुरजी पधराने पडेंगे, उनकी सेवा करनी पडेगी, असमर्पितके त्यागका नियम लेना पडेगा, घरमें किसीको

सेवा पसन्द न पडे उसके झघडे हो वे झघडे सहन करने पडेंगे, *टेन्शन* होगा तो डोक्टरसे नींदकी गोलियाँ लेनी पडेगी... कँई जरूरतें हैं! "उनकी मरजी न हो तो क्या दे सूल, दास्तां खत्म एक आहमें है". एक गहरे निश्वासमें पूरी कहानी कह दी. एक निष्ठा समझो तो सब बात आ गई. और निष्ठा न समझे तो बडी रामायण है, भागवतके द्वादशस्कन्ध कहने पडेंगे!

प्र. १३ ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके बाद सेवा न करें तो दोष लगता है क्या?
उ. १३ श्रीमहाप्रभुजी सेवापर इतना भार देते हैं, फिर भी वे जानते हैं कि हम पुष्टिमार्गीय होनेके बावजूद कुछ परिस्थितियोंमें सेवा नहीं कर सकेंगे. इसलिये श्रीमहाप्रभुजी वैसे जीवोंको भक्तिमार्गकी कक्षाके बदले शरणागतिकी कक्षामें स्थित होनेकी स्पष्ट आज्ञा करते हैं. ब्रह्मसम्बन्ध लेकर जिनसे सेवा नहीं निभनेवाली हो उनको ब्रह्मसम्बन्ध न देकर केवल अष्टाक्षरमन्त्रकी ही दीक्षा देनेकी जो प्रणाली थी वह सच्ची प्रणाली थी. जिनसे सेवा हो सके उनको ही ब्रह्मसम्बन्ध देना चाहिये.

पर आजकल लोग आग्रह करते हैं "महाराज! आप ब्रह्मसम्बन्ध दे दो, फिर हम देख लेंगे". श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि लेनेवालेको कुछ हानि नहीं है पर देनेवालेको हानि होती है. इसीलिये श्रीमहाप्रभुजीने वार्तामें समझाया कि समझे बिना दीक्षा लेनेवाले चेले चींटी बनकर दीक्षा देनेवाले गुरु अजगरको काट रहे थे. एक भाईने मुझे कहा "आप ब्रह्मसम्बन्ध दो. फिर आप छूटे. मैं भगवानके साथ समझ लूंगा." मैंने कहा "भगवान समझते हो तो मुझे क्यों बीचमें डालते हो? पहेले ही समझ लो न भाईसा'ब! मुझे अजगर बनानेमें तुम्हें क्यों रुचि है यह समझाओ".

इसलिये ये सब हमें अजगर बनानेके घोर षडयन्त्र हैं. जो वैष्णव सेवा करने तैयार न हो वे महाराजके पास आकर ब्रह्मसम्बन्ध ले जाय यह महाराजोंको अजगर बनानेके घोर षडयन्त्र हैं. तुम चींटी न बनो ऐसा हम सोचे और हम अजगर न बने ऐसा तुम सोचो.

प्र. १४ ८४-२५२ वैष्णवोंमेंसे कुछ वैष्णवोंको श्रीमहाप्रभुजीने और श्रीगुसांईजीने

व्रत कराये बिना ब्रह्मसम्बन्ध दिया है तो अन्य वैष्णवोंको व्रत कराके ब्रह्मसम्बन्ध दिया है ; ऐसा भेद क्यों?

उ. १४ व्रत कराया उसका हेतु शुद्धिका है. सामान्यत: ऐसी मर्यादा है कि अपरसमें स्नान किये बिना ब्रह्मसम्बन्ध नहीं लिया जाता. परन्तु हमारे घरोंमें ऐसी पद्धति है कि जिसकी शादी हो उनके हाथमें कंकण बांधा जाता है. यह कंकण शास्त्रीय रीतिसे सिद्ध किये हुए होते हैं, अत: उन्हें बंधवानेके बाद स्नान नहीं किया जा सकता. जितने दिन हाथमें वो कंकण रहे उतने दिन स्नान नहीं कर सकते. जब विवाह करके वधू हमारे घर आये तब हम तत्काल ही उसे ब्रह्मसम्बन्ध दिवाते हैं. उस वक्त वो अपरसमें नहाती नहीं, कारण उसके हाथमें शास्त्रीय कंकण बंधा हुआ होता है. अत: इस स्थितिमें अपरसमें न्हाये बिना भी ब्रह्मसम्बन्ध होता है. परन्तु मेरी पुत्रीयोंको मैंने ब्रह्मसम्बन्ध कराया तब उनके विवाहका प्रसंग नहीं था अत: उनको अपरसमें स्नान कराके ब्रह्मसम्बन्ध करवाया था.

इसमें मुख्य हेतु शुद्धिका है. शुद्धिके हेतुसे ही स्नान किया जाता है. देहकी बाह्यशुद्धि स्नानसे होती है, देहकी आन्तरशुद्धि व्रतसे होती है. शास्त्र कहता है कि अनशनसे बडा तप अन्य कोई नहीं है.

श्रीमहाप्रभुजी अति समर्थ हैं. आप देख सकते हैं कि किस व्यक्तिका अन्त:करण अतिशुद्ध है. ऐसे व्यक्तिको आप व्रत न करायें तो यह उनके सामर्थ्यकी बात है. उसे हम नियम नहीं कहेंगे किन्तु अपवाद कहेंगे.

जैसे विवाहमें शास्त्रीय कंकण बांधा जाता है वैसे जनेऊमें भी बालकके हाथमें शास्त्रीय कंकण बांधा जाता है. तब उस बालकको अपरसमें स्नानके बिना ब्रह्मसम्बन्ध दे सकते हैं. जैसे स्नानद्वारा शुद्धिकी मर्यादा शास्त्रने दी वैसे ही शास्त्रीय कंकणद्वारा बिना स्नानके शुद्धिकी मर्यादा भी शास्त्रने बताई. उसमें यहाँ तकका विधान है कि घरमें किसीका मरण हो जाय पर यदि हाथमें शास्त्रीय कंकण बांधा हुआ हो तो उसे सूतक नहीं लगता! अब हम सोचें कि महाराजने हमें शुद्धिका खूब सस्ता उपाय दिखा दिया, अब हम बारहों महिने यह शास्त्रीय कंकण बांधके ही फिरेंगें! गुजरातीमें कहते हैं "दाईनो घोडो

रमतो - जमतो, हरतो - फरतो छूट्टो''! अपना ऐसा विचार नहीं चल सकता, क्योंकि जिस वक्त यह कंकण बांधनेका शास्त्रका विधान है उस समयकेलिये ही वह बांधा जाता है, हमेशाकेलिये नहीं.

आजकल कहीं - कहीं ऐसी पद्धति भी देखनेको मिलती है कि आज ब्रह्मसम्बन्ध ले लो, कल व्रत कर लेना. तो क्या ब्रह्मसम्बन्ध लेनेसे उस व्यक्तिमें अशुद्धि उत्पन्न हुई कि जिसके निवारणकेलिये उसे दूसरे दिन व्रत करना पडे? हमें ऐसे अगडम् - बगडम् क्रममें फँसना नहीं चाहिये.

व्रत करनेका भाव यह है कि जब हम प्रभुको आत्मनिवेदन - आत्मसमर्पण कर रहे हैं तब हम उत्तमसे उत्तम वस्तु ही प्रभुको समर्पित करें. श्रीगोकुलेशजीके वचनामृतोंमें एक सुन्दर बात आती है. प्रबोधिनी एकादशीके दिन आपने पानकी बीरी आरोगी. यह देखकर वैष्णवोंको हुआ ''यह बहुत अच्छा हुआ, हमें भी एकादशीको पानकी छूट मिल गई!''. फिर जन्माष्टमी आई. तब एक वैष्णव पानकी बीरी लेकर श्रीगोकुलेशजीको आरोगाने गये. आपने कहा ''आज जन्माष्टमीका व्रत है ; आज कैसे पानकी बीरी ले सके? यह लेनेसे व्रतभंग होगा''. उस वैष्णवने कहा ''आपने प्रबोधिनी एकादशीके दिन तो ली थी!'' आपने स्पष्ट किया ''उस दिन मैंने मेरे लिये पानकी बीरी थोडे ही ली थी? उस दिन सारी रात प्रभुके सन्मुख कीर्तन करने थे. कीर्तनमें गलेमेंसे ठीक ढंगसे स्वर निकले तो प्रभुको प्रसन्नता हो इस हेतुसे बीरी ली थी ; मेरी मौजके कारणसे बीरी नहीं ली थी. प्रबोधिनीकी भांति जन्माष्टमीके दिन सारी रात प्रभुको कीर्तन सुनानेकी पद्धति नहीं है, अतः आज पानकी बीरी लूँ तो व्रतभंग होगा''.

तो अपने यहाँ एक निश्चित सिद्धान्त है कि व्रत धारण करना या व्रतभंग करना यह प्रभुकेलिये है. हम अपने लिये व्रतभंग नहीं करते. मुझे पान खानेकी आदत है उस कारणसे मैं व्रतके दिन पान नहीं खाऊंगा. परन्तु उस दिन यदि प्रभुको कीर्तन सुनानेमें पान खाये बिना मुझे तकलीफ महसूस होती होगी तो मैं पान खाऊंगा. एकादशी करनेसे मुझे ज्यादासे ज्यादा क्या लाभ होगा? मेरा आत्मोद्धार होगा. मेरा आत्मोद्धार भले ही न हो पर प्रभुको अधिकसे अधिक सुख हो

यही मुझे प्रिय है. इस प्रकार प्रभुसुखके विचारसे व्रतका भंग किया जा सकता है पर आत्मसुख या देहसुखके विचारसे व्रतका भंग नहीं किया जा सकता.

आजकल तो कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हमें आज रातका प्लेन पकडके इंग्लेन्ड या अमेरिका जाना है ; हमें आज ही ब्रह्मसम्बन्ध दे दो! ऐसे लोग ब्रह्मसम्बन्ध लेनेकेलिये न व्रत करना चाहते हैं न स्नान ; बस जेबमेंसे तुलसीपत्र निकालकर उनके हाथमें देकर मन्त्र बोल दें तो काम हो गया! इस पद्धतिसे ब्रह्मसम्बन्ध दिया जाता हो तो वह ब्रह्मसम्बन्ध नहीं पर भरमसम्बन्ध है.

प्र. १५ ब्रह्मसम्बन्ध लिये बिना ही क्या सेवा हो सकती है?

उ. १५ इसका उत्तर सिर्फ 'हाँ' या सिर्फ 'ना' नहीं दे सकते. उदाहरणतया श्रीनाथजीमें आज भी जो व्रजवासी श्रीनाथजीके साथ आये उन्हें सेवा करनेसे पहले तिलकायितजीकी आज्ञा ही लेनी पडती है ; ब्रह्मसम्बन्ध वे नहीं लेते. वैसे ही श्रीमहाप्रभुजीके कालमें बंगालीओंने ब्रह्मसम्बन्ध लिये बिना सेवाकी थी, क्योंकि श्रीनाथजीमें श्रीजीकी इच्छा जगतमें पूजानेकी होनेसे श्रीमहाप्रभुजीने देवालयकी रीति रखी थी. पर अन्यत्र तो गृहसेवाका ही प्रकार है. श्रीनाथजीका प्रसंग "बाधनं वा हरीच्छया" का कल्प है, exception है.

जैसे एक Rule नियम होता है और एक उसका अपवाद exception होता है. Law होता है और उसका exemption होता है. उदाहरणत: इन्कमटेक्समें जितनी आमदनी हो उसपर टेक्स लगता है. पर यदि आप पब्लिक ट्रस्ट करायें तो exemption मिलता है ; आमदनीपर टेक्स नहीं लगता. ये exemption Rule नहीं है, Rule का exception है.

वैसे Rule = नियम अपने यहाँ ये है कि ब्रह्मसम्बन्ध लिये बिना सेवा नहीं हो सकती. पर उसका exemption श्रीमहाप्रभुजीने दिया है, कि किसीको अपने हृदयको सन्तोषप्रद गुरु न मिलता हो... जैसे "१. कृष्णसेवापरं वीक्ष्य २. दम्भादिरहितं ३. नरम्। ४. श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुः आदरात्॥" तो वहाँ आचार्यचरण समझाते हैं कि "तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा

हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्''. अब क्या करें ; किसीको दो आँखवाला वरराजा न मिलता हो तो एक आँखवालेसे चला ले. वैसे ही श्रीमहाप्रभुजीने अपवादरूपमें आज्ञा दी है कि यदि तुम्हें ऐसा योग्य गुरु न मिलता हो तो तुम ब्रह्मसम्बन्ध लिये बिना भी सेवा कर सकते हो ; ''परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्।'' श्रीपुरुषोत्तमजी इस विधानकी व्याख्या करते स्पष्ट कहते हैं कि श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तको समझकर, महाप्रभुजीमें गुरुभाव रखकर, महाप्रभुजीके सिद्धान्तानुसार सेवा करो तो उसमें स्वच्छन्दता नहीं आयेगी. और ''प्रकारांशे तादृशान् मिलन्ति चेत् तदा पृष्टव्या।'' भविष्यमें वैसे मार्गदर्शक यदि मिल जायें तो तब उनसे पूछ लेना चाहिये. ऐसे सेवा कर सकते हो.

पर एक बात जरूर है कि अपने सम्प्रदायका जो अनुशासन है, अर्थात् जिसे हम मर्यादा कहें, उस मर्यादानुसार वैसी रीतिसे सेवा करनेवाले अपने यहाँ पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें दीक्षित नहीं कहे जायेंगें. वो स्वयं सेवा कर सकता है ; प्रभुमें उतना सामर्थ्य है कि महाप्रभुजीमें गुरुभाव रखकर यदि सेवा करता है तो सेवा अंगीकार करें. ठीक है भई, जब महाप्रभुजी छूट देते हैं तो अपनेमें इतनी बुद्धि या सामर्थ्य नहीं कि उसे cancel कर सके. महाप्रभुजी इस बारेमें स्पष्ट दो आज्ञा देते हैं कि (१) कृष्णसेवापर दम्भादिरहित श्रीभागवततत्त्वज्ञ नरको गुरु बनाकर जिज्ञासु उसका उपदेश आचरणमें लायें और (२) वैसा गुरु न मिले तो स्वयं मूर्ति सिद्ध करके परिचर्या करें.

एक बात स्पष्ट समझो कि महाप्रभुजी ब्रह्मसम्बन्ध स्वतः लेनेकी आज्ञा नहीं देते, सेवा स्वतः शुरु करनेकी आज्ञा दे रहे हैं. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध लेनेका प्रकार तो स्पष्टतया सिद्धान्तरहस्यमें समझाया गया है कि ''ब्रह्मसम्बन्ध नाम एतन्मार्गीयाचार्यद्वारा भगवति निवेदनम्।'' ब्रह्मसम्बन्ध मतलब अपने मार्गके आचार्यद्वारा भगवानको निवेदन करना. तो ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा है और सेवा साधना है.

सरलतासे समझना हो तो ऐसे समझो, कि कोई स्कूलमें admissicn न मिलता हो तो घर बैठके पुस्तकें पढ सकते हैं और जानकारी पा सकते हैं. पर कोई school जमती न हो तो principal को हटाकर कोई अपने आप admission की application पर signature नहीं

कर सकता. यों तो फर्जी admission मिलता है. student की signature से admission मिला ऐसा नहीं कहा जा सकता. पर school/college में admission नहीं मिलता उसका मतलब ऐसा नहीं कि घरपे भी किताब नहीं पढ सकते. घरपे पुस्तकें पढी जा सकती हैं.

Exactly उतना ही अन्तर है, कि श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि सम्प्रदायमें दीक्षित आप गुरुके बिना नहीं हो सकते, पर सेवाकी जो साधनाप्रणाली है वो स्वत: हो सकती है. अब सच्ची आज्ञा है या झूठी आज्ञा है ये तो महाप्रभुजीपे अपनी अपनी श्रद्धाका विषय है ; सिद्धान्त स्पष्ट है कि वाल्लभसम्प्रदायमें ब्रह्मसम्बन्ध गुरु बिना स्वयं नहीं ले सकते पर सेवा शुरु कर सकते हैं. कारण आचार्यचरणने छूट दी है. और स्वयं ही व्याख्या करते कहते हैं कि "स च इदानीं दुर्लभः इति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आहुः।" और श्रीपुरुषोत्तमजीने भी वैसी ही टीका की है उसके आधारपे ये बात स्पष्ट है.

प्र. १६ ब्रह्मसम्बन्ध अज्ञानतासे या दो बार लिया जाये तो कुछ आपत्ति है?

उ. १६ "अज्ञानात् अथवा ज्ञानात् कृतम् आत्मनिवेदनम्, यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः तेषां का परिदेवना" अज्ञानसे लिया हो या ज्ञानसे लिया हो, ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके बाद मनमें संताप या क्षोभ करनेकी जरूरत नहीं. क्योंकि "प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्". अज्ञानसे या ज्ञानसे, तुमने आत्मनिवेदन किया हो तो पर्याप्त है. उत्तरदायित्व ब्रह्मसम्बन्ध देनेवालेका है कि वो सोचके दे.

तुम्हें banking की system मालूम हो या न हो, पर चेकपे जैसे हस्ताक्षर करने चाहिये वैसे करो तो तुम्हें धनराशि मिलनेवाली ही है. उसमें ज्ञानसे करो तो मिलेगी और अज्ञानसे करो तो नहीं मिलेगी ऐसा नहीं है. हस्ताक्षरमें घोटाला करो तो नहीं मिलेगी ये बात सच है. तो हस्ताक्षर करते आने चाहिये ; बेन्क कैसे चलती है, हस्ताक्षरकी कैसे talley की जाती है ये सबका ज्ञान होना बहुत जरूरी नहीं. तो अज्ञानात् अथवा ज्ञानात् दोनों रीतिसे हो सकता है.

ब्रह्मसम्बन्ध एक और सिर्फ एक ही बार दिया जाता है ; दूसरी

बार तो उसका स्मरण करनेका भाव है. उदाहरणतः हरेक गोस्वामी बालकको शादीके बाद दूसरी बार ब्रह्मसम्बन्ध दिया जाता है ; ऐसे भावसे कि जीवनकी अन्तिम दीक्षा ब्रह्मसम्बन्ध होनी चाहिये.

प्र. १७ "अज्ञानात् अथवा ज्ञानात्" श्लोकका तात्पर्य क्या है?
उ. १७ नवरत्नका अपने मार्गमें जितना विपरीतार्थघटन - misinterpretation हुआ है उतना कोई ग्रन्थका नहीं हुआ. नवरत्न महाप्रभुजीने तुम्हारा धंदा न चलता हो उस चिन्ताकेलिये नहीं लिखा. तुम्हारी शादी न होती हो यह चिन्ता मिटानेकेलिये नहीं कहा.

किसी कन्याको अच्छा वर न मिलता हो तो यमुनाजीके ४१ पदके पाठ करती होती हैं! सचमुच यमुनाजी प्रसन्न हो जाय तो ब्याहकी सारी सम्भावनाएँ खतम, क्योंकि कृष्ण मिल जायेगा! और वो तो ब्याहनेवाला नहीं, क्योंकि १६,००० गोपीयोंमेसे एकके साथ भी वो ब्याहा नहीं. यमुनाजी प्रसन्न हो तो कृष्ण दिलायेंगे, कोई विवाहयोग्य लडका नहीं. किसकेलिये क्या करना चाहिये ये कुछ समझते ही नहीं हैं. शादी न होती हो तो *मेरेज ब्युरो*में जाओ ; ४१ पाठसे क्या होगा? कुछ समझमें ही नहीं आता लोगोंको. ऐसे ही दुकान न चले तो नवरत्न करो, मकानमें किरायेदार घुस गये हैं और खाली नहीं करते तो नवरत्न करो... पर नवरत्न इस बारेमें नहीं भाईसा'ब! मशीनगनसे तुम मच्छर मार रहे हो. उसकेलिये फ्लीटका पंप होता है, मशीनगन नहीं. कौन प्रवर्तित करता है पता नहीं पर ऐसा सब चल पडता है. चलता है उसे सुधारना चाहिये.

नवरत्न ग्रन्थ आचार्यचरणने इसलिये समझाया है कि तुमने ब्रह्मसम्बन्ध लिया और सिद्धान्तानुसार फिर सेवा करनी चाहिये पर सेवा होती नहीं और तुम्हें चिंता होती है तो महाप्रभुजी कहते हैं "चिन्ता कापि न कार्या" चिंता मत करो. हो सकती हो तो सेवा करो. न हो सकती हो तो प्रभुसे माफी मांग लो. तुमने ब्रह्मसम्बन्ध लिया और सेवा शुरू की पर सेवामें तुम्हें पत्नी पुत्रादि साथ नहीं देते और तुम्हें चिंता हो कि मैं ब्रह्मसम्बन्ध लेकर सेवा करता हूँ और मेरे पत्नी पुत्रादि साथ क्यों नहीं देते? तो भाई, वे लोग दे या न दे, वो साथ

देता है या नहीं? वो कृष्ण साथ दे रहा है तो फिर वे लोग साथ देते हैं या नहीं इसकी चिंता तुम्हें करनी ही नहीं चाहिये. प्रभुको उनकी सेवा लेनी होगी तो लेंगें और नहीं लेनी होगी तो नहीं लेंगें ; उसमें तुम क्यों चिंता करते हो?

तुमने ब्रह्मसम्बन्ध लिया तब सिद्धान्त ही मालूम नहीं था कि ब्रह्मसम्बन्ध क्यों लेना चाहिये, क्या है ब्रह्मसम्बन्ध. पर परिवारके कारण ले लिया गया. कँई लोग कहते होते हैं कि मेरी माँने या सांसने व्रत लिया है कि जिसने ब्रह्मसम्बन्ध न लिया हो उसके हाथका पानी न पीना, इसलिये ब्रह्मसम्बन्ध दो! अब ब्रह्मसम्बन्ध तो लेना होता है प्रभुकी सेवाकेलिये, माँने व्रत लिया इसलिये नहीं. पानी पीना होगा तो पीयेगी, नहीं पीना होगा तो नहीं पीयेगी. उसका व्रत है ; वो जैसे निभाये वैसे निभाने दो. उसे पानी पिलानेकेलिये ब्रह्मसम्बन्ध लेना यह फिर मच्छर मारनेकेलिये मशीनगन चलाने जैसा हुआ.

ऐसे सब हेतुसे होती चिंताको निवृत्त करनेकेलिये नवरत्न नहीं है. ब्रह्मसम्बन्ध और सेवा सम्बन्धी जो-जो चिंता होती हो उसकेलिये नवरत्न है. महाप्रभुजी कहते हैं कि ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके बाद सेवा करनेका सिद्धान्त तुमसे जितना सही ढंगसे, जितने अंशमें जो रीतसे निभता हो, आनन्दसे करो सेवा ; पर न निभता हो तो उसकी चिन्ता मत करना. यह बात समझानेकेलिये नवरत्न है.

उसमें दुकानकेलिये या मकानके किरायेदारकेलिये या वर ढूंढनेकेलिये एक भी श्लोक नहीं. बस गलतीसे महाप्रभुजीने इतना कह दिया कि "चिंता कापि न कार्या" और अपनी कोई भी चिंताकेलिये हम नवरत्नका पाठ करने लगे! पर इस पाठसे शायद चिंता बढ जायेगी. सचमुच तुम्हें पाठसे भक्ति सिद्ध हो गई तो वर पहलेसे ही भाग जायेगा कि ऐसी भगतडीसे कौन ब्याहे! आमके वृक्षपेसे आम मिलेगा, चीकुके वृक्षपेसे नहीं. जो फल प्राप्त करना हो तदनुसार वृक्ष खोजो तो वो फल मिलेगा. फल न आये हो तो खात डालो ; आज नहीं तो कल फल मिल जायेगा. पर कोई फलकेलिये अन्य कोई वृक्ष पकडा तो फल आया तो भी तुम्हें क्या लाभ होगा?

अब वयके अर्थमें अज्ञानी/सज्ञानी या ग्रन्थ और सिद्धान्तके अर्थमें

अज्ञानी / सज्ञानी? तो सभी अर्थमें, ज्ञानसे या अज्ञानसे, कोई भी अर्थमें. ब्रह्मसम्बन्ध लिया है तो लेनेके बाद उसकी मज़ा लो, उसकी चिंता मत करो.

महाप्रभुजीको किसी प्रकारकी चिंता करना पसन्द नहीं उसका कारण क्या? शान्त चित्तसे सोचो, कि महाप्रभुजी अपने भक्तिके प्रोग्रामको, साधनाप्रणालीको तनावभरे रूपमें प्रस्तुत नहीं करना चाहते. चित्तमें उल्लास होना चाहिये, आदमी बेफिकर होना चाहिये. जो भक्तिके पथ पर चल रहा है, जिसने अपना आत्मनिवेदन कर दिया है, सचमुच सर्वस्व सौंप दिया है, उसे चिंता करनेकी क्या जरूरत? पर हम सौंप देनेके बाद, पुत्रीका ब्याह कर देनेके बाद चिंता करें कि उसका क्या होगा? विश्वास रखो. मायकेमें चिंता करनेसे ससुरालमें क्या फर्क पडेगा शादीके बाद? उसे पत्र लिखकर पूछो, हो सके वो सहाय करो. उपाय या उपायका चिंतन बूरा नहीं, पर उपाय करने नहीं और बेठे-बैठे सरपे हाथ धरके चिंता करनी ये ठीक नहीं. "यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः तेषां का परिदेवना।" तुमने अज्ञानसे या ज्ञानसे, समझके या समझे बिना ब्रह्मसम्बन्ध लिया हो, लिया है न? बस. तुमने तुम्हारी आत्मा, देह और अहन्ताममतासे सम्बन्धित हरेक वस्तु प्रभुको समर्पित की है, अब छोड दो उसपर.

मान लो कि हमने किसीको ब्याहके अवसरपे रेडियो भेट दिया. फिर हररोज तुम पूछो कि मैंने रेडियो दिया वो सुनते हो या नहीं? तो भाई बहुत फिकर है तो वापस ले जाओ! मैंने आत्मा, देह, गेह, परिवार सब दे दिया, अब सेवामें मेरे आत्मा, देह, गेहको लेता है या नहीं ये बारबार न पूछा करो. ऐसी व्यर्थ चिंता मत करो. उसे थोडी स्वतन्त्रता दो कि जब इस्तेमाल करना हो तब करे. जैसे जितना इस्तेमाल करना होगा, वो खुद करेगा. तुम उसका उल्लास रखो कि मैंने दिया. प्रसन्न रहो. "अहं मद्ररक्षणं मद्ररक्षणफलं तथा। न मम श्रीपतेरेव इत्यात्मानं निक्षेपेद् बुधः।" देनेके बाद मैं मुक्त हूँ. तुझे लेना है तो ले सेवामें, नहीं तो फेंक दे. इस देहसे नहीं इस्तेमाल करना होगा तो दूसरे देहसे तुम्हारे आत्माका इस्तेमाल कर लेगा. प्रभुपर इस बातको छोड दो.

एक भाईने मुझसे कहा "प्रभुने कंसको, पूतनाको दर्शन दिये और

मैं २५ वर्षसे सेवा करता हूँ पर मेरे साथ नहीं बोलते!'' मैंने कहा ''तुम पथ्थरकी मूर्तिकी सेवा कर रहे हो या भगवानकी?'' बोले ''ऐसे तो भगवानकी ही करता हूँ पर यों बोलते नहीं!'' ''ऐसे'' ''यों'' छोडो ; तय करो कि भगवानकी सेवा कर रहे हो या पथ्थरको पूज रहे हो? कबीरने बहुत सुन्दर कहा है ''पाथर पूजे हरि मिले तो मैं पूजो पहाड, ताते तो चाकी भली यो पूज खाय संसार''. हम भगवानको पूज रहे हैं. वो बोले या न बोले, सेवा स्वीकारे या न स्वीकारे, ''जाहि विध राखे राम ताहि विध रहीये'' यह समर्पणका भाव है. इस्तेमालके बारेमें चिंता मत करो. यह समर्पणके भावको स्थिर करनेकेलिये महाप्रभुजीने नवरत्न समझाया. इसलिये ''अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात् कृतम् आत्मनिवेदनम्। यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः तेषां का परिदेवना॥'' जिसने अपना सर्वस्वनिवेदन किया है वो चिंता न करें.

प्र. १८ सेव्यस्वरूपको पुष्ट करना / कराना माने क्या? पुष्ट करानेकी आवश्यकता क्या है? मर्यादामें प्राणप्रतिष्ठा है वैसे यहाँ पुष्ट कराना मतलब? हम मूर्तिको स्वरूप क्यों कहते हैं?

उ. १८ पुष्ट करना मतलब हस्तमिलाप कराना. It's a sanction of society. साथ रहनेके पहले जो शादीकी आवश्यकता है वही पुष्ट करनेकी आवश्यकता है. आजके बाद तुम पति-पत्नी हो वैसे गुरु sanction करता है.

श्रीमहाप्रभुजीके मतमें ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' है. जो कुछ नाम-रूप हैं उसे धारण करनेवाला ब्रह्म है. उपनिषद् कहता है ''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन्य आस्ते।'' जगतकी कोई भी चीज ऐसी नहीं जो ब्रह्मका रूप न हो. पर उस ब्रह्मको तुम हरेक रूपमें भज नहीं सकते, इसलिये एक रूपका तुम वरण करते हो. उदाहरणतः हरेक स्त्री या पुरुषको हम ब्याह नहीं सकते इसलिये उनमेंसे किसी एकको ब्याहते हैं. वैसे जगतमें प्रभुके अनन्तरूप हैं ; उनमेंसे एक रूपसे हम ब्याहते हैं, कि यह मेरा स्वामी है, इस रूपमें मैं उनकी सेवा करूंगा. लडके-लडकेमें भेद नहीं पर तुम किससे ब्याह रहे हो? वैसे प्रभुके किसी एक नामको-एक रूपको ब्याहना उसका नाम पुष्ट करना.

हम उससे ब्याहते हैं, स्वामी रूपमें स्वीकारते हैं.

अब यह स्वीकारनेकी विधिमें गुरुको क्या करना यह श्रीमहाप्रभुजीने बताया है. तदनुसार गुरु विधि करके तुम्हें ठाकुरजी पधरा देते हैं. सर्वप्रथम पंचामृतस्नान कराया जाता है. श्रीभागवतजीके दशमस्कन्धके जन्म, प्रमेय, साधन और फल प्रकरणमें कुछ श्लोक हैं जिनमें भगवान प्रकट हुए हैं ; जैसे कि देवकीजीके यहाँ प्रकट हुए वो श्लोक, गोकुलमें पधारे उसका श्लोक, अन्तर्धान हुए फिर गोपीगीत गानेके बाद प्रकटे वो श्लोक आदि. ऐसे सब श्लोक श्रीमहाप्रभुजीने चुने हैं. उन्हें बोलकर गुरु भावना करता है कि जैसे आप वहाँ प्रकट हुए वैसे मेरे लिये भी प्रकट हो. यह प्रकट हुए ऐसी भावना करनी, वो भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करना इसीका नाम पुष्ट करना है. हम उन्हें पुष्ट करते हैं कि आप मेरे स्वामी हो.

इस प्रकार गुरुको स्वरूप पुष्ट करने चाहिये, पर प्राय: ऐसा नहीं होता. आजकल agency का जमाना है. आप जो काम नहीं कर सकते वो आपका *एजन्ट* आपकेलिये करता है. यु.पी.में गाँवोंमें ऐसे *एजन्ट* होते हैं जिन्हें आपके स्वजनका मृतदेह सौंप दो तो बनारस जाके अग्निसंस्कार कर आते हैं. हमारे बम्बईमें कांदीवलीमें अन्नकूट करानेकी *एजन्सी* है. वे कहते हैं "घरमें अन्नकूट करनेकी तकलीफ क्यों उठाते हो? हम एक अन्नकूटका आयोजन करेंगे, आप अपने-अपने ठाकुरजी यहाँ पधरा लाओ. सब ठाकुरजीको साथमें अन्नकूट आरोगाया जायेगा." अब एलान होते ही सबको शामिल होनेका जोश आ जाता है, तो एक महाराजके यहाँ १५० झांपीजी पुष्ट करानेकेलिये पधरा दी गई! अब १५० स्वरूप पुष्ट एकसाथ तो करने कैसे? तो जैसे एअरपोर्टपे custom clearance certificate लगता जाये वैसे यहाँसे झांपीजी अन्दर और वहाँसे बाहर! इस चक्करमें एक गणपतिजी पुष्ट हो गये! अब उन्हें पधराकर वो व्यक्ति आयोजकोंके पास गया तो उन्होंने कहा "गणपतिको नहीं पधरा सकते". तो वो बोला "पर मैंने महाराजसे पुष्ट करवाये हैं". फिर भी आयोजकोंने इन्कार कर दिया. अब इस व्यक्तिने सभामें मुझसे पूछा "महाराज, पुष्ट कराये गये गणपतिकी सेवा क्यों नहीं हो सकती?" मैंने कहा "यह तो बहुत ही गम्भीर प्रश्न है. इसका उत्तर

मैं नहीं दे सकता!''

महाप्रभुजीने अनेक जगह 'मूर्ति' शब्द ही प्रयुक्त किया है. उदाहरणत: ''हरिमूर्ति: सदा ध्येया'' (निरोधलक्षण). निबन्धमें भी प्रयुक्त किया है. तो 'मूर्ति' शब्दके साथ हमें कोई छूआछूत नहीं. पर व्यवहारमें 'मूर्ति'का जो अर्थ लिया जाता है वो अर्थ हम नहीं ले रहे. मूर्तिका अर्थ अनेक लोग ऐसा करते हैं कि अपने चित्तको एकाग्र करनेका instrument है. पर हम 'मूर्ति' इस अर्थमें नहीं कहते.

मैं एकबार बनारसमें था. हमारे एक परिचित *प्रोफेसर*ने विधान किया ''पथ्थरकी मूर्तिको पूजना यह तो अधमाधम बात है और मैं ये सिद्ध कर सकता हूँ कि शास्त्रमें भी ऐसे ही कहा है.'' अब मुझे नहीं कहा था इसलिये झघडनेका कोई कारण नहीं था ; जिसे जो बोलना हो वो बोले. पर एक दिन अचानक मेरे प्रवचनमें वो भी आ गये. मुझे उन्होंने कही थी वो बात याद आई. अब मुझसे रहा न गया. मैंने प्रवचन किया ''तुम माँको बापकी औरत कहो या बापकी औरतको माँ कहो, जहाँ तक हकीकतका सवाल है कुछ फर्क नहीं पडता. फर्क पड रहा है तुम्हारे भावमें. धिक्कार है ऐसे पुत्रको जो अपनी माँको बापकी औरत कहे. और बापकी औरतको माँ कहो तो कितना प्यार झलकेगा! शब्दके अर्थ दो नहीं पर जिसकेलिये तुम शब्द इस्तेमाल कर रहे हो उसके प्रति तुम्हारा बदलता भाव शब्दद्वारा बाहर आ रहा है. वैसे ही तुम जिसकी सेवा करते हो उसे पथ्थरकी मूर्ति भी कह सकते हो और उसी पथ्थरकी मूर्तिको भगवान भी कह सकते हो. तथ्यमें अन्तर नहीं, पर भाव बदल रहा है. जब तुम उसे पथ्थरकी मूर्ति कह रहे हो तब बापकी औरत कह रहे हो और भगवान कह रहे हो तब माँ कह रहे हो –इतना फर्क है. तुम्हें पहलेसे मालूम होना चाहिये कि तुम क्या करना चाहते हो. तुम्हें माँको आदर देना हो तो कभी उसे बापकी औरत कहनेकी भूल मत करना. पर यदि माँको गाली देना चाहते हो तो बापकी औरत कहो. वो तुम्हारा और उसका आपसी मामला है. तब माँको सोचना रहा कि अपना बेटा उसे बापकी औरत कहे तो वैसे बेटेको चपत मारनी, घरसे निकाल देना या क्या करना. वह मेरा विषय नहीं. वैसे भगवानको

पथ्थरकी मूर्ति कहो तो वह तुम्हारा और भगवानका आपसी मामला है. हिरण्यकशिपुने कहा कि यह तो खम्भा है ; भगवानने नृसिंहरूपमें बाहर आकर उसे चीर डाला! तो भगवान तय करेगा कि टिकाना या मार डालना या क्या करना. मैं तो एक बात समझता हूँ कि जब तुम पथ्थरको भगवान कह रहे हो और भगवानको पथ्थर कहते हो तो भाव बहुत बदल गया. मूर्ति और स्वरूप का Dictionary meaning एक ही है, पर क्या कहना चाहते हो वह पता होना चाहिये. मूर्खको न सही, *प्रोफेसर*को तो मालूम होना ही चाहिये, नहीं तो *प्रोफेसर* काहेका ?''

यह बात मैंने प्रवचनमें कही. फिर उसने जवाब नहीं दिया. मुझे उसका खेद रहा. मुझे क्रोध नहीं आता. मैं ये openness चाहता हूँ. Let me clear it कि आप बापकी औरत कह रहे हो या माँ? बातको ढँककर कहो वो मुझे पसंद नहीं. Thought की clarity रखो कि तुम क्या कहना चाहते हो और वो साफ-साफ कहो. क्योंकि साफ-साफ कहो तो उसे हल किया जा सकता है. ढँककर की गई बात दीमक जैसी होती है कि दीवारके भीतर पैदा होकर उसे कमजोर बना देती है. जब तक तुम्हें पता चले तब तक गिरनेकी घडी आ गई होती है. तुम साफ-साफ कहो तो जल्दी निकाल आ जाये.

तो पुष्टिमार्गमें 'मूर्ति' कह सकते हैं. पर क्योंकि कुछ लोग 'मूर्ति'का अर्थ वो पथ्थरकी मूर्ति ऐसा करते हैं तो वो अर्थ न लिया जाय इसलिये हमने शब्द बनाया 'स्वरूप'. 'स्वरूप' अर्थात् साक्षात् भगवान ही हैं, पथ्थर नहीं. यह भाव हो तो सेवा करो. यह भाव हो तो तुम भक्तिके अधिकारी हो. वह न हो तो निश्चित समझो कि भक्ति तुम्हारे लिये नहीं और तुम भक्तिकेलिये नहीं. और कँई साधनाएँ हैं– कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, नास्तिक... जो पसंद हो वो करो. पर एक बात साफ समझो कि यदि सेवा करनी हो तो उसे पथ्थरकी मूर्ति मत कहना, वह पथ्थरकी मूर्ति है ऐसा मत सोचना ; वह साक्षात् भगवान हैं.

महाप्रभुजी कहते हैं शुद्धाद्वैत है, ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' है. तो जब सर्व ब्रह्म हो तो यह क्यों ब्रह्म नहीं हो सकता? एक सूफीने

मुसलमानोंसे कहा है कि सच्चा दीन, सच्चा इमान मूर्तिपूजामें ही है. क्योंकि जगतके कण-कणमें अल्लाहके नूरका प्रकाश हो रहा हो तो वह क्या मूर्तिको छोडकर हो रहा है? —वह पूछता है. मूर्तिके कणोंमें भी वही अल्लाहके नूरका प्रकाश है. तुम प्रार्थना करनेकेलिये मस्जिदको पसंद कर रहे हो तो वे लोग मूर्तिको पसंद कर रहे हैं. वह बहुत सुन्दर कहता है "हाजी बराहे काबा मन साहिबे दीदार". हाजी, जो हज करने जाता है, वो काबा-भगवानके घरको ढूंढने निकला है, और मैं मकानमालिकको ढूंढ रहा हूँ. आवश्यकता अलग-अलग है. तू मस्जिद काबाको ढूंढ रहा है जो अल्लाहका घर है, मैं अल्लाहको ढूंढ रहा हूँ जो मस्जिदमें बिराजता है. बातमें इतना ही फर्क है. मस्जिद और मूर्तिमें इतना ही फर्क है कि एक मकान है और एक मकानमालिक है. दोनों भूतलपे हैं, कोई सातवें आसमानपे नहीं. दोनों कंकर-पथ्थर है. पर यदि वो कंकर-पथ्थर अल्लाहका घर है तो यह अल्लाह है. दोनों ढूंढनेके काबिल है पर अन्तर इतना है.

मुसलमान कहते हैं कि अल्लाह दुनियामें नहीं आ सकता. हम कहते हैं कि नहीं, मकानमालिक तुम्हारे घरमें आ सकता है. महाप्रभुजी कहते हैं "बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णम्" तुम्हारे घरमें उस मकानमालिकको पुष्ट कराके पधरा लो ; वो तुम्हारे घरका, तुम्हारा मालिक हो जायेगा. "ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तम् इमं परम्। हित्वा माम् शरणं याता" अर्थात् तुम तुम्हारा घर, धन, आप्तजन सब उसे सौंप दो और वो तुम्हारे घरका मालिक हो जायेगा. वो ब्रह्माण्डका मालिक होनेका दावा नहीं करेगा ; वो इतना ही कहेगा कि मैं ये घरका मालिक हूँ.

अपने सम्प्रदायकी बात नहीं, पर पुष्टिमार्गका सार इसमें रहा हुआ है इसलिये कह रहा हूँ. चैतन्यसम्प्रदायके भक्तको एक दिन ठाकुरजीने सपनेमें आकर कहा कि मैं एक वृक्षके नीचे हूँ, मुझे बाहर निकाल. भक्त खुश होकर वहाँ गया और जड काटकर स्वरूप पधरा लाया और सेवा करने लगा. वो भक्त अकिंचन था इसलिये भिक्षा मांगकर जो मिलता उसे ठाकुरजीको भोग धरके उसने लेना शुरू किया. एक दिन ठाकुरजीने आज्ञा की "मुझे यह सब खाना पसन्द नहीं". उसने

कहा "तो महाराज, आप फिर वृक्षके नीचे पधारो और जिसके घरका खाना पसन्द आता हो उसे आप आज्ञा करो और उसके घर पधारो ; मैं तो और कहाँसे लाऊँ?" ठाकुरजीने कहा "नहीं नहीं, गलती हो गई. मान जाना यार, तू जो लायेगा वो खाऊंगा. अब नहीं बोलूंगा, शिकायत नहीं करूंगा". तो जो मेरे पास है, मेरा घर है ; चाहे वो लाख रुपयेका हो या झोपडपट्टी हो, मेरे घरमें आप बिराजो. मेरे घरके आप मालिक हो जाओ. बस बात बन गई. ब्रह्माण्डके होंगे, उसकी मुझे चिंता नहीं. मुझे ब्रह्माण्डकी चिंता करके क्या फायदा? तुम मेरे घरके, मेरे मालिक हो या नहीं? मेरे घरमें बन रहा है उसे आरोगना चाहते हो या नहीं? "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामि प्रयतात्मनः।" अर्थ- पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ भक्त मुझे देता है उसे मैं इतने ही उल्लाससे स्वीकारता हूँ जितने उल्लाससे कोई भूखा भोजनको स्वीकारता है. यह उल्लास तुझे मेरेमें है तो बस, तू मेरा स्वामी है ; पक्का निश्चय हो गया कि तू पुष्ट है.

पर तुम पुष्ट कराये बिना कुछ कर रहे हो तो वो गैरकानूनी कामकाज है. वो तुम्हारा और प्रभुका आपसी मामला है. मैं तो पुष्टिमार्गीय आचार्यकी हेसियतमें इतना कह सकता हूँ कि साथ रहना चाहते हो तो शादी करके रहो तो अच्छा. तुम पुष्ट कराये बिना साथ रहो तो सिद्धान्तानुसार मैं ज्यादा कुछ नहीं कह सकता. पुष्ट करानेका सीधा मतलब यह कि तुम शादी करते हो तो हमें थोडा बाजा बजाने दो कि तुम्हारी शादी हो गई. बस इसका नाम पुष्ट करना.

पुष्ट करनेके बाद हम 'मूर्ति' नहीं कहते, 'स्वरूप' कहते हैं. क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "यथा हि कन्या वरं वृणीते।" जैसे एक कन्या जगतके करोडो लडकोंमेंसे एकको वरे फिर वो लडका नहीं रह जाता, वर हो जाता है. लडकेमें और वरमें इतना ही फर्क है कि वरमाला नहीं पहनाई तब तक वह लडका है और पहनानेके बाद वो वर है, लडका नहीं रह जाता. वैसे पुष्ट नहीं कराया तब तक हम मूर्ति कह सकते हैं पर पुष्ट करानेके बाद मूर्ति नहीं कहते, स्वरूप कहते हैं. पर यदि स्वरूपके अर्थमें 'मूर्ति' शब्दका प्रयोग करते हो

तो कुछ आपत्तिजनक नहीं. श्रीमहाप्रभुजीने स्वरूपके अर्थमें ही 'मूर्ति' शब्द इस्तेमाल किया है, पथ्थरकी मूर्तिके अर्थमें नहीं. बात समझनेकी इतनी ही है.

स्त्रीको घरमें पत्नी बनाके रखनी हो तो विवाह कर लेना चाहिये ; तुम्हारे यदि अवैध सम्बन्ध हो तो तुम जानो. वैसे ठाकुरजीकी सेवा करनी हो तो भी. पुष्ट कराये बिना सेवा करनेकी पद्धति हमने दोनों तरहकी ठगाईकेलिये शुरू की. हमने मनमें ऐसा भाव मान लिया कि पुष्ट करानेसे कोई प्रकारकी जिम्मेदारी (उत्तरदायित्व) हमारेपर बढ जायेगी. इसलिये हमने ऐसा सोचा कि दोनों बातें साधो. एक ओर कहेंगे कि सेवा चल रही है, दूसरी ओर सेवामेंसे छूट्टी. सेवा न करनी हो तब कहेंगे "हमारे ठाकुरजी पुष्ट कहाँ है?" कबाटमें बंद करके काश्मीर चले जाओ! वापिस आके पुनः सेवा शुरु! इस प्रकार तुम अपने आपको भी ठगते हो और ठाकुरजीको भी ठगते हो, मार्गको भी ठगते हो. सिर्फ गाँवको नहीं ठगते ; उतने तुम बुद्धिमान नहीं. गाँवको ठगे वह बुद्धिमान पर अपने आपको ठगे वह बुद्धिमान नहीं.

जो पुष्ट नहीं उन ठाकुरजीकी सेवा करनी वह अपने मार्गका सिद्धान्त नहीं. पुष्ट करानेमें श्रीमहाप्रभुजीकी, व्रजभक्तोंकी कानि है.

आजकल जैसे Instant का जमाना चला है, वैसे ठाकुरजीको भी Instant पुष्ट कर देनेकी पद्धति शुरु हो गई है ; बालकने चरणस्पर्श किये मतलब पुष्ट! यह पद्धति खोटी है. श्रीमहाप्रभुजी श्रीगुसांईजीने पुष्ट करानेका पूरा प्रकार समझाया है. भागवतमें प्रभुके भावात्मक वर्णनके जो श्लोक हैं उनके द्वारा स्वरूपमें वो भावकी स्थापना करनेकी सम्पूर्ण पद्धति बनाई है. पर उसके पीछे कौन समय दे? जब बहुत बढ जाय तब सब Automation हो जाय. फिर देखे बिना रसीद फाडें, अंक देखे बिना रसीदें फटती जाय ऐसा हो गया. पुष्ट करनेकी सच्ची पद्धति श्रीगुसांईजीने 'पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार' नामके ग्रन्थमें लिखी है. उस प्रकारसे ठाकुरजी पुष्ट करने चाहिये. पर वैष्णवोंको भी ऐसा ही पसंद है ; तुम temporary पुष्ट कर दो. permanent करोगे तो फिर गले पडेंगे! हमें भी लगता है कि permanent कहाँ पुष्ट कराने? इसलिये चरणस्पर्श करके temporary पुष्ट कर दिये. यह सब आजकलका प्रकार है. जैसा गुरु वैसा चेला, जैसा

चेला वैसा गुरु – ऐसा चल रहा है. अपने सिद्धान्तसे यह विपरीत बात है.

प्र. १९ सेव्यस्वरूप पुष्ट कराये न हों और हम भावसे सेवा करें तो प्रभु अंगीकार नहीं करते ऐसा सबका कहना है. तो ऐसा क्यों?
उ. १९ प्रभु क्या अंगीकार करेंगे और क्या नहीं करेंगे इस बारेमें किसी प्रकारका प्रतिबन्ध हमने रखा तो प्रभुको हम सर्वसमर्थ नहीं मानते. पुष्ट करानेकी मर्यादा है वो मार्गकी मर्यादा है, प्रभुकी मर्यादा नहीं. मार्गमें अगडम्-बगडम् नहीं चल सकता. शिशुपालका उद्धार हुआ तो हम गाली नहीं दे सकते. ठाकुरजीने पूतनाको सद्गति दी तो हम विष भोग नहीं धर सकते. मार्गकी मेंड अनुसार चलना चाहिये. तदनुसार हम पुष्ट कराके ही सेवा करते हैं.

प्र. २० किस परिस्थितिमें स्वरूपसेवा पधरानी चाहिये और किस परिस्थितिमें चित्रसेवा पधरानी चाहिये?
उ. २० स्वरूपसेवा और चित्रसेवासे सम्बन्धित किसी भी चर्चामें उतरनेसे पहले दो-तीन बातें साफ-साफ समझ लेनी चाहिये. सर्वप्रथम तो यह कि शास्त्रोंमें अष्टविध प्रतिमाओंका जो वर्णन आता है उनमें धातु, शिला आदिसे निर्मित प्रतिमाके साथ ही साथ चित्रमयी प्रतिमाका भी उल्लेख उपलब्ध होता ही है. दूसरी बात भगवानका सान्निध्य भगवानकी सर्वोपादानता, सर्वात्मकता तथा सर्वरूपताके अलावा मर्यादाभक्तिमें शास्त्रोक्त प्राणप्रतिष्ठारीतिके अनुसार तथा पुष्टिभक्तिमें पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा या भावप्रतिष्ठाके आधारपर स्वीकारा गया है. इस प्रतिष्ठाविधिमें चित्र या धातु या शिलासे निर्मित मूर्तिके भेदवश किसी भी तरहके तारतम्यकी बात कही नहीं गई है.

तीसरी बात. साधनदीपिकामें गोस्वामी श्रीगोपीनाथप्रभुचरणोंने यद्यपि "चित्रमूर्तिरविज्ञानाम्" कहकर सम्प्रदायकी सेवाप्रणालीके अभिज्ञ तथा सेवारीतिकी सुविधासे सम्पन्न लोगोंकेलिये स्वरूपसेवाका कल्प उत्तम माना है तथा अनभिज्ञ एवं असम्पन्न लोगोंकेलिये चित्रसेवा उपयुक्त मानी है, फिर भी इसका कथमपि तात्पर्य भगवत्सन्निधानके तारतम्यमें नहीं खींच लेना चाहिये. क्योंकि सम्प्रदायमें यद्यपि स्वरूपसेवाकी अतीव प्रधानता स्वीकारी

गई है फिर भी शास्त्रोंमें कँई जगह क्रियावान कर्मिष्ठोंकेलिये अग्निमें ईश्वरबुद्धि रखने, मनस्वियोंकेलिये उपरि लोकोमें, योगियोंकेलिये हृदयमें और अज्ञानियोंकेलिये प्रतिमामें ईश्वरबुद्धिका विधान वर्णित हुआ है. श्रीपुरुषोत्तमजीने इस तरहके वचनोंका स्पष्टीकरण देते हुए यह बात बहुत भारपूर्वक कही है कि जो प्रतिमा अज्ञानियोंके उद्धारमें भी समर्थ - सक्षम हो वह ज्ञानियोंकेलिये कभी हेय नहीं हो सकती है. इस स्पष्टीकरणको थोडासा व्यापक बनाकर पूर्वोक्त श्रीगोपीनाथजीके वचनपर भी लागू करके देखा जाय तो सैद्धान्तिक स्थिति बिलकुल स्पष्ट होती है. अर्थात् सेव्यस्वरूप चाहे चित्रात्मक हो चाहे धातु / शिलानिर्मित मूर्त्यात्मक ; तारतम्यबुद्धि उपयुक्त नहीं है. भगवत्सन्निधि तो भगवत्प्रसादी अंगराग, वस्त्र, वेणु आदिमें भी जब तारतम्यविहीनतया मान्य की गई है तब चित्र और स्वरूप में भेदभाव रखना सिद्धान्तकी घोर अवहेलना है.

इन तीन बातोंको स्पष्टतया बुद्धिगत रखकर संक्षेपमें अब यह कहा जा सकता है कि स्वरूपको स्नान कराने, वस्त्र धराने, शृंगार धराने आदिकी सुविधा, सौकर्य तथा समय जिनके पास हो उनकेलिये उचित है कि वे स्वरूपसेवा पधरायें. परन्तु स्नान, वस्त्र - शृंगार आदि धरानेका सौकर्य तथा समय जिन्हें उपलब्ध न हो ऐसे भक्तिमार्गीयोंको चित्रसेवा करनी चाहिये. आजकल शहरोंमें व्यस्ततापूर्ण जीवनप्रणालीमें चित्रसेवाका प्रकार सुगम हो सकता है इसमें तो सन्देह ही नहीं है. वैसे चित्रसेवा पधरानेके बाद भी कँई भक्त भावपूर्वक वस्त्र-शृंगारादि धराते हैं चित्रजीको काचकी फ्रेममें पधराकर. ज्ञातव्य इसमें यही है कि उतनी सुविधा, सौकर्य यदि हो तो स्वरूपसेवा करनेसे और ज्यादा सुख स्नान - वस्त्र - शृंगारादिका हमें मिल सकता है. वैसे तो भावमार्ग है अत: भावसे की गई कोई भी सेवा वर्जनीय तो मानी नहीं जा सकती. परन्तु अक्सर यह दर्शन होते हैं कि इस तरहकी सेवासे चित्रजीके चित्रात्मक स्वरूप बहुधा जीर्णशीर्ण हो जाते हैं. पानी, अंगवस्त्र कराते रहनेसे पानीकी भेज चित्रजी तक पहुंच जाती है और स्वरूपको परिश्रमकी सम्भावना बनी रहती है.

प्र. २१ आजकी परिस्थितिमें दोमेंसे क्या योग्य है— घरमें रहते हरेक ब्रह्मसम्बन्धी वैष्णवके माथे अलग - अलग श्रीठाकुरजी बिराजे यह, कि

सब परिवारजनोंका एक ही ठाकुरजीकी सेवामें विनियोग ?
उ. २१ उत्तम तो यह है कि परिवारके सब सदस्य परिवारके माथे बिराजते एक ठाकुरजीकी सेवा करें. कोई कारणसे आपसमें कलह होता हो तो अलग-अलग ठाकुरजी पधराकर सेवा करनी चाहिये. तुम्हारी रसोईकी व्यवस्था कैसी होती है? सब साथ बैठकर खाते हो और देवरानी-जेठानी साथ मिलकर रसोई बनाते हो तो उत्तम, पर आपसमें झघडे होते हो तो अलग-अलग रसोई होती है. वैसे ही सेवाका. सिद्धान्त तो यही कि जैसे सहजतासे हो वैसे सेवा करें.

प्र. २२ माथे लालन बिराजते हो तो साथमें गोवर्धननाथजी पधराने ही चाहिये ?
उ. २२ कोई नियम इस बारेमें कहा नहीं जा सकता. "कम बाल जयगोपाल" ऐसे भारतसरकार कहती हैं, पर किसे कितने बालबच्चे चाहिये यह माँ-बापका विषय है. उसमें कोई सिद्धान्त या कानून काम नहीं आता ; तुम्हारे हृदयकी भावना काम आती है.

प्र. २३ एक सिंहासनपे श्रीमहाप्रभुजीकी गोदमें लालन बिराज सकते हैं या नहीं ?
उ. २३ आनन्दसे बिराज सकते हैं. महाप्रभुजीकी गोदमें लालन न बिराजे तो कहाँ बिराजेंगें ?

प्र. २४ श्रीमहाप्रभुजीके मतमें सेवाका सिद्धान्त क्या है ?
उ. २४ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीके मार्ग पुष्टिमार्गमें जो दीक्षित हो उसका कर्तव्य श्रीमहाप्रभुजी चतु:श्लोकीके प्रथम श्लोकमें दिखाते हैं "सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:, स्वस्य अयमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन". सर्वदा भगवानके बारेमें जो कुछ भी भाव हो सकते हैं उन सभी भावोंके साथ व्रजाधिप अर्थात् श्रीकृष्ण ही एक भजनीय हैं. पुष्टिमार्गीयिके रूपमें दीक्षित व्यक्तिका कर्तव्य या धर्म यही है. अन्य कुछ कभी भी कर्तव्य नहीं हो सकता. कृष्णका भजन (सेवा) अपने लिये धर्म है.

इस कृष्णभजनका स्वरूप भी महाप्रभुजी सिद्धान्तमुक्तावलीके दूसरे श्लोकमें इस तरह समझाते हैं "चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा, ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिः ब्रह्मबोधनम्". चित्तका भगवानमें लगना यह सेवा है. चित्तको भगवानमें लगानेकी सिद्धिकेलिये तनुवित्तजा सेवा करनी चाहिये. तनुवित्तजा सेवा करनेसे संसारके दुःख निवृत्त होते हैं और ब्रह्मका ज्ञान मिलता है. कृष्णसेवाका विधान सिद्धान्तमुक्तावलीके पहले श्लोकमें इस प्रकार किया है : "कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता" सेवकको कृष्णसेवा सदा करनी चाहिये और कृष्णसेवा जब मनसे होने लगे तब वह मानसीसेवाके रूपमें सिद्ध होती है. "मानसी सा परा मता" यह सेवाकी परम उत्कृष्ट अवस्था है. और उसकी सिद्धिकेलिये जिस सेवाको साधनरूप गिनाई उसका स्वरूप तनुवित्तजा –यों श्रीमहाप्रभुजी समझाते हैं.

इस बारेमें श्रीगुसांईजी कहते हैं : "उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः तदिति ...". इस तनुवित्तजाकी संकल्पनाको अच्छी तरह समझनी चाहिये. वित्त देकर किसी दूसरे पुरुषद्वारा यदि हम सेवा करायें "वित्तं दत्वा कारिता एका", वैसे ही किसीका पैसा लेकर हम खुद सेवा करें. अर्थात् जो वित्त देकर कराई जाती सेवा है वो वित्तजासेवा कही जायेगी और जो अन्योंसे वित्त लेके खुद सेवा करता हो वह तनुजासेवा कहलायेगी. इस बातको समझाते श्रीगुसांईजी कहते हैं "एतादृश्यौ ते तत्साधिके न". इस प्रकार किसीको सेवाकेलिये पैसे देने और सेवार्थ किसीसे पैसे लेने –ये दोनों प्रकारको अपनानेपे सही ढंगसे सेवा हो नहीं सकती. सच्ची सेवाका स्वरूप यह है कि अपने पैसेसे और अपने देहसे हम सेवा करें, जो कि तनुवित्तजासेवा कही जाती है.

यही सिद्धान्त अधिक स्पष्टतासे समझाते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि जो दो प्रकार तनुजा और वित्तजा बताये उसमें "तत् चेत् वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती, चित्तस्य तत्प्रवणं न करोति". यदि हम किसीको वेतनके रूपमें पैसे देकर सेवा कराते हैं तो उससे चित्तमें राजसत्व अर्थात् अहंकार बढता है ; उससे चित्त भगवानमें कभी भी लग नहीं सकता है. और यदि किसीसे वेतनके रूपमें पैसे लेकर सेवा की जाती है तो वह सेवा भाडूती बिकाऊ

हो जाती है और वैसी भाडूती सेवासे भी चित्त भगवानमें लग सकता नहीं. इसलिये इन प्रकारोंसे सेवा नहीं करनी चाहिये.

सेवा करनेका सच्चा साधन है अपने मनसे, अपने धनसे, स्वयं अपने घरमें सेवा करनी. क्योंकि सेवाकेलिये श्रीमहाप्रभुजी और श्रीगुसांईजी दोनों यही ग्रन्थमें प्रारम्भमें कहते हैं कि सेवा यह सेवकका धर्म है और यह सहजधर्म है. अर्थात् यह कोई कर्मकाण्डके रूपमें करनेका धर्म नहीं कि वह यह कालमें करनी. या कोई एक निश्चित कालमें करनी ऐसा भी नहीं. समग्र सेवा यह पुष्टिमार्गीय व्यक्तिकी जीवनप्रणाली है और इस तरहसे यदि सेवा हो तो ही वह सेवाका सच्चा स्वरूप निभ सकता है.

निरोधलक्षणमें सेवाका प्रयोजन समझाते हुए श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "संसारावेशदुष्टानां इन्द्रियाणां हिताय वै, कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्" (निरोधल. १४). अर्थात् सेवा इस प्रकार करनी चाहिये कि अपनी सभी इन्द्रियाँ, अपने प्रत्येक व्यवहार कोई न कोई तरहसे भगवानके साथ जुड जाय. इसकी व्याख्या करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी समझाते हैं "तादृशेन हि संसारावेशदुष्टानि इन्द्रियाणि निग्राह्याणि।" क्योंकि सांसारिक विषयोंमें हमारी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होती है और इसमें इस प्रवृत्तिके कारण जब इन्द्रियोंके व्यवहारमें संसारका आवेश हो तब दोष उत्पन्न होता है. उनका यदि हम निग्रह करने जायें तो वह ठीक तरहसे हो नहीं सकता. इन्द्रियोंको एक तरहसे अश्वकी उपमा दी गई है. जैसे घोडेको एकदम स्वतन्त्र छोड दे तो कहाँ भी ले जायेगा और बहुत लगाम खींचे तो सवारको ही पटक देगा. वैसे इन्द्रियोंकी ज्यादा लगाम खींचनी नहीं और ज्यादा ढीली भी नहीं छोडनी –ऐसा एक मध्यममार्ग अपनाना चाहिये. सो सेवासिद्धान्तको लेकर श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं "तानि च निगृह्यमाणानि क्षोभं जनयन्ति।" अर्थात् इन्द्रियोंका यदि सर्वथा निग्रह करने जायेंगे तो क्षोभ उत्पन्न होगा. क्षोभ मतलब Frustration. इसलिये उसका सही स्वरूप यह है कि इन्द्रियोंका सर्वथा निग्रह भी नहीं करना और बिलकुल मुक्त भी नहीं रखनी. पर जैसे बने वैसे सभी इन्द्रियोंका व्यवहार भगवानके साथ जोड देना. उदाहरणत: खानेका शौक है तो प्रभुको भोग धरके खाना, पहननेका शोक है तो प्रभुको वस्त्र धराकर

पहनने, संगीत सुननेका शौक है तो प्रभुसम्बन्धी संगीत सुनना... ऐसे जिन-जिन इन्द्रियके जो-जो शौक हैं उनका किसी तरहसे भगवानके साथ समन्वय यदि हम करने लग गये तो इन्द्रियोंका सम्पूर्ण निग्रह और इन्द्रियोंको सर्वथा मुक्त रखनेमें जो खतरे हैं उससे हम बच सकते हैं.

श्रीआचार्यचरणके मतानुसार सेवा हरेक गृहस्थका आवश्यक कर्तव्य है. क्योंकि श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं "गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तत् चेत् त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थे तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः॥२५१॥" (सर्वनिर्णयनिबन्ध). घर छोड देना चाहिये, घरका त्याग करना चाहिये, क्योंकि घरके कारण हमें आसक्ति होती है. पर यदि घरका त्याग नहीं कर सकते तो फिर घरका विनियोग कृष्णकी सेवामें करना चाहिये. धनको सर्वथा छोड देना चाहिये, किन्तु धनका त्याग हो नहीं सकता इसलिये धनका कृष्णसेवामें उपयोग करना चाहिये. कृष्णकी सेवामें घर और धनको उपयोगमें लेनेसे घर और धनमें जो अनर्थ रहे हुए हैं वे निवृत्त हो जाते हैं. और इसलिये श्रीआचार्यश्री कहते हैं "एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्, अन्येषां सम्भवे तु स्यात् यतेः पर्यटनं वरम्". ये जो हमने सेवाका प्रकार बताया वह गृहस्थकेलिये बताया. इस विधानका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं "ब्रह्मचारीप्रभृतिनामपि सेवक-साधन-सम्पत्तौ एतद् कर्तव्यम्" अर्थात् कोई अनुयायी ब्रह्मचारी हो और स्वयं समृद्ध हो और अपने सेवक-साधन-सम्पत्तिका उपयोग हो सकता हो तो ब्रह्मचारीको भी इसी प्रकार घरमें ठाकुरजीकी सेवा करनी चाहिये. जो घरमें सेवा नहीं कर सकते हों उनको घर छोड देना चाहिये, गृहत्याग करना चाहिये. उनकेलिये दूसरे उपाय, जैसे कि तीर्थयात्रा, सन्न्यास आदि बताये गये हैं.

गृहस्थकी सेवामें पाँच प्रकारके दोष होते हैं, और ऐसे दोष यदि होते हो तो गृहस्थको भी सेवा नहीं करनी चाहिये. इन दोषोंपे यदि हम ध्यान दें तो सेवाका *प्राईवेट नेचर* (एकान्तिक निजी प्रकार) हमें समझमें आता है. पहला दोष यह है कि किसीको कभी सेवामें रुचि ही न जगती हो और जबरदस्ती करनी पडती हो ; जिसे गुजरातीमें वेठ (भाररूप) कहते हैं वैसी वेठ करनी पडती हो, तो उसे सेवा

छोड देनी चहिये. क्योंकि ''स्वतः प्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि''. जब इन्द्रियोंकी स्वाभाविक सहज रुचि सेवामें न हो पर जबरन इन्द्रियोंको सेवामें लगाने जायेंगे तो विक्षेप होगा. दूसरा दोष यह है कि वृद्धावस्था या व्याधिके कारण यदि शरीरमें शारीरिक शक्ति न रही हो तो जबरदस्ती सेवा नहीं करनी चाहिये. तीसरा दोष है ''स्वस्य परम आग्रह उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति।'' हमें अत्याग्रह हो जाये और इससे चित्त तामसभावमें प्रविष्ट रहनेसे प्रभुका स्मरण न होता हो. चौथा दोष है ''लोकानां वा पीडां कुर्यात् तदा पूजा त्यक्तव्या.'' अपनी सेवासे पडोसियोंको या परिवारके लोगोंको पीडा होती हो तब भी हमको सेवा छोड देनी चाहिये. ''तदा अन्यत्र अपि तथात्वे परदेशे शून्यदेवालये पूजा विधेया''. अपनी सेवासे हमारे परिवारको या पडोसियोंको पीडा होती हो तो घरमें सेवा न करके कोई शून्यदेवालयमें ; अर्थात् खण्डहर उजाड मन्दिर हो जहाँ कोई न जाता हो वहाँ जाके सेवा करनी और वापिस घर आ जाना –ऐसे करना चाहिये. पाँचवा दोष यह है कि हमें बीमारी या वृद्धावस्था आदि न हो और हम सेवा कर पानेमें सक्षम हों, पर परिवारवाले या पडोसी आदि सेवामें प्रतिबंध करते हो और उन्हें हम निवृत्त न कर पाते हों. इतने दोष बिना यदि सेवा हो सकती हो तो गृहस्थको अपने घरमें ही सेवा करनी चाहिये. गृहसेवा न हो सकती हो तो गृहका त्याग करना चाहिये यह श्रीआचार्यचरणका सिद्धांत है.

इन्हें देखनेपर स्पष्ट समझमें आता है कि गृहसेवा यह गृहस्थकेलिये बताया गया धर्म है. जो गृहस्थीमें नहीं रह सकते, जो अपनी गृहस्थीमें भगवानकी सेवाको *एडजेस्ट* नहीं कर सकते (निभा नहीं सकते) उनकेलिये श्रीमहाप्रभुजी तीर्थ-पर्यटन आदि उपाय दिखाते हैं.

इसी सन्दर्भमें सिद्धान्तरहस्य नामक ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं ''निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः, अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन, असमर्पितवस्तूनां तस्मात् वर्जनम् आचरेत्''. अर्थात् जो पुष्टिमार्गमें ब्रह्मसम्बन्ध लेकर दीक्षित होता है उसे असमर्पितवस्तुका त्याग करना चाहिये. असमर्पित वस्तु, अर्थात् जो भगवानकी सेवामें उपयोगमें न आई हो ऐसी वस्तुसे बचना चाहिये. ''यतो अस्मिन् मार्गे

भगवत्सम्बन्धाभाववत्-वस्तुसंसर्गस्यैव दोषत्वम् अतः स्वार्थः भगवदसमर्पितवस्तूनां वर्जनम् आचरेत् = संसर्गम् अपि न कुर्याद् इति अर्थः।'' क्योंकि जिसका भगवानसे सम्बन्ध नहीं जुडा है वैसी वस्तुको अपने उपभोगमें लानी यह सेवाके सिद्धान्तके साथ मेल खाती बात नहीं है. ''एवम् असमर्पितवस्तुमात्रत्यागे तादृशस्य अग्रे लौकिकालौकिक-व्यवहारसिद्धिः कथम्?'' यदि इस प्रकार असमर्पितवस्तुका त्याग करें तो हरेक व्यवहार किस प्रकार चले? उसका प्रकार बताते हैं ''निवेदिभिः'' अर्थात् जिन्होंने ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा ली है उन्हें अपना लौकिक और वैदिक सब कार्यकेलिये (उदाहरणतः पुत्रादिका विवाह या ब्राह्मणभोजन या अपने उपभोगकेलिये या वैदिक श्राद्ध इत्यादि) भगवानको समर्पित करके ही लेना चाहिये. बिना समर्पित किये कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये.

यदि हमें घरकी हरेक चीज भगवानको समर्पित करनी है और सेवा यदि *प्राईवेट* (निजी) स्वरूपकी न हो तो घरकी हरेक चीज भगवानको समर्पित करनेकी प्रणाली कैसे निभ सकती है? इसलिये इस बातपर हम अवश्य ध्यान दें कि सेवाका एक मुख्य सिद्धान्त असमर्पितवस्तुके त्यागका है और असमर्पितवस्तुका त्याग यदि प्रत्येक व्यक्तिकेलिये कर्तव्य है तो सेवा जब तक *प्राईवेट* (निजी) न हो तब तक असमर्पितवस्तुका त्याग हो नहीं सकता.

श्रीपुरुषोत्तमजी इसका स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं कि ''स्वात्मसमर्पणावसरे'' अपना आत्मसमर्पण जब किया (ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाके समय) तब ''निवेदितैः दारादिभिः'' अर्थात् अपने परिवारके सब सदस्य पत्नी, पुत्र, पिता आदिका ''गृहवित्तादिभिः अचेतनैश्च'' अपना घर, अपना धन, सम्पत्ति आदिका हम भगवानको समर्पण करते हैं. और यह समर्पण किया मतलब केवल मुँहसे कह दिया कि ''मैंने समर्पण किया'' इतना ही नहीं होना चाहिये पर किसी न किसी प्रकारसे सभीको भगवत्सेवामें उपयोगमें ले सकते हो वैसा सेवाका प्रकार घडना चाहिये. वे कहते हैं ''तत्सर्वं भगवते तेषां यथोचितविनियोगरूपं समर्पणं विधायैव कुर्यात्।'' इसका खुलासा करते हुए कहते हैं '' 'शास्त्रे निवेदनं दानम् अर्पणं त्रिविधं स्मृतम्, निवेदनं समुद्दिश्य द्रव्यस्य ज्ञापनं मतम्, दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः, अर्पणं स्वाभिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम्, सुदृष्टान्तदृष्टेन

तदा त्रिविधं प्रमा।' –इति क्वचित् वैष्णवनिबन्धे दर्शनात्।'' निवेदन, दान और समर्पण यह तीन प्रकार होते हैं लेन-देनके व्यवहारमें. निवेदन मतलब एक तरहका *इन्टीमेशन.* हम प्रभुको कहते हैं कि जो अहन्ता - ममता मैंने पनपाई वह मेरे गृह, पति / पत्नी, पुत्रादिमें रही हुई मेरी अहन्ता - ममता मिथ्या है, हरेक चीज प्रभु आपकी है. यह केवल शाब्दिक *(वर्बल) इन्टीमेशन* है. दानका मतलब है स्वकीयताका त्याग अर्थात् मालिकीका हस्तांतरण, *ट्रान्सफर ऑफ ओनरशिप.* यह निवेदन और दान इन दोनोंसे तीसरा पृथक् प्रकार समर्पणका है. ''अर्पणं स्वामिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम्।'' हम जिन्हें स्वामी मानते हो उनकी सेवामें जो उपयोगी चीज हो उसे उनके उपयोगमें लेना और वह उपयोगसे बचे वह वापिस अपने उपयोगमें ले सके उसका नाम समर्पण.

एक बार जिस चीजका दान किया हो उसे हम अपने उपयोगमें नहीं ले सकते. अत: अपने यहाँ सेवाका क्रम दानसे नहीं चलता पर निवेदन और समर्पणसे चलता है. इसीलिये श्रीआचार्यचरण कहते हैं ''निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्यात्।''. अपने यहाँ प्रभुको दानरूपमें कोई वस्तु देनेमें नहीं आती, क्योंकि श्रीआचार्यचरण कहते हैं ''दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः, न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।'' दानसे भगवानकी पूजा - सेवा करना यह भिन्न मार्गकी बात है, अर्थात् पुष्टिमार्गकी बात नहीं है. यह मर्यादामार्गीय भक्तिके प्रकारमें आता है. पुष्टिमार्गीय भक्तिके प्रकारमें दानसे सेवा करनेका प्रकार नहीं है ; निवेदन और सर्मपणसे सेवा करनेका पूरा प्रकार है. इसलिये इसमें अपना और प्रभुका कुछ भेद नहीं है. हमारी प्रत्येक चीज प्रथम प्रभुके उपयोगमें आनी चाहिये और प्रभुके उपयोगमें आये पीछे प्रत्येक चीज हमारे उपयोगमें हम ले सकते हैं. और ऐसे ही लेनी चाहिये, क्योंकि यह भगवत्प्रसाद समझकर हम उपयोगमें ले सकते हैं. जबकि दान हुआ हो तब उसे हम अपने उपयोगमें नहीं ले सकते, क्योंकि इसमें *ट्रान्सफर ओफ ओनरशीप* (मालिकीका हस्तांतरण) होती है. ''दानं स्वकीयतात्याग:'' अर्थात् हमने जिसमेंसे स्वकीयताका त्याग किया उसे हम अपने उपयोगमें नहीं ले सकते. और वह लेनेपर दत्तापहार नामक अपराध होता है. समर्पणमें केवल अपने स्वामी माने जाते हैं ; इसलिये प्रभुकी सेवामें प्रथम उपयोगमें ले सकते हैं और

समर्पितका प्रसादरूपमें पुनर्ग्रहण होता है. सेवाके प्रकारमें अपने यहाँ दान नहीं है, समर्पणका ही प्रकार है. उदाहरणतः अपने घरमें हम श्रीठाकुरजीको पधराकर सेवा करें और उसमें हम भी रहें. अपने घरमें ठाकुरजीको पधराये इसलिये अपना घर हम ठाकुरजीको दानरूपमें नहीं दे देते पर समर्पणरूपमें देते हैं ; इसीलिये अपन भी रह सकते हैं. हम जो भोग ठाकुरजीको धरते हैं वह दानरूपमें नहीं धरते पर समर्पणरूपमें धरते हैं ; इसलिये वह भोगका पुनः प्रसाद ले सकते हैं. ठाकुरजीको जो वस्त्रादि धरानेमें आते हैं या गहने, आभूषण आदि धरानेमें आते हैं वह भी दानरूपमें नहीं पर समर्पणरूपमें धराये जाते हैं ; इसलिये ठाकुरजीको धराकर ठाकुरजीके प्रसादी गहनेके रूपमें हम भी पुष्पमाला आदि पहन सकते हैं. ऐसे ही हरेक चीजका समझना. क्योंकि सेवाके प्रकारमें निवेदन और समर्पण यह मुख्य है, दानका अपने यहाँका प्रकार ही नहीं है ; मर्यादामार्गीय भक्तिका प्रकार है.

इसीलिये श्रीकल्याणरायजी "दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः, न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।" की व्याख्या करते कहते हैं "निवेदनस्य नवविधभक्तौ उक्तत्वेन भक्तिरूपत्वात्।" हम जो आत्मनिवेदन करते हैं (ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाके समय) वह नवधाभक्तिमें की अन्तिम भक्ति है— श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन. और वह आत्मनिवेदनरूपी भक्तिमें " 'दारान् सुतान्' इति सार्धश्लोकेन भक्त्यर्थत्वात् च" अपनी पत्नीको, पुत्रको, पिताको, भाईको, बहनको सबको अपने प्रभुकी सेवामें निवेदित करते हैं. अर्थात् प्रभुको हम एक प्रकारसे ज्ञापित करते हैं "यह सब परिवारके सदस्य, घर, धनके साथ मैं आपकी सेवाकेलिये उपस्थित हूँ." और वह निवेदनके पश्चात् वह सभी भगवानकेलिये हैं. "पूजामार्गे निवेदनाभावात् तत्र भगवते निवेदनं दानमेव।" क्योंकि मर्यादामार्गमें, जो पूजामार्ग है, वहाँ ऐसा नहीं. इसलिये भगवानको जो कुछ निवेदन किया जाता है वह वहाँ दानके रूपमें होता है. "निवेदने स्वस्वत्वनिवृत्तेः अभावात्" किसी भी वस्तुका हम भगवानको निवेदन करें उससे हमारी मालिकी निवृत्त नहीं हो जाती, स्वस्वत्वकी निवृत्ति नहीं होती. "निवेदितस्य भगवदुपभुक्तस्य उच्छिष्टस्य प्रसादत्वेन ग्रहणे बाधकाभावात्" इसलिये जब हम भगवानको निवेदित

कर दे, सर्मपण कर दे, और वापिस वह समर्पित प्रसाद रूपमें ग्रहण करें तो उसमें कुछ बाधक नहीं. जबकि दानमें अपना स्वत्व निवृत्त हो जाता है, *ओनरशिप ट्रान्सफर* हो जाती है. इसलिये पूजामार्गमें जो कुछ भगवानको निवेदित किया हो वह पुनः ग्रहण नहीं हो सकता ; फिर वह घर हो, सम्पत्ति हो या जो हो वो. पर पुष्टिमार्गीय सेवा प्रकारमें दानका यह प्रकार नहीं है.

इस प्रकार तनुवित्तजासेवा और अपने परिवार, धन, सम्पत्ति सबका सेवामें विनियोग करके भगवानके प्रसादसे अपना सम्पूर्ण जीवनव्यवहार चलाना यह सेवाका बाह्य स्वरूप और बाह्य प्रयोजन है. इसके द्वारा भगवानमें चित्त लगाना यह आन्तरिक स्वरूप और आन्तरिक प्रयोजन है. भगवानके प्रति हमारा भाव इससे बढता है.

इस भाववर्धनकेलिये ब्रह्मसूत्र ३।४।४९ सूत्रमें कहते हैं ''अनाविष्कुर्वन् अन्वयात्''. अर्थात् भगवानमें सर्वेन्द्रियोंका विनियोग गृहस्थको करना होता है वह किस प्रकार करना चाहिये यह समझाते हुए अणुभाष्यमें कहते हैं ''भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वात् आश्रमधर्मे एव लोके स्वभगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजन्त्येतदाशयेन ते धर्माः उक्ताः''. चित्तको भगवानमें लगानेकेलिये सेवा भावसे करनी चाहिये. यह भाव रसात्मक होनेसे यदि साधक गाँवमें गली-गलीमें (जाहिरमें) फिरे तो यह भाव बढ नहीं सकता. इसलिये अपने सेवासम्बन्धी भावको गुप्त रखो और स्वयं जिस आश्रममें जिस अवस्थामें हो वैसे रहो. उदाहरणतः कोई गृहस्थ हो वह गृहस्थीके धर्मोंका प्रकट रीतिसे आचरण करे. सन्न्यासी हो तो सन्न्यासीके धर्म प्रकट रूपमें आचरणमें लाये. अपना सेवाधर्म प्रकट रूपसे आचरण करनेका नहीं है इसलिये सेवासम्बन्धी अपने धर्म और भावको प्रकट किये बिना एकान्तमें सेवा करनी चाहिये. इस प्रकार यदि सेवा करें तो ही सेवाका मुख्य प्रयोजन निभता, सुरक्षित रहता है ; वर्ना सुरक्षित नहीं रहता. ''गोपने मुख्य हेतुम् आहः 'अन्वयाद्' इति. यतो भगवता समन्वयं सम्बन्धं प्राप्य वर्तते तावतस्तथा. एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति तावद् एव बहिः आविष्करणं सम्भवति, प्राकट्ये तु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम्''. जब तक हृदयमें भगवानका प्राकट्य नहीं है तब तक ही भगवत्सेवासम्बन्धी भावका हम

पब्लिकमें *एकझिबिशन* (जाहिर प्रदर्शन) कर सकते हैं. एक बार हृदयमें यदि भगवान प्रकट हो तो वह भाव और सेवा का *एकझिबिशन* (प्रदर्शन) हो नहीं पाता. इसमें ध्यान देनेकी बात इतनी ही है कि सेवाका अन्तरंग प्रयोजन अपने घरकी एक जीवनप्रणालीके रूपमें सेवाको स्वीकारनेका है, कर्मकाण्डके रूपमें नहीं. और घरमें एक जीवनप्रणालीरूप सेवाको स्वीकारके भी उसका गाँवमें प्रदर्शन करना अभिप्रेत नहीं है. अपने आप शांतिसे घरमें *प्राईवेट* (निजी) रूपमें ही सेवा करनी होती है.

मन्दिरोंमें वैष्णव आने लगे, दर्शन करने लगे. क्योंकि आरम्भमें वैष्णवोंका और महाराजोंका ऐसा पारिवारिक घनिष्ट सम्बन्ध था इसलिये उनको आने और दर्शन करनेकी छूट मिली. बादमें *पोप्युलेशन* (आबादी) बढ गई और एकके दस हो गये, सब दर्शन करने लगे. तब यह बात या सिद्धान्तकी ओर ध्यान न रहा. और आज हमको ऐसा लगता है कि सभी दर्शन करने आते हैं. वस्तुतः उनको ही दर्शन करने देने और कराने चाहिये कि जिनके साथ हमारा परिवार जैसा सम्बन्ध हो. गाँवका हर व्यक्ति अपनी सेवाका दर्शन नहीं कर सकता, और करे तो सेवाका सच्चा स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सकता. इसीलिये सेवामें उपयोगी स्थल, सेवामें उपयोगी द्रव्य, सेवामें उपयोगी जो हमारे सहायक हैं इन सबकी व्यवस्था समझाते हुए श्रीआचार्यचरण कहते हैं "यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैः आभरणैः अपि, अलंकुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरःसरम्" (सर्वनिर्णय २३०). सेवा ऐसे प्रेमपूर्वक करनी चाहिये कि जिसको करनेपर अपना प्रभुमें चित्त लगे, प्रभुमें प्रेम बढे. घरमें प्रभुकेलिये स्वतन्त्र स्थान होना चाहिये ; एक स्वतन्त्र मन्दिर होना चाहिये कि जहाँ प्रभुको हम पधराकर सेवा करें. उस मन्दिरको भी अलंकृत करना चाहिये, भगवानको भी अलंकृत करने चाहिये. और भार्यादि ; अपनी पत्नी, अपना पुत्र आदि, सभी यदि अनुकूल हो तो उनको भी सेवामें जोडने चाहिये. यदि वे अनुकूल न हो और उदासीन हो तो स्वयं सेवा करनी चाहिये पर जो अपनी सेवामें विघ्न करते हों तो ऐसे घरका त्याग करना चाहिये.

इस विधानसे हम स्पष्ट समझ सकते हैं कि सम्पूर्ण सेवाका विधान गृहस्थकेलिये गृहस्थकी जीवनप्रणालीके रूपमें है ; कोई मन्दिरमें

किये जानेवाले कर्मकाण्डके रूपमें सेवाका विधान नहीं हुआ. क्योंकि नौकरोंका भी सेवामें उपयोग है तो वह एक गृहस्थीमें जिस प्रकार नौकरोंका उपयोग होता है उतना ही उपयोग है ; कर्मकाण्डके रूपमें जैसे पूजारीको रखकर हम सेवा करें उस प्रकारसे नौकरका सेवामें उपयोगी नहीं है. मुख्यतः घरके सारे लोगोंके साथ मिलकर सेवा करनी होती है. और उसका स्थान भी घरमें मन्दिरके रूपमें होना चाहिये ; घरसे बाहर ठाकुरजीका मन्दिर नहीं होना चाहिये. उसके ही प्रमाणरूपमें आज भी हरेक पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें ठाकुरजीकी सेवाका स्थल अलग नहीं होता ; पहले मालेपे महाराज रहते हों तो नीचे ठाकुरजीकी सेवा होती है. मन्दिर और घर यह अलग - अलग नहीं होते.

सेवा किन चीजोंसे करनी उसकी व्यवस्था समझाते हुए श्रीआचार्यचरण निबन्धमें कहते हैं "यद् यद् इष्टतमं लोके यच्च अतिप्रियमात्मनः, येन स्यात् निर्वृतिः चित्ते तत्कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्". भगवानकी सेवामें किसी भी वस्तुका क्लेशपूर्वक समर्पण न करें. तीन प्रकारके क्लेश समझाये गये हैं : १. लोकमें जिस वस्तुको प्राप्त करनेमें क्लेश होता हो ऐसी कोई लोकक्लिष्ट वस्तुसे सेवा न करनी. २. 'आत्मक्लिष्टं' अर्थात् यदि बालभावसे हम प्रभुकी सेवा कर रहे हों तो उस बालभावसे प्रभुको क्लेश हो ऐसी कोई वस्तुका सर्मपण प्रभुको न करें. और ३. घरमें हमें स्वयंको क्लेश हो ऐसी कोई भी वस्तुसे सेवा नहीं, करनी चाहिये. जो लोकमें इष्टतम हो, हमें जो पसन्द हो, हम जो सरलतासे प्राप्त कर सकते हों, सहजरीतिसे जो प्राप्त कर सकते हों, उन सब वस्तुओंसे सेवा करनी चाहिये. इसके अलावा दूसरा कोई कर्मकाण्ड सेवामें आवश्यक नहीं है. जिस वस्तुको प्राप्त करके और सेवामें धरते हुए हमारे चित्तमें प्रसन्नता हो ऐसी वस्तुसे सेवा करनी चाहिये. "चिरकालचिन्तितम् अन्तःकरणप्रियं, तेनैव चित्तनिर्वृतिः". जिसका चिरकालसे मनोरथ हो उसे अंगीकार कराना चाहिये. द्रव्य अपना खुदका कमाया हुआ होना चाहिये ; दूसरेकी कमाई हुई वस्तुसे हम सेवा नहीं कर सकते हैं. और हमारा कमाया हुआ भी क्लेशसे कमाया हुआ नहीं होना चाहिये. जो हमने सहज रीतिसे कमाई हो वैसी वस्तुको सेवामें लगानी चाहिये, जिसे लगाते हुए चित्तमें हमें क्लेश न हो. इसके बादके श्लोकमें सर्वनिर्णयनिबन्धमें श्रीमहाप्रभुजी

कहते हैं "स्वयं परिचरेद् भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः, एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्". खुद सेवा करनी चाहिये. खुद यदि धंदेमें या व्यौपारमें व्यस्त रहता हो तो अपने परिवारके सदस्योंसे सेवा करायें और बाहरकी सेवा खुद करें. क्योंकि मुख्यतः "सेवा मुख्या न पूजा इति मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेत्". अपने यहाँ मुख्य सेवा है, पूजा मुख्य नहीं है. इसलिये मन्त्र बोलकर फूल चढा देने ऐसा प्रकार अपने यहाँ नहीं है. ठाकुरजीके वस्त्र धोने यह भी ठाकुरजीकी सेवा है, ठाकुरजीके मन्दिरकी सोहनी करनी (झाडू लगाना) यह भी सेवा है. या ठाकुरजीकी सेवाकेलिये हम नौकरी करते हों ऐसी हमारी नौकरी भी ठाकुरजीकी सेवाके रूपमें ही गिनी जाती है. पर यह बहिरंगसेवा है, अन्तरंगसेवा नहीं. इस प्रकार सेवाके निजी स्वरूपका प्रकार हमने समझा.

सेवा करनेमें दान और निवेदन का जो विवेक है वह ८४ वैष्णवोंकी वार्तामेंसे वासुदेवदास छकडाकी वार्तामें हमें इस प्रकार देखनेको मिलता है. श्रीमहाप्रभुजी अडेलमें स्वयं जब बिराजते थे उस समय ठाकुरजीको धरी हुई कटोरी गिरवी रखकर भोग धरना पडा. और वह कटोरी कोई प्रसंगमें कभी ठाकुरजीको निवेदनरूपमें नहीं पर दानरूपमें दी गई थी. इसलिये वह गिरवी रखकर जब भोग धरना पडा तब श्रीमहाप्रभुजीने प्रसाद लिया नहीं. मतलब जो सम्पत्तिका हम प्रसाद ले सकते हैं वह समर्पित-निवेदित भोग हो तो ही उसका ले सके. दानरूपमें जो ठाकुरजीकी सम्पत्ति हो उसका प्रसाद ले नहीं सकते. यह वार्तामें दान और निवेदन का भेद समझाया गया है.

सेवाका महत्त्व गृहस्थाश्रमकेलिये गृहस्थ व्यक्तियोंकेलिये है उसका विधान हमें सिद्धान्तरहस्यमें मिलता है. "अनेन सेवाभिलाषिणां गृहाश्रमः सर्वाश्रमेभ्योः बलीयान् इति उक्तं भवति. यस्य तु गृहे भगवद्सेवायाः अभावः तद्विषयकानि गृहत्यागवचनानि. अत एव 'हित्वात्मपातं गृहम् अन्धकूपम्' इत्यत्र आत्मपातत्वं अन्धकूपत्वं च विशेषणद्वयम् उक्तम्". 'सेवाभिलाषिणां' जो लोग पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासे सेवा करना चाहते हैं उनको गृहस्थाश्रममें रहना ही सबसे उत्तम प्रकार है. जिन लोगोंके घरमें सेवा नहीं निभ सकती उनकेलिये पुष्टिमार्गमें गृहत्यागका विधान है ऐसा समझना चाहिये.

घरमें सेवा पधराकर घरकी सेवाप्रणाली अनुसार सेवा करे तो उसे

संसार दुःखरूप नहीं है किन्तु भगवदात्मक संसार है यह बात भी यहाँ दिखानेमें आई ही है. ''आत्मना सह समर्पितानां देहादीनां दारागारपुत्रादीनां च ब्रह्मतामाप्नोति''. अर्थात् जब भगवानको अपना देह, अपनी पत्नी, अपना पुत्र, अपने बन्धु, अपना घर, अपना पैसा समर्पित हो जाय तब वह सब ब्रह्मात्मक हो जाता है ; क्योंकि ब्रह्मकी सेवाका अंग बन जाता है. और श्रीआचार्यचरण तृतीयस्कन्धसुबोधिनीमें ''तस्मान्यप्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः, मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि सन्न्यस्तकर्मणां, न पश्यामि परं भूतम् अकर्तुः समदर्शनात्'' इस श्लोककी व्याख्या करते कहते हैं ''व्यर्थत्यागापेक्षया भगवति समर्पणं उत्तमम्''. कोई भी वस्तुका व्यर्थ त्याग करनेके बजाय भगवानको उसका समर्पण करना और समर्पितका प्रसादरूपमें उपभोग करना यह उत्तम कल्प है. व्यर्थ त्याग करने जाते त्यागका ढोंग तो हो जाता है पर भगवानमें सच्ची चित्तवृत्ति नहीं सधती.

इसीलिये भक्तिवर्धिनी नामक ग्रन्थमें भी ''अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः'' की व्याख्या करते लालूभट्टजी कहते हैं– ''गृहस्थितिपक्षे श्रीविग्रहस्य अदूरे निकटे, त्यागपक्षे श्रीमूर्तेः विप्रकर्षे दूरे स्थितौ अपि चित्तदोषो यथा न भवेत् तथा स्थेयम् इति उपदेशः।'' अर्थात् जो लोग घरमें रहते हैं वे भगवानके स्वरूपके निकट रहते हैं और जो लोग घरमें नहीं रहते उन्हें भगवत्सेवा प्राप्त नहीं इसलिये वे दूर रहते हैं. ''गृहस्थितिपक्षे सेवायां, त्यागपक्षे कथायां'' ''सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिः दृढा भवेत्, यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मतिः मम''. अर्थात् भगवानकी सेवामें या कथामें जिनकी दृढ आसक्ति है उनका कभी नाश नहीं होगा ऐसा श्रीमहाप्रभुजीने भक्तिवर्धिनीमें कहा है. इसकी व्याख्या करते लालूभट्टजी कहते हैं ''सेवा यह गृहस्थितिपक्षमें है, कथा गृहत्यागपक्षमें है. इसलिये जो लोग घरमें सेवा कर सकते हो उन लोगोंको घरमें रहना चाहिये और भगवानकी सेवा करनी चाहिये''. यह दोनों कल्प भगवानमें चित्तको चोंटानेके सेवा और कथाके क्रमशः गृहस्थ और गृहत्यागीकेलिये कहे गये हैं. इससे भी सिद्ध होता है कि सेवा यह गृहस्थकी अपनी जीवनप्रणालीका विषय है, कर्मकाण्डका विषय नहीं.

इसीलिये श्रीआचार्यचरण भक्तिवर्धिनीमें आगे जाके समझाते हैं कि

यदि त्याग करोगे तो ''त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात् तथा अन्नतः''. ''गृहत्यागकृते भक्तेः बाधकानि भूयांसि सम्भवेत्'' भक्तिके बहुत सारे बाधकोंके साथ, विघ्नोंके साथ तुम्हें टकराना पडेगा. क्योंकि घर-घरसे तुम्हें भीख मांगकर अन्न लेना पडेगा ; ऐसा अन्न कि जो भगवानको निवेदित करनेमें नहीं आया. ऐसे व्यक्तियोंके साथ संसर्ग होगा कि जो भगवदीय नहीं हैं. इसलिये घरमें अपने ठाकुरजीको पधराकर अपने ठाकुरजीको समर्पित करके ही लें ऐसी अपनी जीवनप्रणाली स्थापित करनी चाहिये. यही सेवाका सच्चा प्रकार है. इसीलिये यहाँ श्रीबालकृष्णजी भी कहते हैं ''अतः सेवायां द्विविधायामपि गृहस्थस्य कथायां साम्प्रदायिकगुरुकृपाकटाक्षपूर्वक-गृहीतसाम्प्रदायिकगतिना कृतायां यतेः ब्रह्मचारिणोः वा यस्य-कस्यचिद् भगवदनुगृहीतस्य आसक्तिः दृढा केनापि अनपनोद्या हर्षविषादादिनापि अनपनोद्या भवेत्''.

सेवामें तीन प्रतिबन्ध माने गये हैं— भोग, उद्वेग और प्रतिबन्ध. भोगमें दो भेद हैं ; एक लौकिक भोग और दूसरा अलौकिक भोग. अलौकिक भोगका अर्थ श्रीमहाप्रभुजी करते हैं कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाके समय अपनेसे सम्बन्धित सभी वस्तुका हम जो भगवानको निवेदन करते हैं उन निवेदित पदार्थोंका जब भगवानकी सेवामें एक बार उपयोग हो जाय और फिर उसका प्रसादरूपमें जब हम उपयोग करें यह अलौकिक भोग है. वह संसारमें बाधक नहीं होता. किन्तु जो अनिवेदित पदार्थ है उसका ; या तो निवेदित पदार्थ या अनिवेदित पदार्थ जिसका समर्पण न किया हो वैसे पदार्थका, यदि हम विषयासक्तिसे भोग करेंगे तो वह लौकिक भोग है. और वह सेवामें विघ्नरूप होता है. इससे स्पष्ट हुआ कि सेवाका जो प्रकार है वह व्यक्तिके अपने लौकिक भोगकी निवृत्तिकेलिये है ; सेवा कोई भी *पब्लिक परपज्ञ* (जाहिर हेतु) केलिये नहीं की जाती. ठाकुरजीकी सेवा घरमें करनेका यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है. नहीं तो हमने आत्मनिवेदन (ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा) के समय जो प्रतिज्ञा ली, उस समय जो निवेदन किया है, उसका हम समर्पण कैसे कर सके? यदि अपने घरमें, अपनी खुदकी और अपनी कमाई हुई वस्तुओंका हम अपनी रीतिसे अपनी सेवामें विनियोग न कर सकते हों तो यह लौकिक भोगकी निवृत्ति नहीं हो सकती.

और इसीलिये नवरत्न ग्रन्थमें श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं "दाने हि न स्वविनियोगः, नतु निवेदने, अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्यात्. अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्. निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तदन्नप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिः उचिततरा". अर्थात् जो वस्तु दानरूपमें दी गई उसका पुनः हमारे काममें उपयोग नहीं कर सकते ; पर यह बात निवेदनपर लागू नहीं पडती. क्योंकि निवेदित अन्न आदिका भोजन हम न कर सकते हों और अनिवेदितका भोजन करनेका श्रीमहाप्रभुजीने निषेध किया है "असमर्पितवस्तूनां तस्मात् वर्जनम् आचरेत्" तो निर्वाह कैसे करेंगे? इसलिये कोई भी निवेदित पदार्थका भगवानकी सेवामें उपयोग होनेके पश्चात् प्रसादरूपमें वह लेना यह भक्तिमार्गकी दृष्टिसे उचिततर है.

इसकी व्याख्या करते भी श्रीपुरुषोत्तमजी दान, निवेदन और समर्पणका भेद समझाते हैं "दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः परस्वत्वोत्पादनानुकूलः" अर्थात् अपने स्वत्वका परित्याग करके दूसरेमें स्वत्व उत्पन्न करना उसका नाम दान. जिसे हम "तुभ्यम् अहं सम्प्रददे, न मम" "यह मैं तुझे देता हूँ, अब यह मेरा नहीं" ऐसे देते हों वह दान कहा जाता है. "तस्मिन् एवं सति हि निश्चयेन न स्वविनियोगः". और दानकी रीतिसे जो देनेमें आये तो उसका पुनः अपने कार्यमें उपयोग नहीं हो सकता. अपने यहाँ हम घर या सामग्री या कोई भी वस्तु प्रायः दानरूपमें ठाकुरजीको नहीं देते पर निवेदनरूपमें ही देते हैं. "निवेदनं तु तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः 'तुभ्यं समर्पयामि, निवेदयामि' इत्यादि शब्दाभिव्याप्तः तद्विलक्षणो मनोव्यापारः." "यह तो मैं तुझे समर्पित कर रहा हूँ, तुझे निवेदन कर रहा हूँ" —यह निवेदनका मनोव्यापार (क्रिया) है. इसमें *ट्रान्सफर ओफ ओनरशीप* नहीं होती. इसलिये हमारी हरेक वस्तु हम प्रभुकी मानते हैं और प्रभुके और अपने व्यवहारमें हम भेद नहीं मानते. प्रभुका और हमारा *पार्टीशन* (बँटवारा) नहीं. इस प्रकार पूरा सेवाका प्रकार निभाना चाहिये यह बात यहाँ श्रीपुरुषोत्तमजीने स्पष्ट की है. इसीलिये लालूभट्टजी समझाते हैं कि "अस्मिन् मार्गे हि देहादीनाम् आत्मना सह भगवते आत्मसमर्पणात् न तु दानम्". यह मार्गमें (पुष्टिमार्गमें) देहादि अर्थात् अपना देह, अपने सम्बन्धी, अपना धन सबका भगवानको

आत्माके साथ निवेदन किया जाता है, दान नहीं दिया जाता. क्योंकि दान तो *ट्रान्सफर ओफ ओनरशीप* है और वह अपने यहाँ है नहीं. क्योंकि अपनी *ओनरशीप* (मालिकी) हम मानते ही नहीं है कि जिसे *ट्रान्सफर* (हस्तांतरण) कर सकें. सब भगवानका है और इसलिये हम भगवानमें और अपनेमें मालिकीका भेद नहीं मानते. अतः पुष्टिमार्गमें वह दानकी प्रणाली नहीं है. इसीलिये कहते हैं कि "सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति, तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता: तत:" (सिद्धान्तरहस्य ७). अर्थात् जो श्रीठाकुरजीके स्वरूपकी सेवा करते हो उनका हरेक व्यवहार जैसे घरका *डोमेस्टिक सर्वन्ट*(गृहदास) का व्यवहार हो वैसा होना चाहिये. स्वामीकी उपभोग की हुई वस्तु स्वामीकी आज्ञासे वह ले, वह लेके स्वामीके साथ घरमें रहे खाये सब करे, पर *प्रोपर्टी*(सम्पत्ति) के दृष्टिकोणसे स्वामीका और उसका भेद नहीं होता. वैसा होना चाहिये.

सेवाका विधान हम देख गये कि गृहस्थकेलिये है और गृहस्थकी जीवनप्रणालीमें पिरोया गया है. सेवाकेलिये स्थल कौनसा होना चाहिये इस विषयका स्पष्टीकरण भी हम भक्तिवर्धिनीमें प्राप्त कर सकते हैं. वहाँ स्पष्ट आज्ञा है कि "गृहस्थितिः स्वधर्मेण वर्णाश्रमगतेन हि, विधेया नापि सेवार्थम् अधर्मेण कथं न च, अधर्मे स्थितितः बुद्धिनाशात् दुसंगतः तथा". अर्थात् सेवाकेलिये घरमें रहना चाहिये, घरमें सेवा करनी चाहिये इस विधानसे स्पष्ट होता है कि सेवाका सच्चा स्थल घर है, *पब्लिक टेम्पल* (जाहिर मन्दिर) नहीं. इसीलिये भक्तिवर्धिनीके द्वितिय श्लोककी व्याख्या करते श्रीवल्लभजी कहते हैं "स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्यभावे न सम्भवति". यदि पुष्टिमार्गीय स्वयं घरमें न रहे तो पुष्टिमार्गीय सेवा वह निभा नहीं सकता. इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी भक्तिवर्धिनीमें कहते हैं "यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते... बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा... श्रवणादिभिः" अर्थात् भक्तिका जो बीज हृदयमें रहा हुआ है उसे यदि दृढ करना हो तो अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करके अपने घरमें रहकर कृष्णकी सेवा करें. तो वह भक्तिका बीजभाव हमारे हृदयमें दृढ जरूर होगा. इस विधानसे स्पष्ट होता है कि सेवाका स्थल जाहिर स्थान (*पब्लिक प्लेस*) नहीं पर गृहस्थ व्यक्तिका अपना घर ही सेवाकेलिये उत्तम है.

इसीलिये जब श्रीनाथजीका मन्दिर बनवाना था तब श्रीआचार्यचरणने घरका आग्रह किया था. यह प्रसंग ८४ वैष्णवकी वार्तामें पूरणमल्ल क्षत्रियकी वार्तामें आता है. यह वार्तामें यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीआचार्यचरण मन्दिरके रूपमें सेवाका विधान करना नहीं चाहते थे पर घरकी पद्धतिसे सेवाका विधान करना चाहते थे. पर भगवदिच्छा विपरीत होनेसे आचार्यचरणने श्रीनाथजीके मन्दिरकी छूट दी. पर वह अपवाद औरोंपे लागू नहीं होता. इसलिये श्रीआचार्यचरण वहाँ कहते हैं "सो देवालयकी रीति यहाँ राखनी उचित है". अर्थात् श्रीनाथजीके मन्दिरके केसमें (उदाहरणमें) ही देवालयकी रीतिकी सेवा थी. बाकी तो हर जगह नन्दालयके रूपमें सेवा है, अर्थात् नन्दरायजीके घरकी पद्धतिसे सेवा है.

इसलिये ब्रह्मसम्बन्धमें एक बात कही गई है कि हर वस्तु अपनी नहीं, भगवानकी है. हम भगवानकेलिये देते हैं वह भी दानरूप त्याग नहीं, समर्पणरूपसे त्याग है. सन्न्यासनिर्णयमें कहा है "अतः अत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः". अर्थात् साधनरूपा भक्तिमें गृहत्याग सुखावह नहीं है. "तेन साधनसम्पत्यर्थं यः परित्यागः स सुखं नावहति न करोति इति अर्थः. न केवलं सुखाभावः किन्तु दुःखम् अपि इति भावः". निष्कर्ष यह कि ब्रह्मसम्बन्धमें हम त्याग नहीं करते पर निवेदन ही करते हैं.

हमारा जिनके साथ परिवार जैसा सम्बन्ध होता है वह व्यक्ति यदि हमें अपने ठाकुरजीकेलिये कोई चीज ठाकुरजीकी सेवार्थ दे तो हम परिवारकी भावनासे ले सकते हैं, पर उसे ठाकुरजीकी सेवामें उपयोग करना या न करना यह अपने मनकी बात है. इसका स्पष्टीकरण श्रीगिरिधरजीके वचनामृतमें है. इन्दौरकी एक सेठानीने सोनेका पलना दिया था और वह पलनाका काकाजी महाराजने ठाकुरजीकी सेवामें नहीं उपयोग किया पर होल्करको दे दिया. इस बातसे सिद्ध हुआ कि प्रभुकेलिये मिली वस्तु इस्तेमाल करनी या न करनी यह अपने मनकी बात है. क्योंकि भाव उचित नहीं दिखा इसलिये उन्होंने ठाकुरजीकी सेवामें उपयोग नहीं किया. और इसलिये ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षामें हरेक वस्तुके साथ अपने परिवारके सगे-सम्बन्धी, पत्नी, पुत्र, पति आदिका और घरका भी खास उल्लेख किया जाता है, कि मैं घर भी सेवाकेलिये समर्पित कर रहा

हूँ. वहाँ 'दारा' और 'आगार' शब्द आता है. आगार मतलब घर.

यों सेवाका प्रकार बताया है, कि हरेक व्यक्तिको अपने घरमें, अपनी कमाई हुई सम्पत्तिसे स्वयं, अपने परिवार, सगे - सम्बन्धियोंके साथ कृष्णसेवा करनी होती है.

गुरुका भी यही कर्तव्य है. और उसी प्रकारसे गुरु स्वयं सेवा न करते हो तो गुरु गुरु होनेके लायक नहीं है. यह बात श्रीमहाप्रभुजीने तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें "कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं, श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुः आदरात्" इस प्रकार कही. व्याख्या करते हुवे श्रीमहाप्रभुजी बताते हैं "यो हि गुरुः सेवाम् उपदेश्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं न स्वयं कुर्याद् इति सेवापर एव गुरुः". अर्थात् यदि गुरु ऐसी सेवाका उपदेश देते हो, साधना रूपमें यह सेवाको उत्तम समझते हो तो इस प्रकार स्वयं क्यों सेवा नहीं करते? अर्थात् जो इस प्रकार सेवा करते हो उनको ही गुरु बनाने ; हरेकको गुरु न बनाने. यह विधानसे स्पष्ट हो जाता है कि यह जो सेवाप्रणाली है वह गुरुत्वके निर्वाह (योग्यतासम्पादन) केलिये भी है. और यह गुरुत्व उनमें तभी रह सकता है जब उनके अपने घरमें, अपनी सम्पत्तिसे, अपने ठाकुरजीकी सेवा करे तो.

गुरुने प्रसन्नतापूर्वक दिया वो वैष्णव ले सकते हैं, पर द्रव्यसंकोच है इस कारणसे दिया गया जो गुरुद्रव्य हो वह वैष्णवोंसे नहीं लिया जा सकता. पद्मनाभदासजीकी वार्तामें है कि जब गुरुद्रव्य उनको भेजनेमें आया ठाकुरजीकी सेवाकेलिये तब पद्मनाभदासजीने कहा कि अब यहाँसे हमे जाना चाहिये, क्योंकि गुरुद्रव्य हम ले नहीं सकते.

सार - नवनीत -

१. पुष्टिमार्गीय वैष्णवको अपना स्वधर्म समझके अपने घरमें, अपने परिवारके साथ मिलकर, खुदने सहज रीतिसे कमाये हुए द्रव्यसे, अपने आप, अपनी अनुकूलता अनुसार सेवा करनी चाहिये.

२. सेवामें अपनी सम्पत्ति और अपने स्वजनोंका प्रभुको निवेदन और समर्पण है, दान नहीं. इसलिये हमारी सर्व वस्तु प्रभुको समर्पित करके बादमें ही अपने उपयोगमें लेनी चाहिये. वैसा करनेसे असमर्पितका दोष लगता नहीं.

३. सेवा गृहस्थका निजी धर्म है. इसलिये सेवा *प्राईवेट* (निजी) स्वरूपकी होनी चाहिये, उसे प्रदर्शनका रूप नहीं देना चाहिये. सेवा जाहिर स्थलमें, जाहिर प्रकारसे नहीं करनी चाहिये पर अपने घरमें गुप्ततया करनी चाहिये, तभी भगवद्भाव बढ सकता है.

४. यदि किसी भी प्रकारसे सेवा न ही बने तो गृहत्याग करके कथाश्रवण, तीर्थयात्रा आदि उपाय करने चाहिये.

प्र. २५ सेवा बालभावसे करनी या पतिभावसे?

उ. २५ इस प्रश्नका उत्तर ऐसे दे सकते हैं कि वास्तवमें हम जो सेवा करते हैं वह न तो बालभावसे होती है और न ही पतिभावसे.

संगीतके जानकार अच्छी तरहसे समझ सकेंगे कि गान शुरु करते वक्त जब एक स्वर साधा जाता है तब हारमोनियमकी कोई एक पट्टी दबाकर वह स्वर साधा जाता है और फिर तानपुरा उसमेंसे मिलाया जाता है ; मूल स्वर तानपुरामें नहीं होता. यदि तानपुरा पहलेसे मिलाया हुआ हो तो उसे छेडकर उससे स्वर निकाले यह दूसरी बात है, परन्तु जहाँसे स्वर साधा जाता है और जिसका स्वर साधा जाता है उनमें अन्तर होता है. अर्थात् ये दो वस्तु अलग होती हैं. एक जगह ऐसा स्वर होता है कि जो स्वर स्थिर हो और उसके साथ दूसरा स्वर मिलाया जाता है. हारमोनियमका इस प्रकार प्रयोग होने लग गया है. तानपुरा मिलाना हो तो हारमोनियमकी काली या सफेद पट्टी दबाई जाती है. और तबला मिलाना हो तो भी वैसा किया जाता है ; जब कण्ठपर भरोसा न हों तो. अन्यथा अपने कण्ठमें पहले 'सा' लगाकर देख लेते हैं और बादमें ही तानपुरा उस प्रकार मिलाते हैं और उसके पश्चात् ही तानपुरा सहायक बनता जाता है. खैर. इस विषयकी गहराईमें अधिक नहीं उतरेंगे.

इस प्रकार संगीतमें जैसे स्वरको साधना होता है वैसे ही सेवामें हमें अपने आपके भावको साधना होता है. यह सेवाकी शुरुआतका एक प्रयोग है और इस प्रयोगकी शुरुआतमें हमें कोई भी भाव नहीं होता. अपना तो भक्तिका निरुपाधिक भाव होता है. बालभाव, पतिभाव या सख्यभाव – ये जो सब भाव हैं वे सब भाव व्रजभक्तोंके श्रीठाकुरजीकेलिये

हैं. इसलिये जब तक यह अपनी प्रायोगिक सेवा हो रही है तब तक हमारा भाव केवल भक्तिका ही है. और इन अलग-अलग भावोंमें हमें अपने कण्ठकी क्षमता देखनी होती है कि इसमें कौनसा स्वर हम गा सकते हैं. जैसे गाना सीखनेवालेको पहले हारमोनियमकी कोई पट्टी दबाकर कहा जाता है कि भाई इस स्वरको लगाकर देखो, इस 'सा'को साधकर देखो. पहली काली या दूसरी कालीमें तुम गाकर देखो. यदि न गा सके तो दूसरी पट्टीको दबाया जाता है और कहा जाता है कि अब तुम आगे गाकर देखो. इस प्रकार अलग-अलग सुर दबाते हैं. वैसे ही सेवामें भी अलग-अलग सुर दबाकर हम प्रयोग करते हैं कि हमारा मन किस भावपर आरूढ हो पायेगा.

श्रीमदाचार्यचरण ऐसी आज्ञा करते हैं कि सेवा करनेकेलिये जो सूचित की हुई रीत है उस रीतसे अर्थात् सच्ची रीतिसे सेवा करो तभी उस सेवाका प्रयोग बराबर होगा. परन्तु उसमें भी हम शोर्टकट लें अथवा तो उसमें भी काट-कसर करें तो सेवा करनेका हमारा प्रयोग निष्फल होगा. श्रीमहाप्रभुजी बताते हैं उस रीतिसे सच्चे दिलसे हम सेवा करते रहें तो हमारे मनकी एक ऐसी दशा सिद्ध होगी कि बालभाव आदि भावोंमेंसे कोई एक भाव रूढ हो जायेगा. श्रीमदाचार्यचरण मानते हैं कि यह प्रक्रिया जीवसाध्य नहीं है. फिर भी हमारी अर्थात् जीवकी और श्रीठाकुरजीकी पकडसे ही यह भाव उत्पन्न होनेवाला है, इसलिये इस प्रकारमें किसी भी तरहका विधान हो नहीं सकता कि उसी भावसे सेवा करनी चाहिये.

सच कहें तो उस भावकी इच्छा भी हो नहीं सकती, क्योंकि हमारे मनमें कौनसा भाव गर्भित रहा हुआ है, कौनसा बीजभाव रहा हुआ है कि जो अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होगा उसका कुछ भी ज्ञान हमें नहीं होता. हम इतना ही कह सकते हैं कि सेवाके प्रयोगोंके दौरान हम सभी ताल-मेल मिलानेकी कोशिश कर रहे हैं. अर्थात् भक्तिके भावमें, भक्तिका जो हमारा भाव है, उसका स्वर हम अपने गलेमें लगा रहे हैं.

हारमोनियम सीखनेवाला जो व्यक्ति नया होता है उसे यह भी खबर नहीं होती कि हारमोनियममें पहले जो 'सा' लगाते हैं तो वह

'सा' अपने गलेमें मिलानेका है. और वह मिलानेकी शक्ति भी उसमें नहीं होती. वह तो अपना 'सा' लगानेका कहता है, कि 'सा' लगाओ. मैंने एक जगह ऐसा देखा था कि 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि-सा' लगानेको कहनेपे वह 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि-सा' बोल तो गया परन्तु एक भी स्वर गलेमें नहीं आया! मुँहसे कहना यह तो स्वर नहीं है न! वास्तवमें स्वरका जो आरोहण है वह कण्ठमें न होता हो तो कोई भी स्वर लगानेसे कण्ठमें कोई भी असर होनेवाली नहीं. वह तो स्थिर होकर बैठता है कि मैं तो 'सा'को स्वरमें बोलूंगा. इसलिये उसको सिखाना पडेगा कि हम एक काली पट्टी दबायेंगे या सफेद पट्टी दबायेंगे और फिर उसमें तुझे अपना कण्ठ मिलाना है.

पैदाईशी विरासत जिसे मिली हो उसे प्राथमिक अवस्थामें ही वह ज्ञान तत्काल ही हो जाता है, परन्तु हरेकको वैसा ज्ञान नहीं होता. सेवाविषयक अपना समूचा प्रयोग इसीलिये निष्फल जाता है क्योंकि हम ताल-स्वर मिलानेकी कोशिश नहीं करते. हमारा प्रयत्न वस्तुतः ताल-स्वर मिलानेकेलिये होना चाहिये, परन्तु वह प्रयत्न हम करते नहीं.

जब तक मूल भक्तिका भाव दृढ न हुआ हो तब तकके भावका श्रीमदाचार्यचरणने निरुपाधिक भाव और सोपाधिक भाव ऐसे दो वृत्तिमें वर्गीकरण किया है.

भक्तिभाव माने क्या? श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं कि जिसमें भजनीय और भक्तके बीच ऐसा कोई भी असहज सम्बन्ध न हो वही भक्तिभाव है. इसमें भजनीयके साथ ईश्वर-ईशितव्य तरहका भी सम्बन्ध नहीं होता. यदि ईश्वररूपसे भी भजोगे तो वह भी एक पृथक्ता (अलग होने) का भाव है. इसलिये भक्तिभावमें ईश्वर-ईशितव्यका सम्बन्ध भी बाधा पहुँचाता है. अतः श्रीमदाचार्यचरण भक्तिभावको निरुपाधिक भाव कहते हैं.

मेरी नामकी एक ईसाई *सिस्टर* मुझे मिली थी. वह कहती थी कि प्रभुको प्रियतमके भावसे भजनेमें आपको लौकिकवृत्ति नहीं दिखाई देती? मुझे (*सिस्टर* मेरीको) तो लौकिक मनोवृत्ति साफ दिखाई देती है. मैंने कहा "इस भावको छोड दें और तुम्हारे पवित्र पिता (Holy Father) की कल्पना अपना लें तो वह भाव भी लौकिक मनोवृत्ति ही होगी! पवित्र पिता भी दुनियामें ही होता है न! यह बात छोडें पर योगवालोंने

तो कहा है कि "स हि गुरूणां गुरुः" अर्थात् उनको आद्यगुरु मानते हैं; तो वह भी तो लौकिकसम्बन्ध ही है न. गुरुरूपकी कल्पना भी ब्रह्मके साथ नहीं होती. सचमें तो शंकराचार्यकी कल्पना ही एक ऐसी है जिसमें कोई लौकिकसम्बन्ध नहीं है– निर्गुण, निराकार, निर्धर्मक, निर्विशेष! वह *सिस्टर* बोली कि नहीं, ऐसी कल्पना तो नहीं चल सकती! तब मैंने कहा "तो फिर भजनीयके साथ जिसे पिताभाव दृढ हो वो पिता माने और जिसे पतिभाव दृढ हो वह प्रियतम क्यों न माने? और यदि ईश्वर इस प्रकार सम्बन्ध रख सकता हो, ईश्वरत्व छोडकर यदि वह पिता हो सकता हो, तो पति क्यों नहीं हो सकता? यदि पति होनेमें कोई आपत्ति होगी तो पिता होनेमें भी आयेगी. आखिरमें ये सभी सम्बन्ध तो लौकिक ही हैं न! आप कोई भी सम्बन्ध लो, वह शुद्धसम्बन्ध तो है ही नहीं." इसलिये श्रीमदाचार्यचरण जिसमें ईश्वरत्वका भी सम्बन्ध नहीं ऐसे भक्तिके निरुपाधिक भावकी बात करते हैं.

मैंने उस *सिस्टर*से एक बात कही, कि जिस तरहका ईश्वर तुम कहती हो उस ईश्वरकी कल्पना तुम्हें कैसे आई? ईजिप्तका राजा फेरो तुम्हें हर तरहसे परेशान करता था. ईजिप्तके राजाके रूपमें वह मन चाहे प्रकारसे तुमको दण्ड करता था. वह दण्ड तुम न भरो या दण्ड भरनेमें देर करो तो तुम्हारे बालबच्चोंको मार तक देता था. इसके अलावा तुम्हें दण्ड देनेकेलिये तुम्हारे भेड-बकरी आदि पशुओंको भी मार डालता था. राजाका ऐसा कृत्य देखकर और अनुभव करके तुमको ईश्वके ऐसे ही रूपकी कल्पना आई और तुम समझे कि ईश्वर एक ही है.

हमारे हिन्दुस्तानमें ऐसे राजा ही नहीं हुए कि जो इतने क्रूर शासक राजकर्ता हों. इसलिये हमें ऐसे एक ईश्वरकी कल्पना ही कैसे आ सकती है? हमारे यहाँ छोटे-छोटे बहुतसे देश थे. उसमें कोई लोकतान्त्रिक पद्धतिके, कोई सामन्तशाही पद्धतिके, कोई राजाशाही प्रकारके थे. इस कारणसे हमें ईश्वरकी हरेक प्रकारकी कल्पना आई है. "ईश्वर ऐसा भी है और वैसा भी है" ऐसी सभी कल्पनाको हम निभा सकते हैं.

पर तुम नहीं निभा सकते, क्योंकि तुम्हारी पैदाईश ऐसी ही हुई

है. तुमने तो ईजिप्तके राजासे जान छुडाई तो रोमनोंने तुम्हें पकड लिया, उन लोगोंने तुम्हें मारा! माने सब जगह तुम मार खाते-खाते आये. इस कारणसे और इस प्रकारसे ईश्वरसे तुम्हें डरनेका ही उपदेश मिला है. कुरान खोलकर आप देखो तो भी ऐसा लगता है कि भगवानसे डरो. जो डरता है उनकेलिये यह कुरान प्रमाणरूप है. जो डरता है उसकेलिये तो वह प्रमाण ही होगा न! नहीं डरनेवालेके सामने प्रमाण हो तो सच्चा. *रसेल* कहता है कि एक बंदूक मेरे हाथमें दो, और मेरे सिवा दूसरे किसीके हाथमें बंदूक नहीं होनी चाहिये. इसके अलावा मनुष्यमात्रकी रोटीकी व्यवस्था मेरे हाथमें दो. तो फिर दुनियाभरके मनुष्योंको मैं ऐसे मानते कर सकता हूँ कि दिन है सो रात है और रात दिन है. यह दो व्यवस्था मेरे हाथमें होनी चाहिये ; दो व्यवस्थामें सब आ गया. डरसे प्रमाण माने उसमें क्या है? तुम्हारा ईश्वर तुमने तुम्हारे यहाँकी लौकिक भावनासे पैदा किया है और हमारा ईश्वर हमने हमारी लौकिक भावनासे पैदा किया है.

मूल बात यह है कि भक्तिका तो शुद्ध भाव है ; उसमें दूसरा कोई भी भाव नहीं है. इसलिये माहात्म्यज्ञानको भी हम अनिवार्यतया नहीं लेते हैं. भक्तिके भावकी प्राथमिक भूमिकामें हमने माहात्म्यज्ञान लिया है, और वह भी इसलिये कि दूसरे विषयोंको हम छोड सकें. माहात्म्यज्ञानके बिना दूसरे विषय छूटते नहीं हैं. "मुझे मेरे पुत्र, पिता, पति या पत्नीका भजन न करके ब्रह्मका भजन किस लिये करना चाहिये?" इस बातका उत्तर हम माहात्म्यज्ञानके बिना प्राप्त नहीं कर सकते. शुरुआतमें थोडासा माहात्म्यज्ञान भजनीयको चुननेकेलिये जरूरी है. पर भजनीयके चुनावके बाद भी यदि माहात्म्यज्ञान बना रहे तो वह माहात्म्यज्ञान शायद भजनमें रूकावट भी कर सकता है. तब वह भजन शुद्धभजन नहीं रह जाता. उस समय जिस सम्बन्धसे भक्ति होती है, जो भाव होता है, उसमें माहात्म्यज्ञानके बने रहनेपर "मैं नहीं भजूंगा तो वह (भगवान) डंडा मारेगा" वैसा भाव पनपता है. वैसा भाव शुद्ध तो नहीं रहता न! इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि भजनमें कोई भी भाव नहीं चाहिये. माहात्म्यज्ञान आपको ब्रह्म तक पहुँचा देगा, पर फिर तुम उस माहात्म्यज्ञानको छोडकर किसी भी प्रकारके भाव बिना भजन करो वही

शुद्धभाव है.

हमारे यहाँ पतिभाव, पुत्रभाव, स्वामीभाव, सखाभाव आदि भावोंसे सेवा होती है. पर वह सब भाव तो व्रजभक्तोंके हैं, अपने नहीं. हम तो उन भावोंके रम्यप्रदेशमें विचरण करते हैं. फिरते हैं और देखते हैं कि उस रम्यप्रदेशमें किस स्थलपर हम अपना घर बाधेंगे? किस भावप्रदेशमें हम रहेंगे? किस भावप्रदेशकी हवा हमें रास आयेगी कि जिससे वहाँ हम रह सकें और अपना भाव स्थिर कर सकें? उस प्रदेशमें विचरण किये बिना तो हमें यह मालूम नहीं हो सकता न! इसीलिये यह सब क्रम है. और इस क्रममें बालभावसे लेकर पतिभाव तकके सभी भावोंका सेवामें विनियोग है.

इस क्रमकी एक सामान्य बात देखें. शीतकालमें मंगलामें हम श्रीठाकुरजीको बालभावसे जगाते हैं और मंगलभोग सरे तब तक बालभाव ही बना रहता है. पर मंगलभोग सरनेके साथ ही खण्डिताके पद गाये जाते हैं, अर्थात् निगूढ शृंगारभाव आ जाता है. अब यदि मानसशास्त्र (*सायकोलोजी*) की दृष्टिसे विचार करें तो मंगलाके समय हमारा मन इतना ज्यादा बालभावमें तल्लीन हुआ होता है कि वह मन अचानक बालभावसे शृंगारभावका परिवर्तन सहन नहीं कर पायेगा. इसे शास्त्रकी परिभाषामें रसाभास कहा जाता है. मन जब एक भावका आकार ले रहा हो तब उस रससे सम्पूर्ण विपरीत रसका अथवा उस विपरीत रसके संचारीभावका वर्णन कर देना उसका नाम ही रसाभास. उदाहरणतः स्नेहका वर्णन चल रहा हो और बीचमें अचानक मृत्युका वर्णन आ जाये तो हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि रसाभास हो गया. शृंगाररस मिटकर करुणरस हो गया. इसलिये शास्त्रकारोंने मर्यादा स्थापित की है कि शृंगाररसका विस्तार करते वक्त रुदन, मूर्छातक जाकर वहाँसे वापिस फिरना चाहिये. मूर्छाके पश्चात् यदि मरण हुआ तो शृंगाररसकी मर्यादाका उल्लंघन कर गये और करुणरसमें हमारा प्रवेश हो गया. करुणरस एक स्वतन्त्र रस है, उसके संचारीभाव पृथक्-पृथक् हैं. तुम उस रसका वर्णन करने बैठो तो तुम मरणसे भी प्रारम्भ कर सकते हो कि मरण हुआ, फिर ऐसे हुआ, फिर शोक हुआ, फिर मूर्छा हुई... यह सब वहाँ चल सकता है किन्तु यहाँ शृंगारके वर्णनमें मृत्यु

नहीं आ सकता.

अब यदि इतना सब रसाभास होता हो तो जब हमने अपने ठाकुरजीके साथ वस्तुतः सम्बन्ध स्थापित किया हो कि यह बालक मेरा है और यही बालभावसे हम श्रीठाकुरजीको जगाते हों और भोग धरते हों तब तक अनुहार-मनुहारके पद गा रहे हों कि तुम कलेऊ करो और भोग सरनेके साथ ही यदि खण्डिताका भाव हो जाता हो तो हमारे मनकी दशा क्या होगी? सम्पूर्ण रसाभास हो जाय! अर्थात् उस प्रकार सेवा आगे चलेगी ही नहीं.

फिर भी सेवा चलती है, उसका कारण क्या? इसका कारण इतना ही कि हमारा कोई भी भाव है ही नहीं. हम तो वहाँ एक पत्रकार जैसे हैं. जैसे पत्रकारको जहाँ कलह होता हो वहाँ जानेकी छूट होती है और वह कलह देख सकता है वैसे ही हम भक्तिके प्रमाणपत्रसे सम्पन्न हैं! उस प्रमाणपत्रके आधारपे भगवानके साथ इन सभी भावोंसे जिस प्रकारके सम्बन्ध हैं वह सभी सम्बन्ध हमें देखनेको मिलते हैं. और उनको देखकर हम अपने आपको साधना चाहते हैं कि ठाकुरजीके साथ हमारा कौनसा सम्बन्ध है!

श्रीमदाचार्यचरणके मतानुसार भक्तकी भक्तिभावभरी सेवा जब व्यसनदशा तक पहुँचे तब कोई भी एक भाव रूढ हो जाता है. फिर चाहे वह कोई भी भाव हो ; पतिभाव हो, पुत्रभाव हो या फिर सख्यभाव हो. ऐसा कुछ जरूरी नहीं है कि कोई एक भाव ही हो. तुम्हारे अर्थात् भक्तके और भगवानके बीच जो भाव विकसित हो गया हो, स्थापित हो गया हो, वह सच्चा है. उसमें फिर कोई *गेरन्टी* नहीं कि व्यसन पश्चात्की दशामें कौनसा भाव विकसित होगा. "मियां-बीबी राजी तो क्या करेगा काजी" जैसी स्थिति होती है.

इस बारेमें तो यहाँ तक कहा है कि इसमें फिर गुरुआज्ञाका प्रश्न भी नहीं रहता. गुरुआज्ञाका प्रश्न तब तक ही रहता है कि जब तक व्यसनभाव विकसित नहीं होता. जब तक तुम्हें सावधानता है कि "मैं सेवा करता हूँ" तब तक ही गुरुआज्ञा प्रमाण है. व्यसनभाव विकसित होनेके पश्चात् गुरुआज्ञाका प्रश्न ही नहीं. तब फिर यह क्रियात्मक सेवा रहनेवाली ही नहीं. यह सेवा तो प्रयोगात्मक (*एक्सपरिमेन्टल*)

सेवा है. फिर तो जो सेवा होती है वह फलरूपा सेवा होती है. इसलिये उस सेवामें दूसरे भावोंकी जरूरत ही नहीं है न! तुम्हारा जो स्थायीभाव है उस भावसे पूरी सेवा होगी. फिर तुम मंगलभोग तक श्रीयशोदाजीके भावसे सेवा नहीं करोगे. अथवा तो बालभाव तुम्हारे हृदयमें रूढ हुआ तो फिर खण्डिताका भाव तुम्हें होनेकी आवश्यकता ही नहीं. क्योंकि वह भाव (खण्डिताका भाव) तुम्हें ख्यालमें भी नहीं आयेगा. बालभावकी व्यसनात्मिका स्थितिमें इस भावका स्मरण कहाँसे होगा?

इन सब भावोंकेलिये मनकी अवस्था न हो उस समय जो लोग अनधिकारचेष्टासे कृत्रिमरूपसे इन अवस्थाओंको प्रकट करते हैं (कृत्रिम भाव बताते हैं), उनकी सेवा तो केवल पाखण्ड ही है. मनके उत्साह बिनाकी यह अवस्था है इसलिये वह क्षणिक है. शुद्ध भावका, भक्तिका, सेवाका उसमें लेशमात्र सम्बन्ध नहीं है. प्रार्थनाका भी सम्बन्ध नहीं है. कोई भी प्रकारकी प्रार्थना भी नहीं है और कोई अलौकिक कामना भी नहीं. क्योंकि हमें उस भेदकी खबर ही नहीं कि हम भगवानमें जो भाव साध रहे हैं वह लौकिक वृतिसे साध रहे हैं या भक्तिसे साध रहे हैं. "प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात्". अब यदि हमने भक्तिकी वृत्तिसे भगवानमें पुत्रभाव या पतिभाव साध लिया है तो वह सम्पूर्णरूपसे प्रशंसनीय है, परन्तु हम परख नहीं सकते कि भगवानमें यह भाव हम लौकिक मनोवृत्तिसे साध रहे हैं या भक्तिभावसे. यदि हमने लौकिकमनोवृत्तिसे यह भाव साध लिया हो और भक्तिभाव प्राप्त नहीं हुआ हो तो हमारा अधःपतन होगा ही.

इस बारेमें एक सामान्य बात सोचने जैसी है कि भगवानको हमने अपना पुत्र माना. हमारे पुत्रको हम थप्पड मारते हों तो भगवानको हम थप्पड मारेंगे? पुत्रको आप गाली देते हो तो भगवानको भी गाली दोगे? अब यदि भगवानको भक्तिसे गाली दी होगी तो वह भगवानसे सहन होगी, किन्तु गाली भक्तिसे नहीं पर लौकिक दम्भसे दी गई होगी तो भगवानका अपमान होगा.

आजकल लोगोंमें सेवा करनेके भावमें घोटाला चलता है कि बालभावसे सेवा करें या पतिभावसे? इसमें कोई भाव ही नहीं है; एक ही भाव अर्थात् भक्तिभावपूर्वक सेवा करें. भक्तिभावपूर्वक अर्थात्

व्रजके जो भाव हैं उन भावोंका केवल अनुसरण.

भगवान अपना पुत्र नहीं किन्तु श्रीयशोदाजीका पुत्र है. इसलिये कीर्तनमें आता है कि "कहा ओछी ह्वै जैहे जात। सुन यशोमति तुम बडरन आगे, जो छिन एक बितात॥" वह पडोसकी गोपी आकर यशोदाजीको कहती है कि तुम्हारे घरमें आकर बैठूँ इसमें मेरे घरकी कौनसी मर्यादा टूट गई? मेरी सास और ननदी मुझे ऐसा कहती है कि हर समय तू वहाँ जाकर पराये घरमें क्यों बैठती है? अन्तमें तुम तो वृद्ध हो और अनुभवी हो. तुम्हारे पास बैठेंगे तो कुछ जाननेको भी मिलेगा! और फिर यहाँ आकर तुम्हारे घरका काम भी करुँ तो इसमें मेरा क्या घट जायेगा? मैं आई हूँ तो अब तुम किस लिये तकलीफ लेते हो ; कृष्णको मैं नहला दूंगी! "बोलि लेहो संकोच करो जिन" बुला लेना मुझे, तुम जरा भी संकोच नहीं करना, पराया मत मानना. "श्रीविट्ठलगिरिधरनलालको मोहिपे उबटावो". उबटना अर्थात् बेसन घोलकर बनाया जाता है, फिर श्रीअंगको तेलमालिश करके उबटन किया जाता है. "मोहिपे उबटावो" ऐसा कहनेमें वस्तुत: अपनी गरज है, इसलिये वह कहनेकेलिये इतने सब बहाने लपेटकर आगे रखती है! कारण कि वह उसका पुत्र तो नहीं न? पुत्र तो श्रीयशोदाजीका है. ऐसे कहनेवाली गोपी तो केवल श्रीयशोदाजीकी पडोसी है. उसे इस बालकको नहलानेमें, खिलानेमें, पहनानेमें आदि कार्योंमें बहुत ही आनन्द आता है. इसलिये वह पडोसीधर्मका बहाना लेकर आती है.

इस गोपीके प्रसंगपेसे हमें भी बराबर यही भाव लेनेका है कि पुत्र हमारा नहीं है. पुत्र तो श्रीयशोदाजीका है. हम तो श्रीयशोदाजीके पडोसमें है इसलिये हम जाते हैं और सभी प्रकारसे, श्रीयशोदाजीको फुसलाकर भी, कुछ सेवा हो सकती हो तो करनेकी हमारी भावना है. श्रीयशोदाजीको सहायक बननेकी तो है ही नहीं. मूल वृत्ति तो कृष्णको नहलाने-खिलानेकी है. गोपीकी वृत्ति तो वह स्वयं कृष्णको नहलाये और खिलाये यह है. परन्तु यह बने किस प्रकार? पडोसीधर्म भी साधक तो होता है न! इसलिये कोई एक बहाना लेके जाती है. इस गोपीका भाव यही असलमें हमारी सेवामें रहा भाव है. फिर वह कोई भी भाव हो ; बालभाव, पतिभाव या सखाभाव. जब तक

हमारी व्यसनदशा सिद्ध नहीं होती तब तक हमारा कोई सम्बन्ध, कोई सगाई नहीं बंधेगी. सम्बन्ध - सगाई सभी व्रजके ही.

इसीलिये श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं "सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।" जिस दिन तुम्हारी सगाई (विवाह) तय हुई उस दिनसे वह व्रजाधिप नहीं पर तुम्हारा अधिप बन जाता है ; व्रजाधिप नहीं रहता. फिर व्रज बीचमें कहाँ आयेगा? अथवा तो फिर तुम ही व्रजमें आ जाओगे और वह तो पूरी अनिर्वचनीय स्थिति खडी हो जायेगी. यह तो पीछेकी दशा है, आरम्भकी दशा नहीं.

भक्ति ही एक ऐसी साधना है कि जो तुम्हें ऐसे भावों तक ले जानेकी छूट देती है. और भक्ति बिना यदि ऐसे भाव हो तो श्रीमदाचार्यचरण उसे लौकिक वृत्ति मानते हैं, अलौकिक नहीं. कारण कि पतिभावकी वृत्ति, बालभावकी वृत्ति या सखाभावकी वृत्ति लौकिक भी हो सकती है. "सेवापूजा नेम व्रत गुडियनका सो खेल, जब लग पियु परखे नहीं तब लग संशय मेल।" यदि लौकिक वृत्तिसे सेवा - पूजा आदि किया तो गुडियाके खेलमें और उसमें फर्क क्या? बच्चे भी गुडियाके खेल इतनी ही लगन (*एटेचमेन्ट*) या प्रीतिसे खेलते हैं. वास्तवमें देखें तो बच्चोंके गुडियाके खेलमें लगन प्रीति अधिक होती है! अपनी तो नकली (*सेल्फ चीटींग*) हो सकती है. बच्चोंकी तो बिलकुल नकली होती ही नहीं. वे तो उस गुडियाके साथ बातें करते हैं, खिलाते - पिलाते हैं. और उनमें भी इन बच्चोंका स्नेह, एकाग्रता और एकरसता होती है वह हमारी अपेक्षा बहुत अच्छी, सचोट और सुन्दर होती है. ऐसा नहीं होनेका मूल कारण यह है कि हमारे हृदयमें भक्ति नहीं है. मूल और अहम प्रश्न तो यह है कि भक्ति विकसित कैसे हो?

एक चुटकुलेमें पढा था कि प्रथमबार गर्भवती हुई लडकीने अपनी माँसे कहा कि बालक होनेके पश्चात् मुझे रातको जगाना. तब माँने कहा कि बालक होनेके बाद तुझे जगानेकी जरूरत नहीं पडेगी, तू ही सबको जगा देगी. इसी प्रकार जिस वक्त जो कोई भाव रूढ हो जायेगा उस समय पूछनेकी जरूरत ही नहीं पडेगी कि कौनसा भाव लेना? उस समय वह भाव अपने आप आ जायेगा. पूछना तो तब ही पडता है कि जब हृदयमें कोई भी भाव नहीं होता.

प्र. २६ प्रभुकी सेवा निरुपाधिक भावसे करनी चाहिये. तो एक ही समय पतिपुत्रादिक भावसे सेवा कर पाना कैसे सम्भव है?

उ. २६ पहले तो निरुपाधिक भाव क्या है ये समझें. हरेक प्राणीको, हरेक व्यक्तिको किसी न किसी विषयमें स्नेह तो होता ही है. अतिशय क्रूर मनुष्यको भी कहीं तो स्नेह होता ही हैं. चित्ता-बाघको भी अपने बच्चोंपर तो स्नेह होता ही है. जल्लादको भी अपने परिवारसे तो स्नेह होता ही है. स्नेहहीन मनुष्य तो शक्य ही नहीं.

शास्त्रकारोंने स्नेहकी विवेचना करते ऐसा समझाया कि कुछ स्नेह सोपाधिक होते हैं और कुछ स्नेह निरुपाधिक होते हैं. निरुपाधिक स्नेह अर्थात् बिना शर्तका स्नेह. सोपाधिक स्नेह अर्थात् शर्त रखकर जो स्नेह किया जाता है वह.

एक दुकानसे हम माल खरीदते हों वह दुकानदार अच्छा और सस्ता माल देता हो तो हमें उसके साथ स्नेह होता है. ऐसा सम्बन्ध बहुत सालों तक बना रहे तो हमारे यहाँ विवाहप्रसंगपर हम उसे लग्नपत्रिका देना भी नहीं भूलते. अर्थात् स्नेह हुआ. पर पच्चीस साल बाद वह माल देनेमें मिलावट करे तो सम्बन्ध समाप्त हो जाता है ; फिर लग्नपत्रिका देने हम नहीं जाते. इसलिये दुकानदारके साथका हमारा वह स्नेह शर्तिया है. वह अच्छा और सस्ता माल देता है तब तक ही स्नेह है.

दुनियामें कहीं भी बिना शर्तका निरुपाधिक स्नेह हो सकता है क्या? ४० वर्ष पुराना नौकर भी काम न करे और चोरी करने लगे तो स्नेह टिक पायेगा क्या? शास्त्रकार अन्तमें ऐसे निष्कर्षपर आते हैं कि कोई भी मनुष्य दूसरे मनुष्यके प्रति निरुपाधिक - शर्त बिनाका - स्नेह नहीं कर सकता. जीवनकी हरेक बातमें शर्त है. निरुपाधिक स्नेह केवल शब्द है या उसका उदाहरण है? उपनिषद् कहता है कि वस्तुमें प्रियता रही हुई है इसलिये वह वस्तु हमें प्रिय नहीं लगती. पर हमें वह वस्तु प्रिय लगती है क्योंकि उससे हमारी कोई शर्त पूरी हो रही है. शर्त पूरी न हो तो स्नेह भी नहीं रहेगा. पर हाँ, हमें केवल अपनेमें निरुपाधिक स्नेह रहा हुआ है, दूसरे किसीमें भी नहीं. हम अपने आपको ही चाहते हैं. जो वस्तु हमें सन्तोष देनेमें निष्फल जाय उस वस्तुके साथका हमारा बन्धन तूट जाता है. शास्त्रकार ऐसे निष्कर्षपर आते

हैं कि दुनियामें निरुपाधिक-शर्त बिनाके-स्नेहका कोई भी उदाहरण हो तो वह है व्यक्तिका अपने आपकेलिये स्नेह. अपने आपको किस शर्तपर स्नेह करते हैं? उसका जवाब नहीं मिल पायेगा.

उपनिषद् यह बात हमें समझाते हैं. पर श्रीमहाप्रभुजीकी एक विलक्षण दृष्टि है कि उपनिषदोंके विधानोंका रहस्य हम भागवतके आधारपर नहीं समझेंगे तो वेदान्तका प्रमुख तात्पर्य हम समझ नहीं पायेंगे. जैसे सब बन्दर समुद्रको लांघकर लंका पहुँच गये पर समुद्रकी गहराईकी जानकारी उन्हें नहीं हुई, वैसे हम शब्दोंके अर्थको लांघ जाते हैं पर उसमें गहराई कितनी है उसकी खबर हमें नहीं हो पायेगी.

भागवतने हमें पहली बार समझाया. हमें ऐसा लगता कि अपनी स्वयंकी आत्मामें हमें निरुपाधिक स्नेह होता है, पर फिर भी हम भूल कर रहे हैं. दुनियाका कोई भी लौकिक स्नेह निरुपाधिक नहीं. यह बात समझनेकी है, कहनेकी नहीं ; कहनेसे रसाभास हो जाता है. ज्ञानी ब्रह्ममें लीन होना चाहते हैं परन्तु आत्मामें निरुपाधिक स्नेह हो तो क्यों आत्माको पृथक् न रखकर ब्रह्ममें लीन कर देना? इसका मतलब ये कि आत्मामें भी अपना निरुपधिक स्नेह नहीं. तो अपना निरुपाधिक स्नेह कहाँ है? भागवत कहता है "आत्मा सो परमात्मा" यह ज्ञानमार्गकी परिभाषा है, परन्तु भक्तिमार्गकी परिभाषा "आत्मामें परमात्मा" है. जिस आत्माके कारण देहमें हमको प्रियत्व लगता है उस आत्माकी अपेक्षा भी परमात्माकी महत्ता विशेष है. इसीलिये तो ज्ञानी परमात्मामें लीन होना चाहते हैं. इससे सिद्ध हुआ कि परमात्माके भीतर ऐसा कोई तत्त्व है कि जिसकेलिये हमने प्राण धारण किये हैं. परमात्माकेलिये हमारी आत्माकी आवश्यकता हो तो हो, नहीं तो हमें इस आत्माकी भी आवश्यकता नहीं. अर्थात् सच्चा निरुपाधिक स्नेह यदि कहीं हो तो वह परमात्मामें ही है. परमात्माके प्रति आत्माका स्नेह आत्मामें संक्रान्त होता है, वहाँसे देहमें आया, उसमेंसे दुनियाकी सब वस्तुओंमें आया. परमात्मामें परम आकर्षकता रही हुई है. इसलिये प्रत्येक प्राणीका परमात्मामें निरुपाधिक स्नेह रहा हुआ ही है.

निरुपाधिक स्नेह बाहर जिन-जिनपर प्रतिबिम्बित होता है वहाँ-वहाँ स्नेहकी अनुभूति होती है. लौकिक विषयोंमें जितनी ज्यादा एकाग्रता

साध ले उतना उसमें स्नेह बढता जाता है. मिर्च भाती थी इसलिये हम खाने नहीं लगे पर मिर्च खाने लगे इसलिये भाने लगती है. हरेक वस्तुका ऐसा ही है ; करने लगोगे तो पसन्द आयेगी. अच्छी लगती है इसलिये करना यह सिद्धान्त तो केवल परमात्माके बारेमें ही शक्य है.

कुछ लोग शिरडीके सांईबाबाकी मानता मानते हैं. मानता पूरी हो तो दसबार मोटर लेकर दर्शन करने शिरडी जाते हैं ; पेट्रोलका भाव बढे उसकी फिकर नहीं. पर यदि मानता पूरी न हो तो नहीं जाते ; तब पेट्रोलका भाव बहुत लगता है. अर्थात् वहाँ हमारा निरुपाधिक भाव नहीं है. ऐसे भावसे यदि हम सेवा करने लगे तो श्रीमहाप्रभुजी उसको अनुमति नहीं देते. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि तुम्हें सेवा करनी ही हो तो निरुपाधिक स्नेहभावसे ही सेवा करनी चाहिये.

सेवासे हमें क्या प्राप्त करना है? एक भाई कहते थे मुझे भगवान प्राप्त करने हैं. उसका मतलब यह कि हम सेवाका सिद्धान्त समझे नहीं. जिसकी सेवा कर रहे हो वह कौन हैं? अर्थात् वह भगवान तो नहीं है ऐसा हमने मान ही लिया न? फिर सेवा क्यों? सेवाद्वारा भगवान प्राप्त करने हैं यह बात सर्वथा झूठी. यदि तुम ऐसा कहते हो तो उसका मतलब इतना ही कि अभी तुम पुष्टिमार्गका तात्पर्य ही नहीं समझे. सच्चा सिद्धान्त तो यह है कि तुम्हें भगवान मिले हैं इसलिये तुम सेवा करते हो. यदि भगवान मिले ही न हो तो किसकी सेवा करते हो? सेवासे कुछ भी प्राप्त करना हो तो इतना ही कि यह सेवा ही चालू रहे. सेवासे सेवा यही सच्ची सेवा. यह निरुपाधिक स्नेह. सेवासे यदि मन्नत पूरी करनी हो, अच्छा खानपान प्राप्त करना हो तो सेवा नहीं है. सेवाद्वारा दूसरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करना ऐसा निश्चय करें तभी कह सकते हैं कि सेवामें निरुपाधिक भाव है.

ऐसे निरुपाधिक भावसे सेवा करते हुए प्रभुमें पतिभाव, पुत्रभाव या सखाभाव सोचे तो सेवामें कोई उपाधि या शर्त आई क्या? मूल यह प्रश्न है.

सख्यसम्बन्धसे सखाकी सेवा, अपना पुत्र है इस भावसे पुत्रभावकी

सेवा, पति कमाकर खिलाता है इस भावसे पतिकी सेवा –ये सोपाधिक भाव है. पति है इसलिये भजने या भजने हैं इसलिये पति है? भजना है इसलिये तुम उसे जो मानना हो वह मानो ; उसमें सोपाधिक भाव नहीं. हम जैसा विभावन करेंगे वैसा वपु प्रभु धारण करेंगे. विभावन माने प्रभुकी ऐसी कोई भावना करनी. सेवामें निरुपाधिक स्नेह होनेके कारण तुम प्रभुको पति, पुत्र, सखा, गुरु जो मानोगे वह वे हो सकते हैं.

पति है इसलिये सेवा करते हैं ऐसा कहें तो अपना निरुपाधिक भाव खण्डित हो जाता है. पर सेवा करनी है उसमें हमारा स्थायिभाव भक्तिका है पर संचारीभाव पति, पुत्र, सखा या गुरुका हो सकता है. माताको पुत्रपर प्यार है तो कभी पुत्रकी मारेगी भी सही. प्यार न हो तो मारनेकी जरुरत नहीं. मित्रके साथ मित्रता है तो कभी रूठा भी जा सकता है. दुश्मनसे रूठ जानेकी कोई जरुरत नहीं, उसकी उपेक्षा ही की जाय. इसमें प्यार स्थायी है, रूठ जाना या क्रोध संचारीभाव है. हम एक समय शृंगारलीलाके पद गायें, फिर दूसरे समय बाललीलाके पद गायें तो क्या रसाभास हो जाता है? नहीं. भक्तिके रसके ये सब संचारीभाव हैं –एसे श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं.

इसीलिये हमें सर्वभावोंसे भक्ति करनी है. भक्तिभावको स्थिर करके प्रभुको जो मानना हो वह मानो ; जो भाव करना हो वो प्रभुके बारेमें करो. इसी बजहसे एक ही कालमें अनेक भावोंसे प्रभुकी भक्ति हो सकती है. क्योंकि यह सब भाव भक्तिके संचारीभाव हैं. भक्तिभाव हो तो तुम परमात्माको सभी भावोंसे विभावित कर सकते हो.

एक शास्त्रीजी ऐसा कहते हैं कि पुष्टिमार्गीय परमात्माको पुत्र मानते हैं यह उनके मनकी विकृति है, क्योंकि भगवान कभी पुत्र नहीं हो सकते! पर उनको भक्तिका ज्ञान ही नहीं. भक्तिरससे हृदय आर्द्र हो तो बात समझमें आये. यह बात समझनेकेलिये हृदयमें आर्द्रता चाहिये. वह शास्त्रीजी बात करते हैं भक्तिकी पर हृदयमें अद्वैतकी निद्रा भरी हुई होनेसे ऐसे विधानरूपी खुर्राटे बोलते हैं.

परमात्माके साथ हरेक सम्बन्ध साध सकते हैं, पर जब भक्ति हो तभी. परमात्मा ऐसे तो पिता भी नहीं है और गुरु भी नहीं

है. भक्तिरस हृदयमें हो तो ही अजका नन्दात्मज बननेका आनन्द भी हम ले सकते हैं. श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं "भूतलपे आविर्भूत हुए भगवान पुष्टिमार्गमें फल है, आकाशमें रहे हुए भगवान पुष्टिमार्गमें फल नहीं". जहाँ नन्दका कुंवर मिलता हो वह भूतल ही हमें प्रिय है. "व्रज वहालुं रे, वैकुण्ठ नहीं रे आवुं, त्यां नन्दनो कुँवर क्यांथी लावुं?". इसलिये भूतलपर ही हम भगवानको भजेंगे. भक्तिद्वारा जो भाव स्फुरित होंगे उन भावोंसे ही हम भगवानको भजेंगे.

जैसे खानेकी वस्तु और उसके मसालेमें अन्तर है वैसे स्थायीभाव भक्ति और संचारीभाव पुत्र, पति आदि माननेमें अन्तर है. उनकी मज्जा लेनेमें मसालेकी तरह विवेक रखना चाहिये. उन-उन भावोंकी मज्जा लेकर पुनः भक्तिके भावपर स्थिर हो जाओ. अपना मुख्य सम्बन्ध तो आत्मा और परमात्मा का है –यह बात नहीं भूलनी चाहिये. इसमें महत्ता भक्तिके रसकी है यह बात ही मुख्य है.

प्र. २७ वैष्णवोंके घर बिराजनेवाला श्रीठाकुरजीका स्वरूप किस भावसे बिराजता है? उन स्वरूपके सन्मुख ब्रह्मसम्बन्ध ले-दे सकते हैं? क्या वे गुरुके आधिदैविक स्वरूप हैं? बैठकजीमें छप्पनभोग कर सकते हैं?
उ. २७ ये स्वरूप किस भावसे बिराजते हैं इसे समझनेके पूर्व ये बात मनमें स्पष्ट कर लेनी आवश्यक है कि किसके भावसे? भाव स्थापित करनेवाला कौन? जिन गुरुने श्रीठाकुरजी पधराये हैं उन्होंने कोई भाव स्थापित किया है या जिस वैष्णवके माथे पधराये हैं उसने?

तीन बातें यहाँ सामने रखनी चाहिये. गुरुको तो पुरुषोत्तमभावसे ही स्वरूप वैष्णवके माथे पधराना चाहिये. "स्वरूप गुरुभावसे बिराजते हैं" ऐसा कहना अयोग्य है. क्योंकि गुरुभावसे स्वरूप पधरायें तो पूरी सेवारीति गुरुमर्यादामें ही रखनी पडे और इस प्रकार पुष्टिमार्गीय प्रणाली अनुसार सेवा नहीं हो सकती. वो परिस्थितिमें तो सब गुरुमर्यादा अनुसार ही करना पडेगा. एक सीधी बातपर ध्यान दो कि यदि वैष्णवके यहाँ गुरुने एक स्वरूप पधराया और पुष्ट करते समय पुरुषोत्तमका भाव नहीं करके अपना खुदका भाव किया तो ऐसी स्थितिमें उस स्वरूपके चरणारविन्दमें तुलसी समर्पी जा सकती है क्या? गुरुभाव हो तो तुलसी समर्पना

भूल है. और तुलसी नहीं समर्पी जा सकती तो यह स्वरूप सेवामें किस कामका? हमारे यहाँ श्रीमहाप्रभुजीके चरणारविन्द (पादुका) में तुलसी समर्पित नहीं की जाती. तो हम श्रीमहाप्रभुजीसे बडे तो नहीं, तो अपने पैरमें किस प्रकार तुलसी समर्पा सकते हैं? इस प्रकार किसी गुरुको अधिकार नहीं कि अपना स्वरूप पुष्ट करते समय सेव्यस्वरूपमें स्थापित कर सके.

अब रही बात यह कि वैष्णव ही ऐसा भाव करे कि "यह सेव्य श्रीठाकुरजी मेरे गुरु ही हैं" तो गुरुमें पुरुषोत्तमभाव नहीं रखा किन्तु पुरुषोत्तममें ही गुरुभाव रखा है. यह संचारीभाव है, स्थायी भाव नहीं है. स्थायिभाव तो पुरुषोत्तमके रूपमें ही गुरुने पुष्ट करते समय स्थापित किया होता है. इस प्रकार स्थायिभाव पुरुषोत्तमका है.

यह जाननेके पश्चात् कोई शंका नहीं रहती. वैष्णवको अपने घर गुरुको स्वतन्त्र पधराकर सेवा न करके स्वरूपमें ही गुरुभाव कर लेना यह जो पद्धति है वह सिद्धान्तसे बिलकुल सुसंगत पद्धति है. किन्तु कोई ऐसा कहे कि मेरे घरमें श्रीठाकुरजी नहीं बिराजते पर गुरु ही बिराजते हैं तो उसकी सेवाका प्रकार क्या है? गुरुचरणमें तुलसी कैसे समर्पित कर सकते हैं? गुरुके पास स्वामिनीजी कैसे पधरा सकते हैं? तो सिद्धान्तानुसार तो वैष्णवके यहाँ बिराजनेवाला स्वरूप पुरुषोत्तमभावसे ही बिराजता है. फिर इस स्वरूपके सन्मुख ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा क्यों दी नहीं जा सकती? अवश्यमेव दी जा सकती है.

अब बैठकजीमें छप्पनभोगकी बात करें तो हम अवैचारिक आज्ञायें वैष्णवोंको दे देते हैं इस कारणसे बहुत गडबड होती है. क्योंकि यदि बैठकजीमें श्रीमहाप्रभुजी पुरुषोत्तमभावसे बिराजते हैं तो वैष्णवोंको झारी - चरणस्पर्श नहीं करने देने चाहिये. फिर तो वे सभी नियम लागू करने चाहिये जो गुरुके माथे बिराजती सेवाके हैं. तो वे नियम लागू न करें और धडाधड वैष्णवोंको झारी - चरणस्पर्श कराते रहें यह कैसे सम्भव है? मतलब कि वहाँ आचार्यभावसे बिराजते हैं.

अब वहाँ कोई छप्पनभोगकी आज्ञा दे तो? जब श्रीमहाप्रभुजी आचार्यस्वरूपसे बिराजते हो और क्रम भी इस भावनानुसार हो तो छप्पनभोग कैसे हो सकता है? आचार्यचरणमें पुरुषोत्तमभाव रख सकते हैं, जिस

प्रकार पुरुषोत्तममें गुरुभाव रख सकते हैं. अन्तर यह है कि श्रीआचार्यजीमें पुरुषोत्तमभाव रख सकते हैं किन्तु पुरुषोत्तमवत् सेवा नहीं हो सकती. इसी प्रकार अपने माथे बिराजते स्वरूपमें वैष्णव गुरुभाव रख सकता है पर गुरुवत् सेवा नहीं हो सकती. यह विवेक समझना आवश्यक है. अब अविवेक कैसे होता है कि हम श्रीआचार्यजीकी पुरुषोत्तमवत् सेवा करने लगे और घर बिराजते स्वरूपकी गुरुवत् सेवा करने लगे! यह तो गडबड है.

प्र. २८ अपरसका मतलब क्या?

उ. २८ अपरस=अ+परस. सेवामें श्रीठाकुरजी, सेवाका भाव और वे भावोंकी भावना के अलावा और किसी चीजका स्पर्श हमें न हो उसका नाम अ+परस. पर यदि आचारविचारकी सनकसे तुम महर्षि दुर्वासाके अवतार हो जाओ, कि यह छू गया, वह छू गया, यह ऐसेके बदले ऐसा हो गया, तो वो अप+रस है. महाप्रभुजी इस अप+रसके फॉर्म्यूला (समीकरण) को नहीं स्वीकारते. आचारविचार अ+परसमें सहायक सुन्दर बात है. पर सेवामें विघ्न करे तब और तभी वो अप+रस है. सब रस तुम्हारे programme को follow करनेमें, hard & fast rule को पालनेकी mechanical process मे बह गया. वह रसवाला आम नहीं, सूखी गुटली है ; उसमें खानेके काबिल कुछ नहीं रहा.

उस अ+परसको आचरणमें किस प्रकार लानी? "कीजिये जो भी दिलमें आये शकील, लेकिन उसकी खुशी मुकद्दम हो". उसे मज़ा दे वैसा ही काम करो ; उसे मज़ा न दे वैसा कोई काम मत करो. सेवाका भाव खण्डित न होता हो बल्कि वृद्धिंगत होता हो वो सब करो ; वो सब अ+परस है. जिससे सेवामें टेन्शन होता हो, सेवा एक कष्टप्रद कार्य बन जाती हो वो सब नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रभुको उसमें प्रसन्नता नहीं है.

गोविन्ददास भल्लाने १६ मील चलकर जमुनाजल भर लाना, भिक्षा मांगकर मिले हुए अन्नको ध्वजाजीको भोग धरके लेना, आदि सर्वतः त्रासकी जो प्रक्रिया खडी की उससे त्रस्त श्रीजीने महाप्रभुजीको कहा कि तुम्हारे सेवक मुझे बहुत परिश्रम देते हैं. जीवन जीनेकी ऐसी कठोर

प्रक्रिया भक्तिमें सहायक नहीं होती. अपना मार्ग वैराग्यका या संसारमें अनुरागका नहीं, जगतमें जगदीशसे अनुराग करनेका मार्ग है. जगदीशको भूल जानेका या जगतको छोडनेका अपना मार्ग नहीं. ऐसी कठोर प्रक्रिया अपने साथ हो या परायेके साथ, महाप्रभुजीको पसन्द नहीं नहीं नहीं. इसे श्रीमहाप्रभुजीने सिद्धान्तमें कहीं भी जगह नहीं दी. वैराग्यसाधना होती तो भल्लाजीने जो किया वो उचित था पर भगवदनुरागकी साधनामें ऐसी कठोरता किसीके भी साथ हो नहीं सकती. इसी कारणसे श्रीनाथजीको परिश्रम हुआ और महाप्रभुजी तदर्थ अडेलसे जतिपुरा पधारे. उसे महाप्रभुजीने कहा "सेवा छोड दे वो चलेगा पर ऐसा कष्ट नहीं चलेगा भक्तिमार्गमें".

इसीलिये श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं "जलादिसेवायाः निर्वाहः सेवकैः कार्यः ; तदपि नातिश्रमेण, मत्स्वामिनः कोमलस्वभावात्।" पहले नल नहीं थे, जल भरना पडता था. उस बारेमें परदेशसे श्रीगिरिधरजीको पत्रमें श्रीगुसांईजी कहते हैं कि जल दूसरोंसे भरवा लोगे तो हरकत नहीं. पर एक आदमीको पशुकी तरह जलकी सेवामें लगा दें और आदमी त्रस्त हो जाये पर हम कहें कि हम प्रभुकी सेवा कर रहे हैं, प्रभुको रीझा रहे हैं! तो किसीको ऐसा कष्ट देकर तुम प्रभुको रीझा नहीं सकते. भक्त क्रूर नहीं हो सकता. इसलिये श्रीगुसांईजीने सावधानीसे दूसरा वाक्य जोडा कि अतिश्रमसे सेवा मत कराना, क्योंकि मेरा कोमल स्वामी ऐसी सेवा स्वीकारनेका मोहताज नहीं. वह कोई क्रूर रोमन राजा नहीं जो शेर-आदमीका युद्ध करवाये और उसमें शेरको आदमीको खाते देखकर उसे मज़ा आये. ऐसी क्रूरसेवाकी उसे गरज नहीं.

इसलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "अक्लिष्टं समर्पयेत्।" क्लेशपूर्वक कोई भी चीज सेवामें समर्पित नहीं करनी चाहिये. तुम्हें या परिवारको त्रास न हो वैसे आनन्दसे छप्पनभोग समर्पे उसमें भी कोई हरकत नहीं. पर छप्पनभोग समर्पनेमें तुम्हें रसीद छपवानेका टेन्शन होता हो, घर-घर भटकनेका टेन्शन होता हो, साम दाम दण्ड भेदसे लोगोंसे छप्पनभोगकेलिये पैसे निकलवाओ तो वैसे छप्पनभोगकी प्रभुको अपेक्षा नहीं. ऐसे छप्पनभोगको प्रभु आरोगते ही नहीं. "सहज प्रीत गोपाल ही भावे". सहज तुम्हारे पास है वो प्रभुको दो, वही उसे भाता है. जिसे देनेमें तुम्हें क्लेश होता हो वो मत दो. मैंने यहाँ तक देखा है कि मुखियाजियोंको

पगार नहीं देते तो वे लोग मोहनथाल बनाते जाय और गाली देते जाय "साली महंगाई बढ गई है, पगार देते नहीं, अब जाना कहाँ? हम तो फँस गये हैं पर लडकोंको इसमें नहीं डालेंगे"! तो वैसे मोहनथाल ठाकुरजी नहीं अरोगते. इसका नाम पुष्टिमार्ग नहीं है. पुष्टिमार्गका सीधा सीधा मतलब है "अक्लिष्टं समर्पयेत् ; लोकक्लिष्टम् आत्मक्लिष्टं पुत्रक्लिष्टं न समर्पयेत्।" सूखेमें रोज लोग भूखे मर जाते हो और हम कहें कि हमारा तो बस छप्पनभोगका नियम है! अरे ठाकुरजी क्या इतने भूखे हैं? क्या समझ लिया तुमने ठाकुरजीका स्वरूप? हम लोग ऐसे छप्पनभोग करके पुष्टिमार्गकी बदनामी कर रहे हैं. ठाकुरजीको तो पद्मनाभदासजीके खुदके मूठ्ठीभर छोला इतने भाते हैं कि गिरिधरजीका धरा हुआ छप्पनभोग भी उसके सामने फीका लगता है. इसका नाम पुष्टिमार्ग, कि प्रभु ऐसा कह दें कि वो छोलेका स्वाद इसमें नहीं आया.

मुखियाको कम पगार देकर पशुकी भांति काम कराओ तो घी नहीं चुरेगा तो और क्या होगा? क्यों ऐसा करते हो? ऐसा करनेसे मार्गकी मजाक उडनेके अलावा कुछ नहीं मिलता. यह महाप्रभुजीका मार्ग नहीं है. महाप्रभुजीका मार्ग है "सहज प्रीत गोपाल ही भावे". प्रभुको सहज, अक्लिष्टकी गरज है. वो फिर छोला हो या छप्पनभोग हो ; सब चलेगा. पर ऐसी दुकानदारीकी प्रभुको गरज नहीं जो सेवा नहीं किन्तु profit-loss का धंदा है.

सचमुच, झूठ नहीं कहता, पर एक मन्दिरने अपने इन्कमटेक्स एक्झेम्पशनमें यही clause में भरा कि हम मोहनथालमें बूंदीमें इन्वेस्टमेन्ट करते हैं और उसे बेचनेपर उसका रीटर्न आता है! चेरिटी कमिश्नरने कहा कि धंदा अच्छा है और तुम्हें exemption देते हैं ; पब्लिक ट्रस्ट नहीं करते! अपन क्या कर बैठे? "जिस जगहसे ले चला था राहबर, हम वहीं आये फिर घुमके"! सब मिथ्या मर्यादाओंको तोडकर एक सहज भक्तिका, सुन्दर भक्तिका, एक आत्मसमर्पणमूलक भक्तिका श्रीमहाप्रभुजीने हमें उपदेश दिया. पर हमने उस भक्तिके नामपर धंदे किये. हम भागवतके नामपे चंदा इकठ्ठा करते हैं, ठाकुरजीके नामपर चंदा इकठ्ठा करते हैं. ईसाई लोगोंने चंदेसे बाईबल छपवाकर जनताको मुफ्त दी है और हम भागवतसप्ताहसे ही चंदा इकठ्ठा करते हैं! ऐसा

और कोई नहीं ; केवल हम पुष्टिमार्गके ही हैं.

एक भाईने मुझे कहा "महाराज तुम्हें प्रचारके साधनोंका इस्तेमाल करना नहीं आता." मैंने कहा "क्या करूँ?" तो बोले "दशहराके पहले रेल्वेस्टेशनोंपे पोस्टर लगाने चाहिये, कि दशहराकी मठडीकी सामग्री आनेवाली है, चाहिये तो इसी स्टेशनपर ही उतर जाओ". मैंने कहा "उससे तो होटल चलाना ज्यादा सन्माननीय धंदा कहा जायेगा." एक महाराजने मुझे कहा "अपना मार्ग ५०० वर्ष पूर्ण होनेपर खत्म नहीं हो जायेगा. अपने पास बूंदीके लड्डु हैं वे *हेन्ड ग्रेनेड* बम जैसे हैं ; लोगोंको नहीं बुलायेंगे तो भी आ आकर surrender हो जायेंगे!" पर जरा सोचो. इस *हेन्ड ग्रेनेड*से पब्लिक तो Surrender होगी, पर वो surrender होगा? वह नहीं होगा. वह तो बहुत महान है ; इतनेसे surrender नहीं होगा. यह पब्लिक, जिसे घरमें बूंदीके लड्डु बनानेकी सुविधा नहीं, वो शायद आ जायेगी. वह तो ऐसे धंदेमें फँसेगा ही नहीं.

तो पूरी सेवारीति सहज है और तदन्तर्गत अपरस भी सहज होनी चाहिये.

प्र. २९ जितनी शुद्धि पाल सकते हों उतनी शुद्धि पालकर श्रीठाकुरजी पुष्ट कराकर सेवा करें तो चल सकता है या नहीं?

उ. २९ श्रीमहाप्रभुजीने पतेकी बात समझाते हुए ऐसे आज्ञा की कि जो तुम्हारे पास अच्छेसे अच्छा हो, जो तुम्हें अतिशय प्रिय हो, जिसे तुम उत्तमोत्तम कह सको वैसी अवस्था, वैसा द्रव्य, वैसे साधन और वैसे समय पर तुम्हें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चाहिये.

जो करनेसे तुम्हारे चित्तका उत्साह खण्डित हो, तुम्हें त्रास हो, दूसरेको त्रास हो उस वस्तुसे सेवा करनी उसका मतलब यह कि तुम श्रीठाकुरजीके स्वरूपको ठीक तरहसे जान ही नहीं पाये. क्योंकि अपनी कोई भी उत्तमोउत्तम चीज भी ऐसी नहीं होती कि जो हम ठाकुरजीके सामने रख सकें. यदि ठाकुरजी अपनी कृपासे उसे स्वीकारने तैयार न हो तो हम उन्हें show cause नोटीस नहीं दे सकते, कि हम तुम्हें इतनी किमती वस्तु धराने लाये हैं और आप क्यों स्वीकारते नहीं?

प्रभु आप्तकाम हैं ; उन्हें अपनी चीजोंकी जरूरत नहीं है.

एक कविने बहुत सुन्दर कहा है "लक्ष्मी तेरी पत्नी है इसलिये मैं तुझे द्रव्य नहीं दे सकता. तू वाणीका पति है इसलिये मैं तेरी स्तुति नहीं कर सकता. तेरे पास सिर्फ एक चीजकी कमी है जो मैं तुझे दे सकता हूँ. तेरा हृदय तेरे भक्तोंने चुरा लिया है इसलिये तेरे पास हृदय नहीं है. मेरे पास मेरा हृदय है जो मैं तुझे दे सकता हूँ". हम परमात्माको हृदय दे सकते हैं, परमात्माको उस हृदयकी जरूरत है. तुमने परमात्माको हृदयसे कुछ दिया है उसका लक्षण क्या? तुम्हारे चेहरेपर वह देनेका उत्साह हो. पर देते समय तुम्हारे चेहरेपर अहंकार हो तो ठाकुरजी कहेंगे "तेरा हृदय तेरे पास रख. मुझे स्नेह, दीनता, भक्तिरससे भरा हृदय दे".

इसलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि जिससे तुम्हारे चित्तमें आनन्द आता हो वह चीज प्रभुको समर्पो. जो करनेसे तुम्हारे हृदयमें अहंकार आता हो, तुम्हें त्रास होता हो वैसी सेवा न करो. ऐसी सेवा जब तुम करते हो तब श्रीठाकुरजीके सुखका विचार न करके तुम तुम्हारी धार्मिकताके मदका विचार करते हो. सेवाका सच्चा सिद्धान्त तत्सुखके विचारका है, स्वसुखके विचारका नहीं. जब कभी सेवामें स्वसुखका विचार आता है तब सेवाका सिद्धान्त खण्डित हो जाता है.

एक पत्नीने नियम लिया कि पतिको लिवाकर ही लेना. पतिको भारी त्रास हो गया. पत्नीको जब चाय पीनेका मन हो तब पतिको चायका ग्लास दे, पतिकी इच्छाविरुद्ध पिलाये. कारण? पतिको लिवाकर लेनेका पत्नीने नियम लिया है! उसमें तत्सुखका विचार नहीं.

इसी प्रकार सेवामें भी हमने धर्मी परमात्माके बजाय धर्मको महत्ता दी. पर पुष्टिमार्गका सच्चा रहस्य धर्मकी महत्तामें नहीं, धर्मीकी महत्तामें हैं. हम धर्मीकी महत्ता समझेंगे तो और सब बातें अपने आप समझमें आ जायेगी. अधर्मकी अपेक्षा धर्मकी महत्ता समझे यह अभिनन्दनीय है. पर यह सीढीका प्रथम सोपान है, वहाँ अटक न जाओ और थोडे आगे बढो, धर्मी तक पहुँचो, वह अपना लक्ष्य है.

तुम अपरसका पूछते हो तो उसकेलिये मैं तुम्हें एक स्पष्ट *थर्मोमीटर* बताऊँ. अपरस पालनी हो, मनोरथ करना हो, वस्त्र - शृंगार - सामग्री धरानी

हो, सेवाके थोडे बहुत नियम लेने हो तो यह *थर्मोमीटर* लगाके देखो— तुम जो कुछ करते हो वह भक्तिके उत्साहसे करते हो या धर्मके त्राससे करते हो? जिस वक्त सेवामें तुम जो कुछ धर्मके त्राससे करते हो उस वक्त तुम धर्मकि तत्सुखका विचार भूल गये हो. उसमें प्रभुको सुख नहीं है. धर्म तुम्हारे लिये है, तुम्हें पालनेकेलिये है ; उसे प्रभुके सुखके साथ क्या सम्बन्ध? ऐसे अनन्तकोटि जीव हैं जो अच्छेसे धर्म पालकर प्रभुको बता सकते हैं. प्रभुको जरूरत है तुम्हारे भावकी, तुम्हारे हृदयकी, तुम्हारे भक्तिरसकी. प्रभु आप्तकाम और निष्काम हैं, पर साथ-साथ वह भक्तकाम भी है यह बात भूल न जाना. किन्तु भक्त ऐसे नहीं जो अहंकारसे भरे हो, धर्ममदसे भरे हो, साक्षात् दुर्वासाके अवतार हो. जो भक्त अतिशय आनन्दसे हँसते हुए अतिप्रसन्नतासे प्रभुकी सेवा करते हो उनकी सेवाकी प्रभुको जरूरत है. उनके पाससे प्रभु मांग-मांगकर लेते हैं.

तुम सेवा करते हुए जो आनन्द खुद भोग रहे हो उसमें प्रभुको साजेदार बनाओ तो वह सच्ची भक्ति है. आनन्द मैं भोगूँ और त्रास प्रभुको दूँ ऐसी भक्ति न करो तो ही अच्छा. भगवानने तुम्हारा क्या बिगाडा है कि तुम भगवानकी ऐसी भक्ति करते हो?

जो सेवा करते तुमको क्रोध आता हो, जो अपरस पालते तुमको क्रोध आता हो, जो भोग धरते तुमको त्रास होता हो वह प्रभुको पसन्द नहीं है, नहीं है, नहीं है. कुछ वार्ताओमें स्पष्ट प्रसंग हैं कि ऐसी स्थितिमें धरे हुए भोगकी थालीको प्रभुने लात मारकर फेंक दी है, क्योंकि धरते समय उसमें भावका उत्साह नहीं था. उत्साह आये तो जरूर करो ; करते हो उससे भी ज्यादा करो, पर वह करते समय दुर्वासाका आवेश आये तो याद रखना कि दुर्वासाका मार्ग वैराग्यका है, भक्तिका नहीं. अपना मार्ग तो अम्बरीषका है कि कोई गाली दे तो भी सर नीचे करके सुन ले. दुर्वासाका मार्ग तो प्रभुको लात मारनेका मार्ग है, वह अपना मार्ग नहीं.

प्राचीन समयमें हमारे यहाँ ऐसा नियम था कि सेवामें क्रोध आये मतलब चांडालका आवेश आना समझा जाता था. तब अपनी सेवा छू जाय, अपरस छू जाय. फिर अ-परस न रहकर अप-रस हो

जाय. अपरसमें यदि रोष आ गया तो अ-परस (अस्पर्श) न रही, अपरस हो गई. जिसमेंसे सेवाका-भक्तिका रस चला गया है उसका नाम अप-रस. जिसको पालते तुम्हें प्रसन्नता हो उसका नाम अ-परस है. लौकिक भावोंसे शुद्ध होकर तुम सेवा करते हो उसमें अ-परस है.

एक भाईने मुझे कहा "मैं सेवा करता हूँ, पर मुझे सिगरेट फूँकनेकी आदत है!". तब मैंने कहा "सिगरेट फूँकना यह महान पाप, पर सेवा न करनी यह उससे भी महान पाप है." उन्होंने सेवा शुरू की. इस बजहसे गाँवमें प्रचार हो गया कि श्यामुबावाने उनको सिगरेट पीनेकी छूट दी! अरे भाई मैं सिगरेटकी छूट दूँ या सेवाकी? मैंने सिगरेटकी छूट नहीं दी, मैंने तो सेवाकी छूट दी है.

जो वैष्णव ब्रह्मसम्बन्ध लेकर घरमें सेवा नहीं करते वे सब पुष्टिमार्गमें केन्सरसे पीडित दर्दी हैं –यह बात पथ्थरपर या पतरेपर कुतरवाकर घरमें रखना. प्रभु उनको स्वास्थ्य दे. और स्वास्थ्य न दे तो ऐसे दर्दी पुष्टिमार्गसे बिदा हो तो अच्छा. ऐसा वैष्णव श्रीमहाप्रभुजीको भी पसन्द नहीं.

प्र. ३० गृहसेवाकी आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, पर जिस घरमें हम रहते हों वहाँ आचारशुद्धि न हो, मासिकधर्म न पाला जाता हो और घरके सदस्य प्रतिकूल हो तो सेवा कैसे पधरानी? और न पधरायें तो सेवा करनेकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं होता?

उ. ३० पहली बात तो यह कि ब्रह्मसम्बन्ध और सेवा हरेककेलिये नहीं है. आज जैसे दिये जाते हैं वैसे देखे बगैर ब्रह्मसम्बन्ध नहीं देने चाहिये. जिनसे तनुवित्तजासेवा न निभती हो उन्हें ब्रह्मसम्बन्ध देनेका ही नहीं होता है.

अब शुद्धिका विचार करें तो शुद्धिका प्रश्न इतना विचित्र प्रश्न है कि सेवार्थ अपेक्षित शुद्धि क्या है उसका निरूपण कर पाना बहुत मुश्किल है. हमारे तातजी महाराज पूनासे बम्बई पधार रहे थे और ट्रेनमें कोई अंग्रेजका उन्हें स्पर्श हो गया तो उन्हें इतनी ग्लानि हो गई कि ट्रेनमेंसे पुनः नीचे उतर गये और घरमें न बिराजकर नदीकिनारे तीन दिन बिराजे और उपवास करके गायत्रीका जप करते रहे! इतनी

अशुद्धि उन्हें लगी. आज हम ऐसा करने जाये तो कभी उपवास छूटे ही नहीं! वो अपरस आज नहीं पाल सकते. कहीं न कहीं तो समझौता करना ही पडता है. हम जिस कुएका पानी इस्तेमाल करते हो उसमें गटरका पानी मिलता हो तो हम उसे कैसे रोक सकते हैं? बम्बई जैसे शहरमें प्यासे मर जाना? प्यासा कोई मरनेवाला नहीं.

ताजबीबीने कैसे सेवा की होगी? आज भी तुम आगरेके किलेमें देखके आओ कि ताजबीबी सेवा कर सके वैसी मरजादकी कोठी, टंकी, टोटीवाला नल और कंतानकी व्यवस्था थी या नहीं? अब तक तो नहीं दिखी. ताजबीबी कोई अकबरकी अतिप्रिय बेगम नहीं थी कि जिसकेलिये अकबर सब सुविधा जुटाये. वो तो ६००-७००मेंसे एक थी और वह भी अप्रिय थी ऐसा उल्लेख वार्तासाहित्यमें है. तो ताजबीबी और उनके वंशज कितनी अपरस पाल सकते होंगे यह हम समझ सकते हैं. अन्तर इतना कि उस वक्त मुसलमान ही अपरस नहीं पालते थे, आज ब्राह्मण भी अपरस नहीं पालते. तो अपरस न पालनेके कारण सेवा छोडनेका आदेश देना पडता हो तो हमारे तातजी महाराज यदि आज पधारें तो सबसे पहले मुझे ही आदेश दें कि तू सेवा छोड, क्योंकि तू भी मेरे जितनी अपरस तो नहीं ही पालता. हृदयपर हाथ रखकर देखो कि अपने पितामह जितनी अपरस किसीके घरमें कोई नहीं पालता. पितामह जितनी अपरस पिताने नहीं पाली होगी और पिता जितनी अपरस हम नहीं पालते होगे ; चाहे हम आकाश-पाताल एक कर दें. क्योंकि घीमें ही कोई चरबी मिलाता हो तो तुम क्या कर सकते हो? साबुन तुम इस्तेमाल नहीं करते? कहाँ गई अपरस? कौन कौनसी अपरस न पालनेके कारण सेवा छोड देंगे? यदि अपरसपे सेवा निर्भर हो तो सेवा हो ही नहीं सकती. पर यदि ताजबीबी सेवा कर सकती हो, वो रजस्वला वेश्या सेवा कर सकती हो तो हम भी ऐसे अस्पृश्य होनेपर सेवा कर सकते हैं.

सेवामें सेवोचित शुद्धि एक बात है और अपरसकी हमने बांधी हुई धारणाएँ दूसरी बात है ; दोनोंकी मिलावट नहीं करनी चाहिये. आज घरमें तो नहीं पलता, गाँवमें भी नहीं पलता. शास्त्रके अनुसार यदि गाँवमें गौहत्या होती हो तो गायको बचानेकेलिये सर कटा देना

चाहिये या तो वो गाँव छोड देना चाहिये. कोई छोडके दिखाये बम्बई! पालके दिखाये अपरस! कोई बम्बई छोडता नहीं. अर्थात् ऐसी अपरस न पालें तो चलता है पर इसमें नहीं चलता! क्योंकि सेवा करनी किसीको पसन्द ही नहीं. घरमें सेवा नहीं करनी इसलिये अपरसका बहाना हमने ढूंढ निकाला है कि "अपरस नहीं निभती". मूल बात यह है कि सेवा हमें करनी नहीं है.

सेवामें सहायक होती अपरस अत्यन्त पालने अनुसरने जैसी है ; पर अपरस सेवामें बाधक होती हो तो अपरस छोडनी या सेवा छोडनी? तो हर वक्त सिद्धान्त समझ लो कि अपरस छोडनी, सेवा नहीं. क्योंकि यदि ताजबीबी, मोहना भंगी, अलीखान सेवा कर सकते हो तो हम भी उतने अंशमें ही लायक हैं. आज उससे अधिक अहंकार करने जैसी परिस्थिति नहीं है. हम अपरस पालनेकेलिये सेवा नहीं करते, सेवा करनेकेलिये अपरस पालते हैं —मूल बात यह है. महाप्रभुजीने "सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः" कहा है, 'सर्वदा सर्वअपरसेन' नहीं. हमारा स्वधर्म सेवा है. उसमें सहायभूत होती अपरस हृदयसे पालनी चाहिये. वैसी कोई भी अपरस छोडनेका दुराग्रह हमें रखना ही नहीं चाहिये. क्योंकि श्रीमहाप्रभुजीका स्पष्ट आग्रह है "यावद् देहाभिमानं तावद् वर्णाश्रमधर्म एव स्वधर्मः।" देहाभिमान शिथिल हो तब ही वर्णाश्रमधर्म हम छोड सकते हैं. तो अपरस सेवाकेलिये है, सेवा अपरसकेलिये नहीं.

प्र. ३१ जो पक्की मर्यादासे सेवा करते हो और जो पक्की मर्यादासे सेवा न करते हो उन दोनोंकी सेवामें तारतम्य है क्या? उन दोनोंकी सेवाके फलमें तारतम्य है क्या?

उ. ३१ कँई लोग कहते हैं "जो सखडी अरोगे वह सखडीके ठाकुरजी, जो दूधगर अरोगे वह दूधगरके ठाकुरजी". प्रश्न यह है कि सखडीके ठाकुरजी या ठाकुरजीकेलिये सखडी? हम लोगोंने उलटा चक्कर चलाया. एक बार हमारे पार्लामें ऐसा हुआ. एक वैष्णवने मेवाके श्रीनाथजी बनाये और फिर खा गये! ठाकुरजी कायके? ठाकुरजी तो आनन्दात्मक हैं!

श्रीमहाप्रभुजीका तो एक ही सिद्धान्त है कि तुम जो खाते हो वह श्रीठाकुरजीको भोग धरके खाओ. तुमने निवेदन किया है तो प्रभुको

समर्पण करके ही लो. मरजादके ठाकुरजी नहीं होते. ठाकुरजीकेलिये तुम मरजाद पालो वह अच्छी बात है, ठाकुरजीकेलिये तुम मरजाद तोडो वह भी अच्छी बात है. हमारे तातजी महाराज आज्ञा करते कि ठाकुरजीकेलिये साडी पहनकर नाचना भी अच्छी बात है. शर्त एक ही है– जो करें वह ठाकुरजीकेलिये होना चाहिये. ठाकुरजीकेलिये नहीं होता वह सब व्यर्थ है. ठाकुरजीकेलिये मरजाद हो तो वह मरजाद सच्ची, पर यदि मरजाद पालनेकेलिये तुम घरमें ठाकुरजी रखो तो वह रसोई करनेवाली बाई नहीं है इसलिये हम पत्नी लाये उसके जैसा है. पर केवल रसोईकेलिये पत्नी महेंगी पडती है यह बात हम भूल जाते हैं. तुम नुकसानका धंदा मत करो, फायदेका धंदा करो. मरजादकेलिये ठाकुरजी मत रखो, ठाकुरजीकेलिये मरजाद रखो. सखडीकेलिये ठाकुरजी मत रखो, ठाकुरजीकेलिये सखडी रखो. जो कुछ है वह ठाकुरजीकेलिये रखो तो पुष्टिमार्ग है.

मरजादकेलिये ठाकुरजी नहीं है तो मरजादके ठाकुरजी और बिनमरजादके ठाकुरजीमें कैसे भेद हो सकता हैं? मेंड कौनकी? ठाकुरजीकी या अपनी? मेंड तो श्रीमहाप्रभुजीकी कही जाय, श्रीठाकुरजीकी नहीं. श्रीठाकुरजी तो मेंडके बाहर हैं. श्रीठाकुरजी सिर्फ तुम्हारे भावकी मेंडमें ही बंधते हैं. मर्यादा पालनी अपने लिये आवश्यक है ; अपने देह, मन, घरकी शुद्धिकेलिये आवश्यक है. प्रभुको मर्यादा पालनेकी नहीं होती है. उन्होंने मर्यादा तोडी तभी तो अपने यहाँ पधारे हैं! प्रभुकेलिये तो केवल स्नेहकी मर्यादा ही पालनेकी आवश्यकता है. स्नेहकी मर्यादामें ही प्रभुको बांधे जा सकेंगे. ठाकुरजीमें भेद करना यह गेरपुष्टिमार्गीय बात है.

तुम्हें यदि ऐसा लगता हो कि एक वैष्णवके यहाँ अपरस पाली नहीं जाती और उनके ठाकुरजी तुम्हारे घर पधारे, तो अपने यहाँ श्रीठाकुरजीको शुद्ध करनेका विधान है ; श्रीठाकुरजीको स्नान करा देनेका. हम छू जाते हैं वैसे अपने ठाकुरजी भी छू जाय. जैसे अपन शुद्ध हो वैसे ठाकुरजी भी शुद्ध होते हैं. ठाकुरजीको मरजाद लेनेकेलिये कोई गोस्वामी बालकके पास आज्ञा लेनेकी जरुरत नहीं. ठाकुरजीको कायकी मरजाद? मरजाद तो वैष्णवको लेनी है. आनन्दसे पल सके इतनी पालो. चित्रजीको अंगवस्त्र कराओ मतलब स्नान हो गया. मेंड छू जाती है, ठाकुरजी नहीं छू जाते. पर हमने ठाकुरजीकी अपेक्षा मेंडकी महत्ता मानी इसलिये

सोपाधिक भाव हो गया. शुद्धाद्वैतमें ही भेद नहीं तो स्वरूपमें कैसे भेद होगा?

प्र. ३२ हमारे यहाँ सखडीके श्रीठाकुरजी बिराजते हों तो एकादशीके दिन महाप्रसाद लेना या फलाहार करना? सखडी महाप्रसाद लेना तो क्यों? फलाहार करना तो क्यों? प्रसाद अन्न तो नहीं है न?

उ. ३२ कँई बार अपनी भाषा सुनकर मुझे रोना आ जाता है. हम अपनी भाषाको सुधारे यह अति आवश्यक है. जैसे पहले हम रसोईयाको महाराज कहते थे, अब हम महाराजको रसोईया समझ बैठे! वैसे ही सखडीके ठाकुरजी नहीं होते ; ठाकुरजीकेलिये सखडी होती है. आजसे हम शपथ लें कि हम "मिसरीके ठाकुरजी, दूधगरके ठाकुरजी, सखडीके ठाकुरजी" ऐसे नहीं बोलेंगे. ठाकुरजीकेलिये मिसरी है, दूधगर है, सखडी है.

यह सबका कारण भाषाको संक्षिप्त कर डालनेकी हमारी वृत्ति है. एक भाई मुझे हर बार चिट्ठीमें भगवत्स्मरण लिखते. भगवत्स्मरण लिखे उसका कोई एतराज नहीं पर वे उसका संक्षिप्त रूप लिखते "भ.स्म."! "श्यामुबावाको मेरे भस्म"! मैंने तुम्हारा क्या गुनाह किया कि तुम्हारी भस्म मुझे भेजते हो? कहते हो तो भगवत्स्मरण कहो न! वैसे ही "सखडीके ठाकुरजी" यह विचित्र short form है. ऐसा short form कदापि नहीं करना चाहिये.

सखडी धरें तो ठाकुरजीके *वोल्टेज* ज्यादा हो, अनसखडी धरें तो ठाकुरजीके *वोल्टेज* घट जाय और मिसरी धरें तो ठाकुरजीके *वोल्टेज* बिल्कुल घट जाय ऐसा कहीं होता है? माहात्म्य किसका ; आरोगनेवालेका या जो आरोगाया जाता है उसका?

ठाकुरजीको एकादशीके दिन भी सखडी भोग धर सकते हैं और फलाहार भी भोग धर सकते हैं. शास्त्र और श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा अनुसार उत्तम कल्प तो यही है कि हमें एकादशी करनी ही चाहिये. कोई कारणसर अपनेसे न निभे तो फलाहार लेना चाहिये. अन्न तो नहीं ही लेना चाहिये. हम एकादशीके दिन फलाहार लें तो भी ठाकुरजीको भोग धरके लें, असमर्पित तो न ही लें. ठाकुरजी तो उस दिन सखडी

भी आरोगें और फलाहार भी आरोगें. ठाकुरजी कोई एकादशीव्रत नहीं करते अत: ठाकुरजी दोनों आरोगें. हम केवल फलाहार लें यह नियम हमें निभाना चाहिये.

प्रसाद अन्न नहीं है उसका मतलब यह नहीं कि ठाकुरजी सखडी आरोगें तो हम भी एकादशीको सखडी प्रसाद लें. ग्रहणमें भी तो ऐसा ही होता है न, कि ठाकुरजी आरोगते हैं पर हम नहीं लेते. ठाकुरजी तो वैसे अन्नकूट भी आरोगते हैं तो क्या हमें भी अन्नकूट खाना? ठाकुरजीने तो गिरिराज भी उठाया है पर हम उठाने जायेंगे तो हमारा हाथ ही उतर जायेगा! ठाकुरजी करें वह हमसे नहीं हो सकता.

प्र. ३३ श्रीमहाप्रभुजीके दृष्टिकोणसे सेवामार्ग पूजामार्गसे भिन्न है, तो फिर षोडशग्रन्थ आदिमें "तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु", "पूजया श्रवणादिभि:" आदि वाक्योंसे क्या समझना?

उ. ३३ ऐसा है कि इन वाक्योंका अर्थ विभिन्न टीकाकार अलग ही करते हैं, और उसकी व्याख्या लिखनेकी जो पद्धति है उसके दो सम्प्रदाय हैं. एक सम्प्रदायके अग्रणी श्रीगोकुलेश हैं, दूसरेके श्रीबालकृष्णजी, रघुनाथजी आदि हैं. दोनोंने अलग-अलग अर्थ किये हैं. परन्तु Detail में विशेष उतरे बिना मैं एक बात कहता हूँ कि आज हम पूजा और सेवा के भेदके बारेमें जो कुछ समझते हैं और जितना भेद मान लिया गया है उतना श्रीमहाप्रभुजीको विवक्षित नहीं. भेद जरूर है ; सेवा अलग चीज है, पूजा अलग है. परन्तु ऐसा नहीं कि पूजाका विनियोग सेवामें नहीं है. जो शास्त्रीय पूजाप्रणाली थी उसका श्रीमहाप्रभुजीके हिसाबसे सेवामें भी विनियोग है, क्योंकि स्नेहात्मिका भक्ति अंगी है और पूजन उसका अंग है. जैसे कि पंचामृत, शंखनाद, धूप-दीपका प्रकार है वो सब पूजन है, और उसका विनियोग सेवामें है. भक्तिका जो अपने यहाँका प्रकार है वो ऐसे बनाया गया है कि भक्ति तो व्रजभक्तोंके भावानुसार ही करनी ; वैदिक प्रकारको अंगीकी तरह नहीं मानना परन्तु स्नेहात्मिका भक्तिके अंगरूप मानना. इसे मर्यादाभक्ति भी कह सकते हैं. पूजा मर्यादाभक्ति ही है. यह बात हम निश्चित समझें कि मर्यादाभक्तिका विनियोग भी अंगरूपसे है, अंगीरूपसे नहीं.

और उसके अनुरूप अपने यहाँ दो प्रकारके स्वरूप बिराजते हैं– सेवाका स्वरूप और पूजनप्रणालीका स्वरूप. जैसे कि शालिग्राम तथा गोदके छोटे बालकृष्णलालजी बिराजते हैं, जो जयन्तीके दिन पंचामृतस्नानकेलिये पधारें. तिलक होता है और उनका पूजन होता है. उस दिन आप देखो तो वसन्त न हो तो भी कोई घरमें केवल चंदनसे तो कोई घरमें चंदन - अबील - गुलालसे पूजन होता है. उसमें चंदनके छींटे लगानेकी पूजनकी पद्धति है. इस पद्धतिसे उनका पूजन होता. जयन्तीके दिनकी यह प्रणाली क्या सेवाकी थी? नहीं, तन्त्रकी प्रणाली थी, पूजनकी प्रणाली थी. हमारे यहाँके छोटे बालकृष्णलाल पूजाके ठाकुरजी थे और शालिग्रामजी पूजाके ठाकुरजी थे. प्राणायाम, मन्त्र, विनियोग यह सब होता था. यह स्वरूप सेवामें नहीं बिराजता था.

अपन लोग ऐसा समझते हैं कि पूजा करनेसे कोई महान अनर्थ हो गया या अधर्म हो गया! पर हकीकतमें ऐसा कोई अधर्म या अनर्थ नहीं था. ऐसी मान्यता श्रीआचार्यचरणकी नहीं थी. श्रीआचार्यजीके अनुसार जैसे कि सन्ध्यावन्दन हम करें वो अधर्म नहीं हो जाता. क्यों अधर्म नहीं होता? इसलिये कि वेदविहित होनेसे हमारे जो अनिवार्य कर्म हैं वो तो करने ही चाहिये ब्राह्मण होनेके रूपमें. इसी प्रकारसे चार वैष्णव सम्प्रदायोंके अन्तर्गत विष्णुस्वामी सम्प्रदायके रूपमें अपने यहाँकी आराधनापद्धतिको स्वीकारें अथवा एक सामान्य वैष्णव सम्प्रदायके रूपमें स्वीकारें तो भी तन्त्रका प्रामाण्य तो आपने स्वीकारा ही है. तन्त्रकी सभी पूजनप्रणाली आपने स्वीकारी थी. आपकेलिये नियत कर्तव्यके अनुरूप शालिग्रामजी आपके पास थे और उनका पूजन होता था, सन्ध्याकी भांति एक नियत कर्तव्य होनेके कारण. पीछेसे क्या हुआ? उनको अलग न रखकर सेवामें श्रीठाकुरजीकी गोदमें बिराजते. यह क्रम शुरू हुआ और पूजाप्रणालीके जो मन्त्र थे वे छोड दिये. और उसकेलिये एक तन्त्रोक्त प्रणालीका अलग स्वरूप बिराजता.

आचार्यचरणकी स्पष्ट आज्ञा है, सुबोधिनीजीके ग्यारहवें स्कन्धमें इस बातका स्पष्टीकरण है, कि केवल पुष्टिमार्गके अंगरूप तदनुसार भक्ति करनी चाहिये, जिसे स्वतन्त्रभक्ति कह सकते हैं. और वो शक्य न हो तो तन्त्रके प्रकारकी भक्तिसे ही प्रभुकी विभूतिका भी अर्चन करें.

विभूतिका ही अर्चन न करें, साक्षात् केशवका ही अर्चन करें. उसमें यह भी खुलासा दिया है कि प्रभुके स्वरूपके हजार प्रकार हो सकते हैं और उन हजार प्रकारमेंसे अभिमत जो मूर्ति हो, जो आपको पसन्द हो, उस मूर्तिका तन्त्रोक्त प्रकारसे पूजन करें. ऐसी आप आज्ञा करते हैं. अथवा दोनोंका समन्वय करना ; पुष्टिमार्गीय स्वतन्त्रभक्ति है उसका और तन्त्रोक्त भक्ति है उसका समन्वय करना.

परन्तु खास करके गोस्वामी बालकोंको दोनों प्रकार महाप्रभुजीद्वारा ही प्राप्त हुए थे. आपश्रीने अपने ही प्रकारमें जैसे ये तीन आज्ञा दी थी वैसे निभाई भी थी. यात्रामें आप पधारते तब शालिग्रामजी नित्य पूजनकेलिये आपके पास बिराजते थे. आज वे शायद मथुरेशजीके वहाँ अथवा काशीमें बिराज रहे हैं. तो शालिग्रामजी जो आपश्रीके यहाँ नित्य पूजनविधिकेलिये बिराजते थे उनका आप पूजन करके कण्ठमें धारण करते थे. वह तन्त्रोक्त प्रकार था. वैष्णव लोग कण्ठमें शालिग्रामको धारण करते हैं ; शैव लोग जैसे लिंगको धारण करते हैं वैसे ही. अपने यहाँकी प्रणालीसे विचारें तो कण्ठमें धारण करना प्रभुको श्रम देनेके बराबर है, परन्तु तन्त्रमें उस परिश्रमका विचार नहीं है. इसलिये उन्हें कण्ठमें धारण किये जाते. और आचार्यचरण धारण करते थे वो तन्त्रकी विधिके निर्वाहसे. और वे जो शालिग्राम थे वे केवल तन्त्रकी पूजाके शालिग्राम थे. ऐसे तान्त्रिकी पूजाके स्वरूप– गोदके बालकृष्णजी सदृश– और केवल सेवाके प्रकारके स्वरूप भी आपके यहाँ बिराजते थे. मुख्यस्वरूप जो सेवामें बिराजे उनमें भी थोडा तन्त्रोक्त प्रकार है, जैसे कि पुरुषसूक्तसे स्नान करायें स्नानयात्राके दिन. उसका भागवतमें भी विधान है और तन्त्रोक्त प्रणाली भी है, जैसे कि पंचामृतस्नान कराना. यों तो बालभावसे विचार करें तो बालकको कैसे पंचामृत करा सकें? संभव ही नहीं है ; बालकको पंचामृतस्नान करानेपर बडा परिश्रम होगा! परन्तु प्रभुको हम कराते हैं, क्योंकि तन्त्रोक्त प्रकार ही अंशतः आपने ग्रहण किया है. इसलिये उन दोनोंसे करना (तन्त्रोक्त और सेवाके प्रकारसे करना). समुच्चय अथवा "समुच्चया मर्यादा" ऐसा वहाँ पाठ है. यह समुच्चयका कल्प भी अपने यहाँ था.

इन बातोंपर ध्यान न देनेसे बादमें हमें यह भ्रान्ति हो गई कि

जो मर्यादाभक्ति है वह करनी अधर्म है और हमें तो केवल अनन्य पुष्टिभक्ति करनी चाहिये. परन्तु जो शास्त्रविहित भक्ति है उसे जरा भी अधर्म नहीं गिन सकते – यह बात स्पष्ट है. क्योंकि जो निश्चित सन्ध्या करते हैं वो अधर्म नहीं तो विहितभक्तिका क्रम कैसे अधर्म हो सकता है? इसलिये "पूजया श्रवणादिभिः" में 'पूजया'का अर्थ बालकोंने अलग-अलग किया है. "पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः" प्रणयावलोकन ही पूजा है ऐसा अर्थ घटाया है. ऐसा भी अर्थ घटाया है कि स्नेहरहित जो क्रिया है वो पूजा है. ऐसे अनेकविध अर्थ घटायें हैं. जिस बालकको जैसा अर्थ पसन्द आया वैसा लेनेमें आया है. परन्तु वे सब अर्थ और श्रीआचार्यचरणके ग्यारहवें स्कन्धके वचन इन सब अर्थके सामने रखकर देखें तो तीनों प्रकार श्रीआचार्यचरणद्वारा प्राप्त होते हैं— स्वतन्त्र भक्तिमार्गका क्रम, तन्त्रोक्त भक्तिका प्रकार और दोनोंके समुच्चयका प्रकार. तीनों हमें प्राप्त होते हैं. जैसी रुचि, जैसा अधिकार, जैसा भाव तदनुसार अर्थ भी करना चाहिये. तो पूजाका अर्थ केवल पूजा लेनेमें आये तो भी कोई आपत्ति नहीं. मेरे हिसाबसे आपके प्रश्नका अंश छूट तो नहीं रहा न?

इसमें और एक बात है ; इस बारेमें प्रभुचरण श्रीगुसांईजीका क्या विचार है? प्रभुचरणका बिलकुल स्पष्ट विचार इस विषयमें यही है. क्योंकि प्रभुचरणने जहाँ भी ग्रन्थमें पुष्टिभक्तिको अलग करके बताई है वह इस बातको समझानेकेलिये बताई है कि पुष्टिभक्तिको हम तन्त्रोक्त भक्ति न समझ लें. प्रभुचरण जो भी अलग करके बताते हैं वो इसलिये नहीं कि तन्त्रोक्त भक्तिसे पुष्टिभक्ति अलग है इसलिये तन्त्रोक्त भक्ति करनी नहीं चाहिये. यहाँ (सेवामें) तन्त्रोक्त भक्तिका समुच्चय है. प्रभुचरणकेलिये आवश्यक कर्तव्य था कि पुष्टिभक्तिको स्वतन्त्र, अलग कर दिखायें. प्रभुचरणने भार देकर वे सब हेतु, वे सब वचन, वे सब गुणधर्म पृथक्-पृथक् किये हैं. पर उसका यह मतलब नहीं कि समुच्चयका आपश्री निषेध करते हैं. यदि समुच्चयका निषेध हो तो आपश्रीने सेवामेंसे ये क्रम दूर किये होते. प्रभुचरणने दूर नहीं किये. वे सब क्रम जो तन्त्रोक्त थे वे आपको विवक्षित थे. जैसे पवित्रा जो है वो पंचरात्र आगमका प्रकार है. पवित्रा कहाँ अपने पुष्टिमें कभी

व्रजभक्तोंने धराये हैं? व्रजभक्तोंको कभी यह भाव जगा कि इतने दिन हमने आपकी सेवा की वो निष्फल न जायें इसलिये आप पवित्रा धरो? ऐसा भाव व्रजभक्तोंमें जग ही नहीं सकता. यह तो अपने हृदयमें जगा, क्योंकि यह भाव तन्त्रोक्त भक्ति और स्नेहात्मिका भक्ति का केवल समुच्चय ही है.

प्र. ३४ जन्माष्टमीके दिन श्रीठाकुरजीको सुबह पंचामृत क्यों होता है? रातको महाभोग आनेके बाद श्रीठाकुरजी क्यों पालने झूलते हैं?

उ. ३४ पंचामृतका प्रकार मूलतः सेवा नहीं, पूजन है. श्रीमहाप्रभुजीने अपने जीवनकी प्रत्येक बातको सेवामें बुन ली है. उदाहरणतः हम इसलिये ब्याह करते हैं कि सेवामें एक साथी मिले. घरमें इसलिये रहते हैं कि घरमें प्रभुकी सेवा करनी है. शास्त्रके विधानानुसार हमें जो कुछ पूजन करना चाहिये उसे भी श्रीमहाप्रभुजीने सेवामें बुन लिया है. वैष्णव शास्त्रके विधानानुसार जन्माष्टमी, रामनवमी, वामनद्वादशी और नृसिंहचतुर्दशी यह चार जयन्तीयोंको हमारे इष्टदेव ; फिर वे शालिग्रामजी हो या स्वरूप हो, पंचामृत कराना चाहिये. शास्त्रकी विधि है कि ब्राह्मणको सन्ध्या करनी चाहिये. अतः अपने यहाँ ऐसा कहा गया है कि सन्ध्या करके श्रीठाकुरजीकी सेवामें जायें. पितृओंका श्राद्ध करना चाहिये उसके बारेमें सिद्धान्तरहस्यकी टीकामें ऐसी स्पष्टता है कि श्राद्धकेलिये आवश्यक भोजनसामग्री सेवामें सिद्ध करके, उसे श्रीठाकुरजीको आरोगाके, उस महाप्रसादसे पितृओंको भोजन कराना, श्राद्ध करना. ऐसे अपने जीवनके सब क्रियाकलापोंको हमें ताने-बानेकी तरह भक्तिमें बुन लेने हैं, जिससे भक्ति और जीवन यह दो अलग-अलग टुकडे न रह जायें. तदनुसार शास्त्रीय पंचामृतकी पद्धतिको भी सेवामें बुन ली. सेवामें पंचामृतको बुन लिया इसलिये उसका भक्तिमय भाव भी सोच लिया गया, जो भावभावनाके ग्रन्थोंमें वर्णित है. परन्तु असलमें वह सेवाका अंग नहीं ; वह शास्त्रीय पूजनप्रणाली है.

अपने यहाँ ऐसे स्पष्ट रीतसे कहा है कि "यथा देहे तथा देवे।" जिस प्रकार देहमें उसी प्रकार देवमें. अतः हम ऋतु अनुसार सेवा करते हैं. इसी कारणसे हम सर्दीमें श्रीठाकुरजीको गद्दल धराते हैं, गर्मीमें

मलमलके वस्त्र धराते हैं. शीतकालमें अम्बर या केसर का इत्र धरा जाता है तो उष्णकालमें मोगरा या खस का इत्र धराया जाता है. इसलिये ऋतुकाल अनुसार राग, भोग और शृंगार की समग्र सेवाकी पद्धति घडी गई. देहके साथके सम्बन्धको देवके साथ साधनेकी यह प्रणाली है. अब तुम्हारे घरके कोई छोटे बालकको बैठाकर उसे पंचामृत कराके देखो न! उससे बालक ऐसा घबरा जायेगा कि फिर तुम्हारे पास आयेगा ही नहीं! आदमी दूधसे स्नान कर ले, दहींसे भी कर ले, कदाचित् शरीर पर घी और शक्कर भी चुपडा ले. परन्तु यदि शहदसे स्नान कराया और उसकी आंखमें शहद गया तो आंखे ऐसी जलेगी कि तोबा हो जाय! तो सेवामें श्रीठाकुरजीको ऐसा परिश्रम कैसे दे सके? बालभावसे यदि विचार करें तो ऐसा परिश्रम नहीं दे सकते. पर शास्त्रका विधान होनेसे यहाँ स्नेहभाव न रखकर थोडा माहात्म्यका भाव रखके पंचामृतपूजन कराया जाता है. इसलिये हररोज न कराके चार जयन्ती तक सीमित रखनेमें आया है.

श्रीयशोदाजी जब श्रीठाकुरजीको स्नान कराते होंगे तब क्या प्राणायाम, संकल्प आदि करके स्नान कराते होंगे? हम पंचामृत कराते हैं तब प्राणायाम करते हैं, संकल्प करते हैं. यह सब करते हैं क्योंकि यह शास्त्रीय विधि है. शास्त्रीय विधिको निभानी चाहिये, अतः श्राद्ध जैसी विधिको भी सेवामें बुन ली है. जीवनका एक लौकिक पहलू है वैसे और एक शास्त्रीय वैदिक पहलू भी है. इसलिये लौकिक पहलूकी तरह शास्त्रीय पहलूको भी सेवामें बुन लिया है ; जिससे समग्र जीवन सेवामय बन जाय और सेवा ही जीवन बन जाय. अतः अपने यहाँ सेवा जीवनसे अलग ऐसा कोई कर्मकाण्ड Ritual नहीं है. सेवा जीवन जीनेकी ऐसी सुव्यवस्थित शैली है जिसमें लोकका या शास्त्रका कोई विरोध नहीं है. दोनोंके समन्वयपूर्वक भगवानके साथ स्नेह साधनेका एक प्रशस्त मार्ग है.

गीतामें भगवान आज्ञा करते हैं "संगात् संजायते कामः" संगसे काम पैदा होता है. अपने लौकिक-वैदिक कर्मोंके पहलूओंमें स्थिर रहकर भगवत्संग साधनेका विज्ञान सेवा है.

शास्त्रीय विधानके अनुसार जो यज्ञोपवित पहनता हो ; फिर वह

ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या वैश्य हो, उसे ही प्राणायाम करनेका अधिकार है. जिसे यज्ञोपवित हो उसे ही प्राणायाम, संकल्प आदि पूर्वक पंचामृत करानेका शास्त्रमें विधान है. हरेक वैष्णवके घरमें ऐसा होना सम्भव नहीं है, इसलिये प्राचीन समयसे वैष्णवोंके घरमें पंचामृतकी रीति नहीं थी. ऐसी रीति नहीं होनेसे कुछ वैष्णव ऐसा समझे कि हमारे घरमें बिराजनेवाले श्रीठाकुरजीके *वोल्टेज* मन्दिरमें बिराजनेवाले श्रीठाकुरजीसे कम होंगे, इसलिये हमारे घरमें पंचामृत करानेकी आज्ञा नहीं है! पर सचमुचमें देखें तो पंचामृतके साथ श्रीठाकुरजीका कोई सम्बन्ध नहीं ; पंचामृतका सम्बन्ध हमारे साथ है. हमने यदि यज्ञोपवित ली है तो जयन्तीके दिन पंचामृत कराना हमारा कर्तव्य है. अत: श्रीठाकुरजी कहते हैं "मैं तेरे ब्राह्मणके घरमें आया हूँ ; इसलिये तेरे ब्राह्मणाचारके अनुसार तू मुझे पंचामृत करायेगा तब मधुसे मेरी आंख जलेगी तो भी मैं तुझे क्षमा करूंगा. ब्राह्मणके घरमें मैं आया हूँ तो मैं तेरा ब्राह्मणाचार पालूंगा".

अपने वार्तासाहित्यमें एक सुन्दर प्रसंग आता है. एक बूढे माजीको श्रीगुसांईजीके घरसे महाप्रसादकी एक पत्तल रोज मिलती. माजी खूब बूढे. घरमें सामग्री सिद्ध करनेकी सुविधा नहीं थी, इसलिये वह पत्तल अपने श्रीठाकुरजीको भोग धर देते. एक वैष्णवने श्रीगुसांईजीको शिकायत की कि यह बूढिया मन्दिरमेंसे आई महाप्रसादकी पत्तल उसके श्रीठाकुरजीको भोग धरती है! श्रीगुसांईजीको हुआ कि एक बार श्रीठाकुरजीको भोग धरी जा चूकी पत्तल फिर क्यों भोग धरती होगी? शायद मन्दिरके ठाकुरजीसे वह अपने ठाकुरजीको कम *वोल्टेज*के तो नहीं मानती होगी न? श्रीगुसांईजीने माजीको बुलाकर कारण पूछा. तब माजीने खूब सुन्दर जवाब दिया "आपके घर बिराजते ठाकुरजी आपके घरकी अपरस पालते हैं. ब्राह्मणाचार ऐसा है कि खानेको बैठनेके बाद खडे हो जानेपर वह खाना और पात्र उच्छिष्ट हो जाते हैं ; दुबारा उसे खाने बैठ नहीं सकते. इसलिये एक बार श्रीठाकुरजीको भोग आनेके बाद वह फिरसे ठाकुरजी आपके यहाँ आरोग नहीं सकते. पर इतनी अपरस हमारे घरमें हम ही पालते न हों तो हमारा लडका कैसे पाले? वह तो खेलने भी जाय और खाने भी बैठे और खाते-खाते फिर खेलने भी जाय! इसलिये एक ही थालीमेंसे दो-चार बार आरोगते हमारे

बालकको हम रोकते नहीं, कारण हम ब्राह्मण नहीं हैं.'' श्रीगुसांईजीने आज्ञा की ''तुम्हें जैसे करना हो वैसे करो''.

इसमें यह बात स्पष्ट है कि माजीने अपने माथे बिराजनेवाले श्रीठाकुरजीको कम *वोल्टेज*के नहीं माने थे. माजीका भाव अतिशय स्पष्ट था— तुम्हारे घर बिराजते ठाकुरजी यदि तुम्हारे घरका आचार पाले तो मेरे घर बिराजते ठाकुरजी क्या मेरे घरका आचार न पाले?

किशनगढसे थोडी दूर कुचामन नामका राज्य है. वहाँके राजा मुगलकालमें मुगलसेनामें थे. मुगलोंकी सेना लेकर उन्होंने अहमदाबादपर गोलाबारी की, उसमें अनेक घर गिर पडे. उनमेंसे एक घरमें श्रीनटवरलालजी ठाकुरजी बिराजते थे वह घर भी दब गया था. उस रात श्रीनटवरलालजी ठाकुरजीने राजाको स्वप्न दिया. आपने आज्ञा की ''तूने गोलाबारी की उसमें मैं दब गया हूँ''. अहमदाबाद सर करनेके बाद राजा अन्दर गये. स्वप्नमें जो घर देखा था वहाँ जाकर मलबा दूर करानेपर अन्दरसे श्रीठाकुरजी मिले. अब सेनामें लडते-लडते श्रीठाकुरजीकी सेवा किस प्रकार करनी? तो वे माथेपर साफा बांधते उसमें बीचमें खाली जगह रहती उसमें उन्होंने सफेद वस्त्र बिछाकर गादी जैसा बना दिया और उसमें श्रीठाकुरजीको पधराकर भोग धरते. फिर पहनकर लडने जाते! क्षत्रियके ठाकुरजी तो ऐसे ही होंगे न! हर बार श्रीनटवरलालजी ठाकुरजी युद्धमें राजाके साथ जाते! फिर लश्करमेंसे निवृत्त होकर जब वे अपने राज्यमें वापस आये तब अपने घरमें पधराकर सेवा करने लगे. वहाँके इतिहासमें यह लिखा है कि श्रीनटवरलालजी ठाकुरजी चारसे छह मास जितने समय तक राजाके साफेमें बिराजे थे.

क्षत्रियका ठाकुर रणमैदानमें पधारे, बनियेका ठाकुर घरमें बिराजे. ब्राह्मणका ठाकुर शास्त्रोंकी मर्यादामें फँसा हुआ ठाकुर होता है, क्योंकि ब्राह्मणोंको वह मर्यादा पालनी होती है. परन्तु आज हम ऐसे उस्ताद हो गये हैं कि हमने सब मर्यादा छोड दी ; कुआका जल छोडके नलका जल पीते हैं, चौपाटीपर भेल भी खा लें, पर श्रीठाकुरजीसे मरजाद पलवाते हैं! उन्हें कहते हैं कि आपसे मर्याद नहीं छोडी जा सकती! प्रश्न यह है कि मरजाद ठाकुरजीने ली या हमने ली? ठाकुरजी तो मोहना भंगीके हाथका भी आरोगे ; जिनके घर बिराजे उनके घर

आरोगे. ठाकुरजीको छूआछूत नहीं होती. अपरस हमें पालनी है. पर हम ऐसे चतुर भक्त कि हमने अपरस छोड दी और श्रीठाकुरजीको फँसा दिये!

हम कहते हैं कि हमारे यहाँ कुआका जल नहीं है और कुएके जलके बिना झारी नहीं भर सकते इसलिये झारीमें मिसरी पधरा देंगे, पर नलका जल ठाकुरजीको चले नहीं इसलिये सामग्री तो किस प्रकार बना सकते हैं? सो हम तो ढोकला खायेंगे, हम फाफडा भी खायेंगे, पर श्रीठाकुरजीको केवल मिसरी ही धरेंगे! मुझे समझमें नहीं आता कि यह किस प्रकारकी ठगाई श्रीठाकुरजीके साथ हम कर रहे हैं? तुम ऐसी बात तुम्हारे लडकेको समझाओ तो क्या वो तुम्हारी बात मानेगा? यदि वह लडका न माने तो बालभावसे लालित पालित हुए तुम्हारे ठाकुरजी तुम्हारी ऐसी बात कैसे मानेंगे? वे तो कहेंगे कि तेरी मरजाद सच्ची हो तो ऐसा खाने-पीनेका तू छोड दे. या तो तू जो खा रहा है वो ही मुझे भी खिला. क्योंकि "असमर्पितवस्तूनां तस्मात् वर्जनमाचरेत्, निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः।" श्रीमहाप्रभुजीने स्पष्ट आज्ञा की है कि तुम असमर्पित वस्तुका त्याग करो. तुम जो कोई चीजका उपभोग करो वो श्रीठाकुरजीको समर्पित करके करो. "सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।" सेवकके व्यवहारकी मर्यादा है कि स्वामीको उपभोग कराये बिना कोई वस्तुका स्वयं उपभोग नहीं कर सकता. तदनुसार हमें अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी मर्यादा रखनी चाहिये. हम ढोकला खायें और श्रीठाकुरजीको मिसरी धरके पोढा दें यह नहीं चल सकता. यह सेवा नहीं, पाखण्ड है. परन्तु आज हम ऐसा पाखण्ड कर रहे हैं, क्योंकि हम भक्ति करना नहीं चाहते, हम भगति करना चाहते हैं.

जन्माष्टमीके दिन श्रीठाकुरजीको पंचामृत क्यों होता है उसका कारण हमने देखा. अब श्रीठाकुरजीको प्रातःकालमें पंचामृत क्यों होता है उसका विचार करें. ठाकुरजीका प्रागट्य मध्यरात्रिके वक्त हुआ है. रातके बारह मतलब *स्टेन्डर्ड टाईम* अनुसार चलती हमारी घडीके बारह नहीं. पहले बम्बईका *टाईम* अलग था. उस बम्बैया *टाईम* अनुसार जब बारह बजे तब बम्बईके बारह कहे जाय ; *स्टेन्डर्ड टाईम* अनुसार बारह बजे तब

मध्यरात्रि नहीं कही जाय. बम्बईका *टाईम* ४८ मिनिट आगे था, इसलिये *स्टेन्डर्ड टाईम* अनुसार १२ बजकर ४८ मिनिट हो तब बारह बजते हैं. उस समय जन्म होता है. अब उस समय तो ठाकुरजीके सब शृंगार-वस्त्र बडे करके पंचामृत कैसे करा सके? पुनः शृंगार धरे नहीं जा सकते. इन सब बातोंका विचार करके सुबह ठाकुरजीको पंचामृत करा लिया जाता है. शास्त्रमें जिन्हें प्रतिनिधि कहते हैं उन्हें अपने यहाँ गोदमें पधराकर मध्यरात्रिको पूजन होता है और फिर महाभोग आता है. यह पूरी शास्त्रीय पूजनकी प्रणाली है. अतः पंचामृत, पूजन, धूप, दीप, भोग सब विधि तदनुसार करनी पडे. हमारे मुख्यस्वरूपको हम रातमें पंचामृत नहीं करा सकते इसलिये उनको सुबह पंचामृत कराते हैं.

दूसरी जयन्तियोंमें जिनका जन्म मनाया जाता है वे श्रीरामचन्द्रजी, श्रीवामनजी या श्रीनृसिंहजी स्वरूप अपने यहाँ सेवामें नहीं बिराजते हैं. वे अपनी सेवामें मुख्यस्वरूपतया नहीं बिराजते होनेसे उनके जयन्तीदिनपर हमारे मुख्यस्वरूपको पंचामृत करानेका क्रम प्राप्त नहीं होता. इसलिये वो दिन गोदमें बिराजते श्रीठाकुरजीको पंचामृत करानेमें आता है. जन्माष्टमीका उत्सव हम जो स्वरूपकी सेवा कर रहे हैं उनका जयन्ती उत्सव होनेसे ठीक जन्मके समय उनको पंचामृत कराना चाहिये. पर ये शक्य नहीं इसलिये सुबह उनको पंचामृत कराते हैं.

महाभोग सरे वहाँ तकका सेवाका जो क्रम है वो शास्त्रीय जयन्तीका क्रम है. ''पंचामृत-आरती-धूप-दीप-नैवेद्यं समर्पयामि'' का शास्त्रका क्रम सेवामें बुन लिया होनेसे पंचामृतके बाद रातको महाभोग आता है. महाभोग सरनेके बाद श्रीठाकुरजी पलनामें बिराजे यह शास्त्रका क्रम नहीं है. वहाँसे फिर सेवाका क्रम शुरू हुआ, नन्दघरका क्रम शुरू हुआ. ''व्रज भयो महरके पूत जब यह बात सुनी, सुनी आनन्दे सब लोग गोकुल गनित गुनि''. इसलिये श्रीठाकुरजीको पलना झुलानेमें आता है.

इसीलिये वैष्णवोंके घरमें श्रीठाकुरजीको रातको जागरण करानेका और महाभोग धरनेका क्रम प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह शास्त्रीय पूजनका क्रम है. प्राचीन बालक वैष्णवोंको ऐसी आज्ञा नहीं देते थे उसका कारण यही कि उनको यज्ञोपवित नहीं होनेसे शास्त्रदृष्टिसे यह विधि

करनेका विधान नहीं है. तो क्यों उनके घरमें श्रीठाकुरजीको रातको जगाकर श्रम कराना? इसलिये प्रभुके सुखका विचार करके जन्माष्टमीकी रातको आपके घरमें श्रीठाकुरजीको पोढा देनेकी आज्ञा होती थी. पर वैष्णवोंने यह बात समझनेके बदले ऐसा सोचा कि हमारे ठाकुरजीके *वोल्टेज*से मन्दिरमें बिराजते ठाकुरजीके *वोल्टेज* ज्यादा होंगे, इसलिये वहाँ रातको जागरण होता है, पंचामृत होता है, महाभोग आता है पर अपने यहाँ वैसे नहीं होता! वास्तवमें ऐसा भेदभाव नहीं था. पर ब्राह्मण होनेके कारण हमें यह शास्त्रीय विधि करनी पडे इसलिये हमारे घरमें बिराजते ठाकुरजीको भी हमारे साथ जागरण करना पडे, पंचामृतसे नहाना पडे, महाभोग आरोगना पडे.

जब गोविन्दस्वामीने श्रीनाथजीको मोहना भंगीके साथ खेलते देखे तब श्रीनाथजीको स्नान कराया. यह जाननेपर श्रीगुसांईजीने पूछा "क्या ब्रह्म छू जाय?" तब गोविन्दस्वामीने जवाब दिया "नहीं महाराज, ब्रह्म नहीं छुआता, पर आपके घरकी मेंड तो छुआती है न? आपके लालजीने यदि ऐसे स्पर्श किया होता तो आप उनको स्नान कराते या नहीं? श्रीनाथजीको आप अपने बालक मानते हो या नहीं? बालक मानते हो तो श्रीनाथजीको स्नान कराना पडे"!

श्रीठाकुरजी जिनके घर बिराजते हो उनके घरकी अपरस न पाले तो कैसे चलेगा? हम ज्ञातिकी दृष्टिसे पंचद्राविड ब्राह्मण कहे जाते हैं, इसलिये पंचद्रविड ब्राह्मणोंके हाथकी ही सखडी और अनसखडी हमारे श्रीठाकुरजी आरोग सकते हैं ; और ब्राह्मणके हाथकी सखडी और अनसखडी नहीं आरोग सकते. पर ठाकुरजीको पंचद्राविडके साथ क्या सम्बन्ध है? ठाकुरजी तो नन्दघरमें ग्वालके यहाँ भी बिराजे. मुखिया - भीतरिया पंचद्राविड अर्थात् सांचोरा, गिरनारा, औदिच्य ही होने चाहिये यह नियम ठाकुरजीके कारण नहीं आया पर हमारे कारण आया है.

पुराने वर्णाश्रमी लोग आचार-विचार खूब पालते. भोजनमें उन्हें शुद्ध अन्नका विशेष आग्रह था. सो शास्त्र नहीं पढा हुआ कोई अनपढ ब्राह्मण भीख मांगता न हो जाय इसलिये उनको घर बुलाकर कहते "महाराज! आप हमारे घरमें रसोई करो, आप भीख मत मांगो". इस तरह ब्राह्मणोंद्वारा घरमें रसोई बनानेकी पद्धति शुरू हुई. पर उनके प्रति

आदरभाव इतना अधिक कि उस जमानेमें बनिया लोग उनको ''रसोईया'' नहीं कहते पर ''महाराज'' कहते. ''तू'' नहीं कहकर ''आप'' कहते, क्योंकि ब्राह्मण जातिके प्रति उनको आदरभाव था. पर जैसे कभी नाव गाडीमें और कभी गाडी नावमें, वैसा यह 'महाराज' शब्दका हुआ.

एक भाई हमारे घर आये.

वे - आप महाराज न?

मैं - हाँ भाई.

वे - हमारे यहाँ विवाह है ; आप रसोई बना दोगे?

मैं - वैसा महाराज मैं नहीं हूँ.

वे - तब तुम कैसे महाराज हो?

मैं - महाराजकी पाँच-दस जात होगी उसमेंका एक हूँ, पर तुम खोजते हो वैसा महाराज मैं नहीं हूँ.

वे - तुम रसोई बनाओगे तो तुम्हें नुकसान नहीं होने दूंगा. मेरे न्योते बीस आदमी हैं, ज्यादा नहीं.

मैं - भाई मुझे फायदा नहीं चाहिये.

वे - आप कैसे महाराज हैं यह मुझे समझमें नहीं आता!

इस हादसेसे मैंने मेरे घरके आगे 'महाराज'का बोर्ड ही नहीं टंगवाया. मुझे आज भी कोई ''महाराज'' कहे तो मुझे डर लगता है कि प्रीतिभोजमें रसोई करनेकेलिये मुझे कोई बुलाने न आ जाय! पर यदि मैं प्रसाद बेचता हो जाऊँ तो फिर मैं रसोई करनेवाला महाराज ही हूँ न! फिर मेरेमें और रसोईयेमें क्या फर्क है? हमें कुछ बातोंकी सावधानी रखनेकी बहुत आवश्यकता है. हमें प्रसाद नहीं बेचना चाहिये. हमें बिकता हुआ प्रसाद लेना नहीं चाहिये. प्रसन्नतासे मिले वह प्रसाद कहा जाता है. खरीदा हुआ प्रसाद प्रसाद नहीं, वह तो माल है. उसमें किसी प्रकारकी प्रभुकी प्रसन्नता नहीं, भक्तिकी प्रसन्नता नहीं. वह प्रसाद नहीं, केवल स्वाद है.

प्र. ३५ उत्सवके अवसरपे अपने घर किसीके श्रीठाकुरजी पधारे हों और भेट करें तो उसे स्वीकारनेमें दोष है क्या?

उ. ३५ पुष्टिमार्ग खूब लचीला मार्ग है, उसके लचीले नियम हैं. पुष्टिमार्गपर

कठोर कानून या नियम से नहीं चला जा सकता.

हमारे किशनगढमें राजाका मन्दिर है. वहाँ नियम कि कोईकी भेट लेनी नहीं. राजा चले गये पश्चात् वहाँ भेट लेने लग गये. उन्होंने ऐसा मार्ग निकाला कि वह भेट हमारे यहाँ भेज देनी. मुझे ये बात मालूम पडी. मैंने उनसे कहा "तुम्हारे बडोंने भेट बंद की थी. वह तुम चालू करना चाहते हो तो तुम रखो ; मेरे यहाँ क्यों भेजते हो?" उन्होंने कहा "गुरुघरके सिवा और कहाँ भेजे?" मैंने कहा "तुम्हें खड्डेमें न पडना हो तो न पडो, पर मुझे क्यों खड्डेमें पटकते हो?" दरबारने मेरी बात मानी ; उन्होंने घरवालोंकी भेट लेनी भी बंद कर दी. सब रोते हुए मेरे पास आये. मैनें कहा "मैंने दरबारको यों कहा था कि जो तुम्हारे स्वजन न हो उनकी भेट न लेनी".

जिनको हम अपने गिनते हो उनकी भेट ले सके. जो मेरा लगे उसकी भेट लूँ – स्नेहकी यह लचीली मर्यादा है.

प्र. ३६ कदाचित् कोई वैष्णवके यहाँ श्रीठाकुरजी न बिराजते हों और उसे भाव हो तो उसे दर्शन करवाने या नहीं करवाने?

उ. ३६ पहले बम्बईमें चाल पद्धतिके मकान थे. वह पद्धति अब कम होती गई है. बम्बईके उपनगरोंमें अब नई *फ्लेट* पद्धति अस्तित्वमें आई है. इन दोनों पद्धतिके मकानोंमें रहनेका फर्क हम जानते हैं.

फ्लेट पद्धतिमें *ड्रोइंगरूम, कीचन, बेडरूम बाथरूम* अलग-अलग होते हैं ; चाल पद्धतिमें यह सब एक ही रूममें होता है. अतः चालमें रहनेवाले सभी लोग अपने पडोसके रूमोंमें रहनेवाले सब लोगोंकी निजी बातोंमें चंचुपात करते रहते हैं, माथापच्ची करते हैं. किन्तु *फ्लेट* पद्धतिमें दरवाजे बंद रखे जाते हैं. दरवाजा खुला हो तो भी लोग *ड्रोइंग रूम* तक ही आ सकते हैं ; उन्हें हम अपने *बेडरूम*में नहीं ले जाते. आज ऐसी पर्दा पद्धति भी नहीं कि अपनी पत्नीको हम पर्देमें रखें. पर मूल बात सहज रीतिसे विवेक रखनेकी है. घरमें कहाँ तक अन्य व्यक्ति आ सकता है उसका आधार उसके साथके हमारे निजी सम्बन्धपर है.

किसे दर्शन कराने और किसे न कराने यह मैं तुम्हें नहीं कह

सकता, वह तुम्हारे आपसी सम्बन्धकी बात है. तुम्हारे परिवारके साथके रिश्त-नातेके सम्बन्धका ही केवल यह प्रश्न नहीं है, भावके सम्बन्धका प्रश्न है. किनके साथ तुम्हारा भाव मिलता जुलता है यह तुम्हें ही तय करना पडेगा. तुम्हारे और उस व्यक्तिके भावके उत्कट सम्बन्धको लेकर यदि वह तुम्हारे घरमें रसोईघर तक आ सके, तुम्हारे श्रीठाकुरजीके दर्शन कर ले तो वह घटना तुम्हारे और उसके स्नेहसम्बन्धको लेकर हो रही है. उसे तुम आमन्त्रण नहीं देते कि तुम हमारे श्रीठाकुरजीके दर्शन करने आओ.

मैंने किसीको भोजनकेलिये आमन्त्रण न दिया हो पर मेरे यहाँ कुछ आमन्त्रित अतिथि भोजन कर रहे हो उस वक्त मेरा कोई निजी स्नेही बिना बुलाये अचानक मेरे यहाँ आये तो मैं उसे भी कहूंगा कि तू भी बैठ जा न भोजन करने. वो स्नेही तब ऐसा नहीं कहेगा कि तुमने मुझे आमन्त्रण कहाँ भेजा था? मैं कैसे खाने बैठूं? यदि वह आमन्त्रणपत्रिकाकी अपेक्षा रखता हो तो उसे भोजनके समयपे आना ही नहीं चाहिये. यह सहज स्नेहके सम्बन्धका सहज भाव है. सेवामें उसे अच्छी तरहसे समझ लेना जरूरी है.

श्रीगोपीनाथजी साधनदीपिकामें आज्ञा करते हैं "स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्." जिन्हें तुम अपनोंमें गिनते हो ऐसे भक्तोंको दर्शन कराने. अपना सगा भाई हो पर प्रभु प्रतिके भावमें अपने और अपने भाईके बीच तारतम्य हो तो सगे भाईको भी दर्शन न करायें. और हमारे और दूसरे व्यक्तिके बीच न्यात-जातका कुछ सम्बन्ध न हो पर भावका सुमेल हो और वह अपने यहाँ आ पहुँचा और दर्शन कर लिये तो भले ही कर लिये.

अतः बात यह समझनेकी है कि अपना किसके साथ कैसा सम्बन्ध है? तुम्हारा जिसके साथ जैसा सम्बन्ध हो तदनुसार उसके साथ श्रीठाकुरजीके बारेमें तुम्हें सावधानी बरतनी चाहिये. तुम्हारे साथ जिसे अभिन्न भाव है वो तुम्हारे संग मिलकर सेवा करे उसमें कोई आपत्ति नहीं.

प्र. ३७ अपने यहाँ आरतीके वक्त क्यों तालियाँ नहीं बजाते? सब

क्यों नहीं गाते?

उ. ३७ 'सब'से आपका मतलब भीडभाड हो तो साफ समझो कि सेवा *प्राईवेट* होती है, *पब्लिक* नहीं. ठाकुरजी तो बालक हैं ; ताली बजाके, घुघरा बजाके किस प्रकार रीझाने वो तो तुम्हारा और ठाकुरजीका विषय है.

प्र. ३८ अटकाव / सूतकके समय सेवाका कैसे करना?

उ. ३८ इन परिस्थितियोंमें ठाकुरजी पासके वैष्णवके यहाँ पधराने. उनको सौकर्य न हो तो रोज वो आपके घर आके सेवा पहुँचे ऐसा करना चाहिये. ये भी सम्भव न हो तो अन्तमें भावनासे सेवा करनी चाहिये ऐसा श्रीगोकुलनाथजीने कहा है.

प्र. ३९ सामग्री धराने लायक है या नहीं इसकी जाँच कैसे करनी?

उ. ३९ आम आदिका एक टूक लेके उसे चखना चाहिये या शीशीमेंसे थोडा इत्र अलग निकालके उसे सूंघना चाहिये ; जिससे वह टूक या वह अलग निकाला हुआ इत्र तो उच्छिष्ट हो जाये पर वो आम या शीशीमेंका इत्र धरा जा सके.

प्र. ४० मन्दिरमेंसे महाप्रसाद पधारे वो अपने ठाकुरजीको भोग धरा जा सकता है क्या? अगर धर सके तो अपने माथे और मन्दिरमें बिराजते ठाकुरजीमें भेद है क्या?

उ. ४० अपने वार्तासाहित्यमें श्रीगुसांईजीके सेवक बूढे माजीका एक सुन्दर प्रसंग आता है, जो विवशताके कारण महाप्रसादकी पत्तल भोग धरते थे. किन्तु वार्तामें स्पष्ट है कि माजीने अपने माथे बिराजनेवाले श्रीठाकुरजीको कम *वोल्टेज*के नहीं माने थे. तुम्हें उनकी नकल नहीं करनी चाहिये. कोई चमचेके बदले दातन धर दे तो तुम्हें नहीं धरने चाहिये. पर तुम्हारा भाव हो तो महाप्रसाद भी धर सकते हो. "कीजिये जो भी दिलमें आये शकिल, लेकिन उसमें उसकी खुशी मुकद्दम हो". तत्सुखके विचारसे करोगे वो सब चलेगा. और स्वसुखके विचारसे "घडी-घडी कौन भोग धरने जाय? दो वक्त कहाँ सामग्री सिद्ध करनी?" इसलिये

एक सामग्रीको दो-चार बार धरा दो तो उसमें तुम तुम्हारी सुविधाको मुकद्दम (महत्वपूर्ण) मानते हो. वह उचित नहीं. यह विवेक रखना है.

मैंने ऐसा प्रसंग सुना है कि एक भाई शृंगारके समय पूरा अनार सिर्फ छिलका निकालके भोग धरते. उनसे किसीने पूछा कि अपने यहाँ तो सिद्ध करके भोग धरा जाता है ; आप पूरा अनार क्यों भोग धरते हो? उन्होंने जवाब दिया "मैं शृंगार करके सामग्री सिद्ध करने जाऊँ तो सिद्ध करके अनार धरा हो तो सब अरोग जाते हैं. ये एक-एक दाना निकालके अरोगे इतनेमें मेरी सामग्री सिद्ध हो जाती है." यह उदाहरण है "लेकिन उसकी खुशी मुकद्दम हो" का. ठाकुरजीमें उन्होंने ऐसे बालस्वरूपकी भावना की तो बात अच्छी है. पर कोई ऐसा कहे "अनार सिद्ध करनेकी झंझट कहाँ करनी?" तो? हमारे यहाँ एक भीतरियाजी थे. एक बार हमारे यहाँ वैष्णव आये, तो मैंने कहा "भीतरियाजी, आज सामग्री जरा ज्यादा सिद्ध करना". मेरे पास तो "जो आज्ञा" कहा, पर जाते जाते बोले "हररोज साले आ जाते हैं! मुझे पंचायत हो गई". तो ऐसी पंचायत हो जाये इसलिये पूरा अनार धरना हो तो उसके बजाय न धरो तो अच्छा.

कहे बिना भावनासे वो भाईकी तरह करना हो तो करो. पर कहोंगे, गाँवको दिखाने जाओगे तो exhibition (प्रदर्शन) हो जायेगा ; भक्ति नहीं रह जायेगी. महाप्रभुजी कहते हैं "गुप्त एव रसः रसत्वम् आपद्यते, प्रकटस्तु रसाभास एव।" जो रस गुप्त नहीं वो रस नहीं पर रसाभास है. रस गुप्त होगा तभी आनन्द देता रहेगा ; जब छलका तब हृदय खाली हो गया. तो पात्र छलके नहीं उसकी सावधानी रखो. जब दूसरेको कहने-सुनाने-दिखानेकी वृत्ति हो गई मतलब हृदय रिक्त हो जाये वैसे पात्र एक तरफ झुक रहा है. कुछ ऐसा करो कि वह भरा ही रहे, क्योंकि वो भरनेकेलिये भरा गया है, रिक्त करनेकेलिये नहीं. बहुत दुर्लभतासे हृदयमें भावनाका रस भरे वैसा अवसर आता है, और हम उसे प्रदर्शन करनेकी वृत्तिमें छलका दे वो पुष्टिमार्गके ५०० वर्षकी दुर्दशाका प्रताप है. तो प्रभुको मन्दिरसे आया हुआ प्रसाद धरनेमें यही सावधानी रखनी है.

गोकुलनाथजीकी वार्तामें आता है कि पूछा गया कि पहले जैसे भगवदीय आज-कल क्यों दिखते नहीं तो उन्होंने कहा कि दिखायेंगे. जब आपश्रीका जन्मदिन था तब सब वैष्णव प्रसाद लेने बैठे. उसमें एक वैष्णव रोता था. किसीने गोकुलनाथजीको कहा तो आप पधारे और उसे कहा "जा, अब घर जा". पीछे पूछनेवालेने फिर पूछा कि आपने कहा था कि प्राचीन कालके जैसे भगवदीयका दर्शन कराऊंगा तो कब कराओगे? श्रीगोकुलेशने कहा "क्यों आज दर्शन नहीं किये ; जो रोते थे वो?" "अरे जन्मदिनके अवसरपर प्रसाद न ले और रोये वो क्या भगवदीय है?" तो उस वैष्णवको बुलाकर पूछा "क्यों रोता था?" वैष्णवने कहा "इतनी सामग्री मैं कहाँ अरोगा सकता हूँ? और मैं खुद खा लूँ वो कैसे सम्भव है? और आपके दिये हुए प्रसादको छोड कैसे दूँ? ये दुविधाका अन्त नहीं आता था इसलिये रोता था". तो रोना और प्रसाद न लेना भी धन्य है. और समझो उसके घर वो दिन पातल भेजे और वह ठाकुरजीको कहे कि लो और ठाकुरजी न ले? ऐसा सम्भव नहीं. ऐसे भगवदीयके साथ ठाकुरजी अपना प्रसाद ले सकते हैं, क्योंकि बालक हैं, अपरसमें नहीं समझते! पर झंझटसे छूटनेकेलिये मन्दिरमेंसे बिकता प्रसाद लेकर 'ले महाराज' की वृत्तिसे ठाकुरजीको प्रसाद नहीं धरा सकते. कारण यह कि तुम्हारे और मन्दिरके ठाकुरजीमें जरा भी भेद नहीं. जो तुम्हारे माथे बिराजते हैं वो भी पूर्ण पुरुषोत्तम हैं और मन्दिरमें बिराजते हैं वो भी पूर्णपुरुषोत्तम ही हैं. अपने यहाँ हरेक पुष्टिमार्गीय वैष्णवके माथे पूर्णपुरुषोत्तम ही बिराजते हैं.

इसीलिये जिस वक्त शोभा बेटीजी अपने माथे बिराजते ठाकुरजीकी सेवा छोडकर सातस्वरूपके मनोरथका दर्शन करने गये उस वक्त श्रीगुसांईजीने पूछा "तुम्हारे ठाकुरजीको भोग धरके आये?" तो बेटीजीने कहा "नहीं, वह दर्शन तो कभी कर लूंगी". तो श्रीगुसांईजीने कहा "वह क्या भैरव हैं? जो यहाँ बिराजते हैं वही तुम्हारे माथे बिराजते हैं. वो भी पूर्णपुरुषोत्तम हैं". तो पूर्णपुरुषोत्तमको प्रसाद धरें तो अपराध लगता है ; पर बालक हैं तो धर भी सकते हैं.

प्र. ४१ ठाकुरजीकेलिये कुछ भी करना अगर ठीक है तो कोई वैष्णव

निर्धन होनेके कारण सेवा ठीक तरहसे न कर पाता हो तो चोरी करके, दुराचार करके द्रव्य प्राप्त करके वैभवसे सेवा करे वह योग्य है?

उ. ४१ हाँ, ठीक बात है. कोई सेवाकेलिये दुराचार करके दिखाये, मैं छूट दे दूँ. पर दुराचारकी सफाई देनेकेलिये लोग सेवा करे और फिर कहे कि सेवाकेलिये दुराचार करता हूँ तो यह बात सरासर गलत है. वस्तुतः सेवाकेलिये दुराचार करना तो दुराचारकी ऊँची कक्षा है. ये आम आदमीके बसकी बात नहीं कि सेवाकेलिये दुराचार कर सके. तो यह अधिकार हम अपना मान ले कि दावा करे "सेवाकेलिये दुराचार या चोरी कर रहे हैं" तो सावधानी रखो कि तुम शायद चोरीको ढाँकनेकेलिये तो सेवा नहीं करते न?

प्र. ४२ हम ठाकुरजीको बालभावसे भजते हैं तो सफरमें अपने ठाकुरजीको श्रम होता है यह क्या सच है? यदि अपने बालकको दूसरेके यहाँ रखनेकेलिये मन न मानता हो तो ठाकुरजीको दूसरेके घर क्यों पधराने?

उ. ४२ सचमुच यह प्रश्न सबको होता है. श्रीहरिरायजीने बहुत सुन्दर आज्ञा की है "सेवायाः लौकिकी रीतिः स्नेहः तत्र नियामकः।" सेवा करनेकी रीति लौकिक है. क्रिया अलौकिक है पर करनेकी रीति लौकिक है. पर प्रायः लौकिक रीति आँखकी शरमके कारण होती है. हमें पसन्द न हो पर घरपे महेमान आ जाये तो उनकी आँखकी शरमके कारण सत्कार करना पडे, सब काम छोडके उनकेलिये चाय-नास्ता बनाना पडे! तो लोकमें आँखकी शरम नियामक होती है. पर सेवामें आँखकी शरम नियामक नहीं होती; "स्नेहः तत्र नियामकः।" रीतिके पीछे प्रीति न हो तो वो रीति बेजान हो जाती है. वैसी रीतिको निभानेमें न तो हमारी भक्तके रूपमें सार्थकता है और न ही प्रभुकी भजनीय स्वामीके रूपमें सार्थकता. मतलब उस रीतिको प्रीतिके साथ निभानी चाहिये.

जब यह समझ लें तो ये भी समझमें आयेगा कि हमें किसी भी प्रकारका दुराग्रह नहीं रखना चाहिये, कि सफरमें ठाकुरजीको साथ पधराकर ही जाऊंगा; फिर चाहे मुझे और ठाकुरजीको श्रम क्यों न

हो. या मैं ठाकुरजीको पधराये बिना ही जाऊंगा, फिर जो कुछ श्रम होता हो वो भले हो. नियामक तत्त्व यहाँ पधराकर या न पधराकर जानेकी रीति नहीं, क्योंकि ठाकुरजीकी सेवामें किसकी आँखकी हमें शरम आती है? सेवक और सेव्यके बीच आँखकी शरमकी नहीं, स्नेहकी-भक्तिकी जरूरत है. उस भक्तिकी आवश्यकता अनुसार तुम्हें समझना चाहिये कि प्रभुका सुख जिस प्रकार निभता हो– दूसरेके घर पधरा जानेसे या साथ पधरा जानेसे– वैसे करना चाहिये. वो तुम्हें तय करना पडेगा कि प्रभुका सुख किसमें है.

झांसीकी रानी लक्ष्मीबाईको युद्धमें ऐसा प्रसंग आया कि किला खाली करनेकी नौबत आई, क्योंकि किलेमें रहकर लम्बे अरसे तक युद्ध कर सके वैसी स्थिति रह नहीं गई. उस वक्त बडा प्रश्न यह था कि यदि किलेमें अपने बेटेको छोडके जाये तो अंग्रेज उसकी हत्या कर दे! और अंग्रेज कुटिल होनेसे बेटेको अपने भरोसेमंद नौकरको सौंपकर जाये तो वो पैसेके बदले बेटेकी हत्या कर दे वैसी सम्भावना थी. लक्ष्मीबाईके मातृहृदयने सब विचार किया. वह शूरांगना थी इसलिये उसने तय किया कि मेरे बेटेको मेरी पीठसे बांधकर मैं उसकी रक्षा करुंगी. वो अपने बेटेको पीठपर बांधकर हाथमें तलवार लेकर रणमैदानमें आ गई और बेटेको बचाते-बचाते लडती रही! पर जब उसे भालाके वार लगे तब उसे लगा कि मैं मर जाऊंगी तो बेटा अंग्रेजोंके हाथमें जायेगा, इसलिये भाग गई! लडना सिद्धान्त नहीं था, अपने बेटेकी सुरक्षाका सिद्धान्त था. बेटेकी सुरक्षाकेलिये वो लड भी सकती है, भाग भी सकती है. मुख्य प्रश्न लडनेके अहंकारका नहीं, बेटेकी सुरक्षाका था. (जैसे मुगलकालमें अपने पूर्वाचार्य राजस्थानमें जा बसे.) मैदानसे भागकर वो बेटेको ऐसी जगह रखती गई कि उसे ढूंढते अंग्रेजोंको और बारह साल लगे! Exactly उस मातृहृदय जैसे हृदयसे हमें ठाकुरजीके बारेमें सोचना चाहिये.

कुचामनके राजाने सरपे बांधे हुए साफेमें कटोरी रखी, गादी पधराई और उसपे नटवरलालजी ठाकुरजी बिराजे और लडाई चलती रहे! ऐसे छह मास उन्होंने सेवा की! यह सचमुच स्नेह है, परिश्रम नहीं. जो कोई इसे परिश्रम माने वो पुष्टिमार्गको समझ नहीं पाया ऐसे मैं कहूंगा.

वो ही सच्चा पुष्टिमार्ग है. सरपे कटोरीमें गादीपे ठाकुरजीको पधराना यह लौकिक दृष्टिसे कम श्रम नहीं होगा, पर एक लडाकू सेवक और क्या कर सकता है युद्धभूमिमें? कहाँ और किसके माथे वो ठाकुरजीको पधराने जायेगा? जब तक बदनपे सिर कायम है तब तक नटवरलाल बिराजते हैं; बस उसे सन्तोष है. राजाके साफेके गढमें किल्लेबंदी करके नटवरलाल बिराजते थे वो कैसा सुन्दर गढ था! फिर युद्ध समाप्त होनेपर महलमें सेवामें बिराजे.

तो ठाकुरजीको किसीके घर पधराके जाना या साथ पधरा जाना उसमें कोई एक रीति कही नहीं जा सकती. तुम्हें ठाकुरजीके प्रति प्रीतिके कारण जिसमें प्रभुका सुख निभता लगे वो करना उचित है.

प्र. ४३ किसे परिश्रम कहा जाता है और किसे नहीं?
उ. ४३ "सेवायाः लौकिकी रीतिः स्नेहः तत्र नियामकः।" जो काम हमें कठिन और कष्टप्रद लगे उससे ठाकुरजीको परिश्रम समझना. तुम्हारे ठाकुरजीको तीखा खाना परिश्रमदायक हो सकता है, जो तीखा खानेवालेके ठाकुरजीकेलिये न भी हो! उसमें कोई नियम नहीं बनाया जा सकता.

प्र. ४४ ठाकुरजीके सिंहासनकेलिये या भोग धरनेकी चोकीकेलिये सनमाईकाका प्रयोग कर सकते हैं या नहीं?
उ. ४४ सनमाईका नया *प्रोडक्ट* है, उसके बारेमें कोई भी विधि-निषेध प्राप्त नहीं है. मुझे उसकी उत्पादनप्रक्रिया मालूम नहीं है. इस प्रक्रियाका *गूगल* आदिसे पता लगाके अपनी विवेकबुद्धिसे शुद्ध लगता हो तो इस्तेमाल करना चाहिये और अशुद्ध लगता हो तो इस्तेमाल नहीं करना चाहिये. शास्त्रमें इसका उल्लेख नहीं, क्योंकि उस वक्त सनमाईका था ही नहीं. ऐसे ही प्लास्टिक आदि कृत्रिम मटेरियलके बारेमें नीति रखनी.

प्र. ४५ जन्माष्टमी, प्रबोधिनी, चन्द्रग्रहणके दिन ठाकुरजीको जागरण करा सकते हैं या नहीं? आठ समयकी सेवा अब नहीं करते पर पूर्वपरम्परासे करते या करवाते आयें हो तो?
उ. ४५ करा सकते हो. महाप्रभुजी प्रबोधिनीका जागरण करते तो नवनीतप्रियजी

भी करते ; पर श्रीनाथजी नहीं करते. पर ठाकुरजीको जगाकर तुम सो मत जाना!

प्र. ४६ सम्प्रदायमें अन्नकूट उत्सव कब शुरु हुआ? छप्पनभोगके मनोरथके बारेमें आपका मन्तव्य क्या है?

उ. ४६ मैं एक सामान्य बात आपको बताऊँ. आज अन्नकूटका अपने यहाँ बडा महत्त्व मान लिया गया है. पर महाप्रभुजी स्पष्ट विधान करते हैं "कोट्यवधिद्रव्यस्य भाररूपेण स्थितस्य सद्व्ययचिकीर्षुः।" जो धान भण्डारमें इकट्ठा हो गया था वह उस जमानेमें भाररूप था. पर आज तो अपने यहाँ अन्नकी इतनी कमी है कि धान इकट्ठा होता ही नहीं ; राशनकी लाईनमें खडा रहना पडता है. वह जमाना अच्छा था, धान सस्ता था इसलिये इकट्ठा हो जाता था. उसका सद्व्यय भी इसलिये आवश्यक था. सो भगवानने अन्नकूटोत्सवकी प्रेरणा दी. जो भाररूप था उसका क्या किया जाय? इसलिये भगवानने अन्नकूटका भोग लगवाया. क्योंकि ऐसा पक्का निरधार है कि "धनं सर्वात्मना त्याज्यं तत् चेत् त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थे तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः अनर्थस्य वारकः॥" जो अर्थ अर्थात् जो धन भगवत्सेवामें विनियुक्त होता है वह अनर्थकारी रह नहीं जाता. और जिस धनका भगवत्सेवामें विनियोग नहीं होता वह अर्थ नहीं पर अनर्थ है – यह महाप्रभुजीका सिद्धान्त है.

आज अपनी स्थिति अलग किसमकी हो गई है. मैंने एक लेख लिखा था "सामग्रीप्रदर्शन-उत्सव".

"एक गाँवमें छप्पनभोग हुआ, सो पासके गाँववाले चिन्ता कर रहे थे कि वह गाँवमें छप्पनभोग हो गया और हमारे गाँवमें क्यों नहीं हुआ? इसलिये एक कमिटी बनाई गई. छप्पनभोग धरनेकेलिये कमिटीने येन केन प्रकारेण चन्दा इकट्ठा किया. कमिटीके जो सब *मेम्बर* थे वे कोई *होलसेलर* थे तो कोई दलाली लेकर माल बेचते थे. अब जो *एजेन्ट* हो उनका *रिटेलरों*के उपर कुछ दबाव रहता है. वैसे ही *रिटेलरों*के उपर *होलसेलरों*का कुछ दबाव रहता है. तो उस दबावके कारण फंड वसूल किया जाता. उसमें बेचारा कोई जैन होता, जो कृष्णसेवाके प्रकारको मानता ही नहीं. पर क्योंकि वह *रिटेलर* था इसलिये

उसे *होलसेलरों*को कुछ न कुछ देना पडा.

फिर सामग्रीप्रदर्शनमहोत्सवके दर्शन खुले. तब महाप्रभुजी दर्शन करने आते हैं और

पूछते हैं - यह सब क्या हो रहा है?

मुखियाजी - छप्पनभोग हो रहा है.

महाप्रभुजी (आश्चर्यचकित होकर) - इस युगमें छप्पनभोग कौन करता है?

मुखियाजी - करे कौन? कमिटी करती है.

महाप्रभुजी (ज्यादा आश्चर्यसे) - अच्छा कमिटी करती है?

मुखियाजी - कमिटी करती नहीं, वह तो खाली फंड इकठ्ठा करती है. छप्पनभोग करनेवाले तो गाँवके सब लोग है.

महाप्रभुजी - कमिटीको क्या पडी है कि इस प्रकार गाँवके पैसेसे छप्पनभोग करें?

मुखियाजी - क्यों नहीं पडी? पासके गाँवमें जब छप्पनभोग हुआ तो यह गाँवमें क्यों नहीं?

महाप्रभुजी - मैं अब सब बात समझ गया! पर यह तो बताओ कि यह सम्प्रदाय कौनसा है?

मुखियाजी - यह वल्लभसम्प्रदाय है.

महाप्रभुजी (आश्चर्यसे) - मेरे सम्प्रदायमें तो यह सब बातें नहीं आती!

मुख्याजी - तुम नये-नये आये लगते हो! पहले समझो महाराजश्रीके पास उपर जाकर कि वल्लभसम्प्रदायके सिद्धान्त क्या है. हमारे यहाँ पहलेसे ऐसा ही चला आ रहा है!

महाप्रभुजी - चलो, अब तो यहाँसे भाग जाना ही उचित है."

इसलिये स्थिति ऐसी है कि आकार-प्रकारका मैं विरोधी नहीं हूँ. किन्तु इस बातको कहता हूँ तो कुछ लोग नाराज हो जाते हैं और मान भी लेते हैं कि मैं छप्पनभोगका विरोधी हूँ! अरे पर मैं छप्पनभोगका विरोधी नहीं. मैं तो इस बातका समर्थक हूँ कि यदि हम निभा सकते हों तो इस आकार-प्रकारको निश्चित निभायें. वह अपनी सेवाका अंग ही है. इससे हमारी सेवाकी शोभा है. किन्तु इन आकार-प्रकारोंके कारण हम सिर कटानेको तैयार न हो जाय. मुख्य

जो सेवा है वह इतनी ही है कि हम अपने घरमें अपने ठाकुरजीकी अपने तनसे, धनसे और मनसे सेवा करें. गाँवसे सेवाकेलिये मांगे नहीं और उसका प्रदर्शन न करें –यह सेवाका मुख्य प्रकार है. और असमर्पित वस्तुका त्याग करें.

छप्पनभोग करनेका शास्त्रका विधान है. वो सम्प्रदायके अस्तित्वके पहलेसे ही चला आ रहा है. अपन तो सब उत्सव ठाकुरजीके साथ मनाते हैं ; चाहे लोकके हो चाहे शास्त्रके, होली हो या दिवाली. हमारा जन्मदिन भी ठाकुरजीको केसरी वस्त्र धराकर मनाते हैं. श्राद्ध भी ठाकुरजीको पहले भोग धरके करते हैं. हरेकमें Lion share ठाकुरजीका.

झफर आदमी उसको न मानिये, हो कैसा भी साहेबो-इल्मोपमा।
जिसे तैशमें खोफे-खुदा न रहा जिसे एशमें यादे-खुदा नहीं॥

आदमी चाहे कितना भी विद्वान समझदार बडबडाध्यायी हो, उसे क्रोध करते समय यह याद न आये कि खुदा मेरेपे खोफ करे तो क्या होगा, और मौज मारते समय– फिर वो ढोकलाकी हो या टी.वी.की– खुदाकी याद न आये, तो उसे आदमी मत मानना. धंदेमें घाटा हो जानेपर तो सबको ठाकुरजी याद आते हैं, पर मौज करते समय याद आने चाहिये.

तुम्हारा धन तुम्हारे ठाकुरजी हैं ; ठाकुरजीके छप्पनभोगकेलिये धन इकट्ठा मत करो. छप्पनभोगकी तरह चलता तो सब अनादिकालसे आ रहा है. अपन अनादिकालसे पैदा होते, संसार सजाते, मरते आये हैं ; महाप्रभुजीने सिर्फ उसे प्रभुकी ओर मोड दिया है. पैदा हो तो सेवाकेलिये, संसार सजाओ तो सेवाकेलिये, मरो तो भगवानको याद करते मरो ; उसमें मजा आयेगी. वैसे जन्म-मरणका चक्र महाप्रभुजीने शुरु नहीं किया. महाप्रभुजीने सब क्रियाकलापोंको प्रभुकी ओर मोड दिये हैं. प्रभुकी ओर अपनी सब वृत्तियोंको मोडनेका मार्ग मतलब पुष्टिमार्ग. खाते पहले भी आये थे और बादमें भी होंगें ; पुष्टिमार्ग समझाता है कि एक बार प्रभुको भोग धरके फिर खाओ.

प्र. ४७ भगवदीयोंकी वार्तामें कहा है कि ठाकुरजी उनके साथ बोलते और सामग्री मांगकर आरोगते ; तो आजकल ठाकुरजी हमारे साथ क्यों

नहीं बोलते? क्यों मांगकर आरोगते नहीं?
उ. ४७ क्योंकि हम भक्ति नहीं करते, भगति करते हैं.

प्र. ४८ सेवा करते समय चित्तमें अनेक लौकिक विचार आते हैं और सेवामें चित्त नहीं लगता. ऐसा क्यों? केवल कर्मकाण्डात्मक सेवा होती है तो प्रभु स्वीकारते होंगे या नहीं?
उ. ४८ सेवा करते समय विचार आते हैं उसका सीधा मतलब यह कि मन विचारोंकी सेवा करता है. "चेतस्तत्प्रवणं सेवा" चित्तका प्रभुमें प्रवण होना सेवा है. तो भावमय सेवा ही सच्ची सेवा है. भावपूर्वक न की गई हो तो technically वह सेवा नहीं पर सेवाका = चित्त चोंटानेका साधन है.

"सङ्गात् सञ्जायते काम:।" संग करनेसे काम प्रगट होता है. जैसे नवजात शिशुको शक्करवाला दूध शुरुमें पसंद नहीं आता, पर निरंतर पीते रहनेपे वो भाने लगता है. पत्नीसे ब्याहनेके समय उतना स्नेह न हो पर साथ रहनेसे स्नेह हो जाता है. मैं बनारस तीन सालकेलिये एक धर्मशालामें रहा था, तो आज भी जाता हूँ तो वो कमरा देखके होता है कि ये मेरा कमरा है! पहाडियोंपे रहनेवाले नीचे आते हैं तो उन्हें गरमी लगती है. मिर्ची तीखी होती है पर उसका संग करते रहनेसे वो भी भाने लगती है. शराब भी इतनी कटु होती है कि उसकी वास भी असह्य लगती है. पर पीते रहनेपे उसका भी व्यसन हो सकता है.

महाप्रभुजी अपनेमें भगवत्संगसे भगवत्काम प्रगट करना चाहते हैं. अगर आप सक्रिय हो तो सेवासे भगवत्संग करनेका कहते हैं. निवृत्त हो तो नामसे संग करो. और नहीं तो अन्तमें मनसे संग करो. "हाथपांव नहीं चलना, दसबीस कोस नहीं चलना. राधेकृष्ण बोल मुखसे, क्या लगेगा मोल?" ये भी नहीं कर सकते तो महाप्रभुजी कहते हैं दु:संगके बजाय असंग अच्छा ; निरन्तर तीर्थाटन करते रहो. तो तुम्हें जिससे भगवत्संग करना जमे उससे अवश्य करो.

आप सेवामें तनसे संग कर रहे हो ; मनसे नहीं. मनसे निरन्तर संग होता तो "मानसी सा परा मता" वो परम फल होता. मन

नहीं लग रहा तो धांधली मत करो, तनसे संग करते रहो ; कामना होनेपर मन स्वतः लग जायेगा. एक गर्भवती स्त्रीने अपनी माँसे कहा "जब संतान हो तब मुझे जगाना". माँने कहा "तब तुझे जगानेकी जरूरत नहीं पडेगी ; तू ही सबको जगा देगी!". वैसे ही फिर पूछना नहीं पडेगा कि मन क्यों भटकता है.

मनसे डरना मत. एक कविने तो कहा है कि "मनसा निर्मितं पापं मयि मारोपयाच्युत, 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' त्वयैव कथितं पुरा!". मनसे जो गडबड हो जाये उसका आरोप मेरेपे मत डालना, क्योंकि तूने ही कहा है कि इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ! कुछ लोग कहते हैं "मन भटके तो सेवा निष्फल". पर वैसे तो खानेमें, सोनेमें भी सबका मन नहीं लगता, तो क्या खाना, सोना छोड देना? पुराणोंमें आता है कि ६०,००० वर्ष समाधिमें रहनेके बाद भी ऋषियोंका मन भटक गया! तो इतनी आसानीसे हमारे वशमें कैसे आयेगा? भगवानका मन भी भक्तोंमें भटक जाता है, चलायमान हो जाता है –ये लीलाओंसे ज्ञात होता है.

तुम मन भटकनेकी चिंता मत करो ; तन और वाणी भटक न जाये उसकी सावधानी रखो. बाकी सब प्रभुपे छोड दो. हमने तो प्रभुको आत्मा तक सब समर्पित कर दिया है ; प्रभुको जब जिससे रमण करना होगा तब उससे करेंगे. कंसकी तरह चित्त लग भी गया तो क्या कामका? सहजतया सेवा-कथा करते रहो.

प्र. ४९ वैष्णवको सेवा कैसे करनी चाहिये ये कोई भी गोस्वामी आचार्यकेलिये वैष्णवोंको काफी समय देकर सिखाना आजकी परिस्थितिमें कम सम्भव लगता है, तो सेवाविषयक जानकारी पानेके इच्छुक सच्चे पात्रकेलिये आपकी क्या सलाह है? क्योंकि सिद्धान्तकी समझ ग्रन्थ पढनेसे आ सकती है पर सेवा रचनात्मक विषय है.

उ. ४९ बात सच है. गोस्वामी बालक जो आपके गुरु हो उनसे जाकर सेवारीति समझनी चाहिये, परस्पर परिवारजनोंसे एवं भगवदीयोंसे समझनी चाहिये. और साथ ही साथ श्रीमहाप्रभुजीके प्रायः सभी ग्रन्थोंके अनुवाद हो गये हैं तो वे सिद्धान्त पढके समझोगे तो तुम्हें लगेगा कि सिद्धान्त

तुम्हें खैरातमें नहीं मिले ; तुमने उन्हें अर्जित किये हैं. शिक्षापत्र, ८४ वैष्णवकी वार्ता, षोडशग्रन्थ –ये एक-एक ग्रन्थ अपने घरमें प्रतिदिन कमसे कम १०-१० या १५-१५ मिनट पढनेका नियम लो. परिवारजनोंके साथ हिल-मिलकर, जागृत होकर, रसपूर्वक पढो. बच्चोंसे बंचाओ, जिससे उनको आत्मविश्वास और रुचि जगे. ऐसे नियमित पढाई करोगे तो मनमें संस्कार बनेंगे और तुम्हें सच्चे सिद्धान्तका खयाल रहेगा तो कमसे कम खोटी आदत नहीं पडेगी.

प्र. ५० वैष्णवका गोलोकवास हो जानेपर क्या ठाकुरजीको दुबारा पुष्ट करानेके बाद ही दूसरा वैष्णव सेवा कर सकता है? और ये सच हो तो क्या वैष्णवके साथ ठाकुरजीका तेज चला जाता है?

उ. ५० ऐसा सोचना या बोलना भी पाप है. क्या श्रीमहाप्रभुजी लीला पधारे तो श्रीनवनीतप्रियजीका, गिरिधरजीके साथ श्रीमथुरेशजीका, बालकृष्णजीके साथ श्रीद्वारिकाधीशजीका नित्यलीलाप्रवेश हो गया? ऐसा कैसे कहा जा सकता है? कह ही नहीं सकते. जो कहते हैं वो सिद्धान्त समझते नहीं. श्रीमहाप्रभुजी श्रीगुसांईजी स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि अपने यहाँ ठाकुरजी कोई पात्रमें भरे दूधकी भांति नहीं, कि उनमें तेज भरे और रिक्त हो जाये. अपने यहाँ सिद्धान्त है "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" का. पुष्ट करनेमें केवल भावस्थापन है ; "यथा हि कन्या पतिं वृणीते". भावस्थापनमें कोई चीज आ नहीं जाती. वस्तु वो की वो है पर हम उसमें भाव स्थापित करते हैं ; स्त्रीको पत्नी बनाते हैं वैसे. और कुछ नहीं पुष्ट करनेमें. क्योंकि वे तो "आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादि" और "सर्वत्र च त्रिविधभेद-विवर्जितात्मा" हैं. आनन्दसे पूर्णमें कुछ भरनेका सवाल ही नहीं है. इसलिये कोई जीवके चले जानेसे वे चले जाये ऐसा कोई हेतु मुझे दिखता नहीं. वार्ताप्रसंग पढके देख लो. ८४-२५२ वैष्णवोंके यहाँ श्रीमहाप्रभुजी श्रीगुसांईजीने ठाकुरजी पुष्ट करके सेवामें पधराये थे ; वे कभी पधार गये ऐसा उल्लेख है? बल्कि देवा कपूरके गोलोकवासके बाद श्रीललितत्रिभंगीजी वहाँसे अन्तर्धान होकर श्रीगुसांईजीकी सेवक वैष्णवके यहाँ पधारे और सेवा ली ऐसा उल्लेख है. श्रीठाकुरजी नित्यलीलामें पधार कैसे सके ; आप तो नित्यलीलामें बिराजते हैं!

रीति ऐसी है कि जिस व्यक्तिके माथे सेवा पधरानेमें आई और उसने जो व्यवस्था और अवस्था में सेवा की वो उसकी संततिसे निभ न सके, तो वो अगडं-बगडं प्रकारसे सेवा न करे ऐसा अंकुश रखनेकेलिये गुरुघरसे आज्ञा ले आनी चाहिये, कि मेरी परिस्थिति ऐसी है और मेरे पिताजीके समयसे हमारे यहाँ सेवामें चलता आया क्रम ऐसा है तो मैं किस प्रकार करुँ और किस प्रकार न करुँ? क्योंकि "सेवाकृतिः गुरोराज्ञा". पर इसका अतिरेक करना कि ठाकुरजी नित्यलीलामें पधार जाये, तेज चला जाये! ये तो हदसे बाहरकी बात है.

प्र. ५१ वैष्णवके गोलोकवासके बाद कोई सेवा करनेवाला न हो तो क्या करना?

उ. ५१ उत्तम कल्प तो यह है कि गुरुकी आज्ञा लेकर कोई वैष्णव ठाकुरजीको पधराकर जितनी बन सके उतनी सेवा करे. हो सके तो गुरुके यहाँ ठाकुरजी पाछे न पधराने, क्योंकि हमारे यहाँ वे ठाकुरजी ग्वालमण्डलीमें बिराजेंगे. ग्वालमण्डलीकी सेवा होती नहीं. कोकरच घुमे या स्वरूप पित्तलके भावमें बिक जाये उससे बेहतर है कि हो सके उतनी सेवा तुम करो तो ठाकुरजीका सुख और मार्गका सिद्धान्त निभे. हमारी भी लाचारी है ; एक साथ १००-२०० ठाकुरजीकी सेवामें कैसे पहुँच सकते हैं? ठाकुरजीकी भी लाचारी है कि कोई भक्त नहीं. भक्त-भगवान Relative terms हैं, जैसे चाचा-भतीजा. कोई भतीजा हो तो आदमीको चाचा कहा जा सकता है. तो भगवानको भक्त मिले और आपसी सम्बन्ध निभे ये उचित है.

प्र. ५२ भगवत्सेवा करना संभव न हो/रहे तो क्या करें?

उ. ५२ यदि आप चाहो तो इतना सेवा-प्रकार घरमें भी निभा सकते हो. ऐसी बात नहीं कि यह न निभ सके. इच्छा ही न हो तो अलग बात है. पर न चाहो तो ब्रह्मसम्बन्ध लेना नहीं चाहिये ; अष्टाक्षर लेना ही पर्याप्त है.

श्रीमहाप्रभुजीने पुष्टिमार्गके भीतर इसीलिये दो प्रकारके मार्ग प्रचलित किये हैं ; एक भक्तिमार्ग और दूसरा प्रपत्तिमार्ग. यदि हम वार्ताओंका

अध्ययन करेंगे तो इसका उल्लेख मिलेगा कि कोई - कोई भगवदीय वैष्णवोंको महाप्रभुजी कहते थे "तोसों भगवत्सेवा नहीं निभेगी, नामश्रवण करावत हूँ". किसीको ऐसा कहते थे "जाओ, यमुनाजीमें स्नान करि आओ" और आत्मनिवेदनकी दीक्षा देते थे. जिनसे भगवत्सेवा निभे उनको तो आत्मनिवेदनकी दीक्षा देनेका क्रम है और जिनसे भगवत्सेवा निभती न हो उनकेलिये अष्टाक्षरमन्त्रका क्रम है. उनकेलिये प्रपत्तिमार्ग माना गया है. भक्तिमार्ग और शरणागतिमार्ग का मूल जो भेद है वह यही है कि हम अपने घरमें भगवत्सेवा नहीं कर सकते हो तो ब्रह्मसम्बन्ध लेना आवश्यक नहीं किन्तु अष्टाक्षरमन्त्रद्वारा विवेक-धैर्य-आश्रयको जागृत रखकर भी पुष्टिमार्गमें रह सकते हैं. यह क्रम और इस सावधानीसे यदि हम बरतेंगे तो आजके युगमें ऐसी कोई बात नहीं कि पुष्टिमार्गमें महाप्रभुजीके अनुसरणमें हमें किसी प्रकारकी कठिनाई अनुभूत हो.

मैं ऐसा समझता हूँ कि मैंने भूमिका इसलिये बांधी कि यह बातको सुनकर यदि आपके हृदयमें कोई दुविधा सेवा करनेके सम्बन्धमें हो तो आप मुझसे पूछो. मैं हृदयसे यह बात चाहता हूँ कि आपकी परेशानीओंका निराकरण हो. सिद्धान्त तो पचास बार कह चुके हैं और पचास बार सुन भी चुके हैं. किन्तु मैं इस बातको बहुत ज्यादा माननेवाला हूँ कि पचास बार सिद्धान्तको सुननेके बजाय एकबार भी आचरणमें लाये तो बहुत अच्छी बात है. "कियो सो काम, भज्यो सो राम". इसलिये आपको कोई जिज्ञासा सेवामार्गसम्बन्धी हो तो आप अवश्य मुझे पूछो. अथवा अन्य कोई सिद्धान्तसम्बन्धी जिज्ञासा हो तो भी अवश्य पूछें.

प्र. ५३ श्रीमद्भागवतसप्ताह नहीं करनी चाहिये, पर जो बाँचते हो उनसे सुनना हो तो किनसे सुनना? और सुनके उनको कुछ न देना?

उ. ५३ एक बात बताऊँ कि श्रीमहाप्रभुजी भागवतको श्रीनाथजीका साक्षात्स्वरूप समझते हैं. इसलिये भागवतके हरेक स्कन्धकी श्रीनाथजीके चरण, जानु, कटि, श्रीहस्त, वक्ष, मुख, श्रीमस्तकके साथ तुलना श्रीमहाप्रभुजीने की है. महाप्रभुजीको ऐसा दृढ भाव है! इसलिये आपश्री आज्ञा करते हैं कि भागवतका वृत्त्यर्थ विनियोग नहीं करना चाहिये, कयोंकि ये साक्षात्

भगवत्स्वरूप है.

ये बात समझो, कि यह निषेध शास्त्रीय निषेध नहीं है. शास्त्रमें स्पष्ट ऐसे कहा है कि भागवतके कथाकारको बुलाने, उन्हें सुवर्ण वस्त्र धन-धान्य आदि दक्षिणा देकर सन्तुष्ट करना. तो शास्त्रमें भागवतकथाका स्पष्ट विधान है और तदनुसार कोई गैरपुष्टिमार्गीय कथाकार वृत्त्यर्थ भागवतकथा करता हो तो उसमें कोई शास्त्रीय दोष नहीं है ; शास्त्रानुमोदित बात है. और जो लोग करते हैं वे अपने आपमें सच्चे हैं ; करनी चाहिये.

यहाँ शास्त्रका प्रश्न नहीं है, पुष्टिमार्गका प्रश्न है. क्योंकि महाप्रभुजीने भागवतमें श्रीनाथजीका भाव रखा है इसलिये आप ऐसा कहते हैं कि भागवतको कभी भी चंदा इकठ्ठा करनेकेलिये न कहना.

अब सुनना किससे? तो आज तो भागवतके अनेक अनुवाद उपलब्ध हैं– यमुनावल्लभशास्त्रीजी कृत, पाटणसे छपा, उमरेठसे छपा, जोधपुरसे छपा हुआ, ऐसे अनेक अनुवाद उपलब्ध हैं. तो ऐसी बात नहीं कि तुम्हें संस्कृत न आती हो तो भागवतका स्वाध्याय करनेमें कोई तकलीफ हो. हरेक भाषा, अंग्रेजीमें भी आज भागवत उपलब्ध है. पर बात यह है कि भागवत हरेककेलिये नहीं है. भागवत आज जितनी नहीं होनी चाहिये उतनी अधिक लोकप्रिय हो गई है.

प्र. ५४ पुष्टिमार्गियोंको पुष्टिमार्गेतर विद्वानोंके प्रवचनसे लाभान्वित होना चाहिये या नहीं?

उ. ५४ मनुष्यके जीवनमें सद्-असद्-विवेकका बहुत ही महत्त्व है. सद्-असद्-विवेकके बिना मनुष्यसमाज और जानवरोंके समूहमें भेद नहीं किया जा सकता.

नास्तिक लोग सद्-असद्-विवेक अपनी मति अनुसार करनेका आग्रह रखते हैं, जबकि आस्तिक जन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शास्त्रों और स्वाचार्यकी आज्ञाको अनुसरनेमें ही सच्चा सद्-असद्-विवेक मानते हैं. भगवान भी गीताजीमें कहते हैं "तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ, ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इहार्हसि।" अर्थ- क्या करना या क्या न करना यह जाननेका उपाय केवल शास्त्र ही है. इसलिये अच्छी तरहसे शास्त्रीय विधि-विधान समझकर ही तदनुसार अपना कर्तव्य निर्धारित

करें.

अपने जीवनमें व्यवहारकी तीन श्रेणी दिखती है: १. उत्तम, २. मध्यम, ३. अधम.

१. सच्चे या सद्लक्ष्यको पानेकेलिये सन्मार्गपर चलना उसे उत्तम कक्षाका जीवनव्यवहार गिन सकते हैं.

२. मध्यम कक्षाके जीवनव्यवहारके दो भेद होते हैं– क. सद्लक्ष्य प्राप्त करनेकेलिये असन्मार्गका भी आश्रय लेना या ख. सन्मार्गका उपयोग असद्लक्ष्यको पानेकेलिये करना. ऐसे ये दो प्रकार मध्यम कक्षामें देखनेमें आते हैं.

३. अधम कक्षाका जीवनव्यवहार असद्लक्ष्य तक पहुँचनेकेलिये असन्मार्गके अवलम्बनमें रहा हुआ है.

मध्यम कक्षाके व्यवहारमें प्राय: सभी मनुष्य अपनी सहज दुर्बलताके कारण कभी असद्लक्ष्य और कभी असन्मार्गको अपनाते दिखाई देते हैं. इसमें नया कुछ भी नहीं ; मनुष्यका स्वभाव ही इसमें हेतु होता है. भगवानने राजस गुणके प्राबल्यवाले ऐसे मनुष्योंकी "मध्ये तिष्ठति राजस:" रूपमें गीतामें प्रशंसा की है.

गीताजीमें भगवान कहते हैं "लोभ: प्रवृत्ति: आरम्भ: कर्मणाम् अशम: स्पृहा, रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ:।" अर्थ– केवल यशलोभसे या धनलोभसे ही सब कार्योंका प्रारम्भ करनेवालोंकी वैसी स्पृहा या कामना कभी भी सन्तुष्ट होती ही नहीं. हे अर्जुन! रजोगुण बढनेसे ऐसे लक्षण प्रकट होते ही हैं.

आदमीमें रहा हुआ यह लोभ ही उसके द्वारा असद्लक्ष्य या असन्मार्गके चुने जानेमें हेतु बन जाता है. असन्मार्गद्वारा सच्चे लक्ष्यको प्राप्त करनेकी रजोगुणप्रवृत्ति आत्मकल्याणकेलिये कभी-कभाक या शायद सहायक हो सकती है. फिर भी जनकल्याण करनेकेलिये असन्मार्गपर चलनेसे जनतामें अयुक्त या जूठे मिसाल ही स्थापित होंगे. इसलिये पुष्टिमार्गेतर विद्वानोंके धार्मिक प्रवचन या कथा से पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंको लाभान्वित होना या नहीं यह गंभीर विचार मांग लेता है.

जो पे वल्लभचरण गहे!
तू मन करत वृथा क्यों चिंता हरि हिय आय रहे॥१॥

जन्म - जन्मके कोटिक पातक छिनही मांझ दहे।
साधन कर साधो जिन कोउ सब सुध सुगम लहे॥२॥
कोटि - कोटि अपराध क्षमाकर सदा नेह निबहे।
अब सन्देह करो जिन कोऊ करुणासिंधु लहे॥३॥
अब लों बिन सेवे श्रीवल्लभ भवदुःख बहोत सहे।
'रसिक' महानिधि पाय और फल मनवचक्रम न चहे॥४॥

प्र. ५५ प्रभुके मुखारविन्दको मुखकमल कहा जाता है तो वो शीतलता न देकर ताप क्यों देता है?

उ. ५५ जो तापक है वो शीतल है और शीतल है वही तापक ऋतुभेदसे हो सकता है ये रसिकको ही समझमें आ सकता है. "अनुभव बिना अनुभव कहा जानिये, जाको पिया चित्त नहीं चोरे. प्रेमसिंधुको मर्म जान्यो नहीं सूर कहे कहा भयो देह बोरे". कमल तापक है या शामक ये तुम किस ऋतुमें जी रहे हो उसपे निर्भर है. विप्रयोगकी ऋतुमें जीते हो तो चन्द्रकी चांदनी तापक हो जाती है और संयोगकी ऋतुमें जीते हो तो चन्द्रकी चांदनी शामक हो जाती है. तुम्हें निर्णय करना है कि तुम किस ऋतुमें जी रहे हो. परन्तु "अनुभव बिना अनुभव कहा जानिये". तो यदि तुम्हें कोई भी ऋतुका अनुभव न होता हो तो ये चिंता करना ही मत. क्योंकि तुम्हें कमल न तो तापक लगेगा न ही शामक. कमल तुम्हें गुलाबी पंखुडियोंका समूह लगेगा जो खिलता है और मुरझाता है. वो कमल तुम्हारे लिये नहीं. पर तुम कोई ऋतुमें जीते हो तो तापका भी आनन्द मिलेगा और क्लेशका भी आनन्द मिलेगा ; क्लेशमें भी आनन्द मिलेगा और आनन्दमें भी क्लेश मिलेगा. सब मिल सकता है. ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र याद करो, कि अपने यहाँ सिर्फ तापकी दीक्षा नहीं, सिर्फ आनन्दकी दीक्षा नहीं ; तापमें आनन्द और आनन्दमें तापके अनुभवकी दीक्षा है. मुखारविन्दमें विप्रयोग और विप्रयोगमें मुखारविन्दकी भावनाकी अपने यहाँ दीक्षा है. वो तो ब्रह्मसम्बन्ध हो तो पता चले. वर्ना "अनुभव बिना अनुभव कहा जानिये".

प्र. ५६ पुष्टिजीवको नित्य क्या करना चाहिये जिससे प्रभुका वियोगानुभव हो?

उ. ५६ एक गर्भवती स्त्रीने माँसे कहा "जब संतति हो तब मुझे जगा देना". माँने कहा "तब मुझे जगानेकी जरूरत नहीं पडेगी ; तू ही सबको जगायेगी." तो कुछ करनेसे वियोगानुभव हो तो वो वियोगानुभव नहीं है. और कुछ न करते भी वियोगानुभव होता रहता हो और क्या करना ये पता न चलता हो तो वियोगानुभव है.

प्र. ५७ सूतक आदि स्थितिमें श्रीयमुनाष्टकका पाठ हो सकता है या नहीं? रजस्वला बहनें जपपाठ कर सकती हैं या नहीं?

उ. ५७ नहीं ; नहीं हो सकता. अष्टाक्षरके सिवा सूतक आदिमें और कुछ नहीं हो सकता. आजकल तो लोग ऐसा करते हैं कि मृत व्यक्तिके पीछे शामको यमुनाष्टक बोलते होते हैं! यह पद्धति अपने यहाँकी नहीं है.

प्र. ५८ "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" में सर्वधर्मकी जो बात कही है, वह कौनसे धर्मका त्याग बताया गया है?

उ. ५८ भक्तिपर्यन्त सभी धर्म. कर्म, ज्ञान, भक्तिपर्यन्त सभी धर्मोंका त्याग करके शरणमें आओ. उसमें वर्णाश्रमधर्म ही केवल नहीं ले सकेंगे. वर्णाश्रमके आचार, धर्म, कर्म, ज्ञान, भक्तिरूपी धर्म... सभी जो कोई भी धर्म हैं उनका त्याग करते-करते शरणमें आओ. यह प्रपत्तिमार्गका उपदेश है.

प्रपत्तिमार्गका सीधा सादा अर्थ यह है कि जीव अपनी अहन्तासे कोई भी धर्मका अवलम्बन न करके सीधा प्रभुका अवलम्बन करे. जैसे कि प्रभुचरणने कहा है, अर्जुन मर्यादापुष्टि भक्त था. उसकेलिये भी सब धर्मोंका त्याग आवश्यक था.

यों तो प्रपत्तिका उपदेश है. पर भक्तिमार्गीय टीकाकार तो उसका यही अर्थ लेता है कि आत्मधर्मके विरोधी धर्मोंका त्याग. धर्मशास्त्रमें धर्म बताये हैं वे सब देह, इन्द्रियकी शुद्धिकेलिये हैं ; आत्मधर्म एक अलग चीज है. तो आत्मधर्मका अवलम्बन जब कोई करता है तो

उसकेलिये अन्य धर्मका त्याग आवश्यक है. तो उस स्थितिमें ज्ञान जो है वो देह, इन्द्रियादिकी शुद्धिकेलिये नहीं ; वह आत्मधर्म है. आत्मधर्मका त्याग नहीं ; वो तो ज्ञानका परिपाक है. यह बात सेवाकेलिये भी आयेगी. सेवाका जो परिपाक है मानसी, उसकेलिये यह बात लागू होगी. साधनरूपा जो सेवा है उसका तो वहाँ भी त्याग प्राप्त होता है. न्याय तो समान ही रहेगा न?

इसमें समझनेकी बात यह है कि प्रपत्तिका जो मार्ग है वह अलग नहीं है. पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा जो श्रीआचार्यचरणको कहे हैं वो इसी अर्थमें कहे हैं कि जो शरणमार्ग है उसमें कोई भी जीवकी कृतिसे साध्य ऐसे कोई मार्गका उपदेश नहीं है. केवल षड्विधा शरणागति बताई है. "अनुकूलस्य सङ्कल्पः प्रतिकूलविसर्जनम्। रक्षिष्यति इति विश्वासः भोक्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनैवेद्य-कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।" यह जो शरणागतिके षड्विध धर्म हैं, अथवा विवेकधैर्याश्रयमें जो आपके बताये धर्म हैं उनके अलावा भक्तिपर्यन्त सभी धर्मोंका त्याग वहाँ बताया है. वह जो धर्मत्याग है उससे हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि शुद्धपुष्टिभक्तको सभी धर्मोंका त्याग करना पडेगा, क्योंकि उस अर्थमें सभी धर्मोंका त्याग करे तो पुष्टिभक्तिका भी त्याग करना पडेगा!

वह प्रपत्तिमार्गका उपदेश है ; भक्तिमार्गका उपदेश ही नहीं है. जीव अपने प्रयत्नसे जो भी कुछ सिद्ध कर सकता है वह सब छोडकर प्रभुके शरणको प्राप्त हो.

प्रपत्तिका अन्तर्भाव भक्तिमार्गमें है? प्रपत्तिका अन्तर्भाव भक्तिमार्गमें है भी और नहीं भी. जिस जीवमें प्रपन्न होकर भक्ति करनेका सामर्थ्य है उस जीवकेलिये प्रपत्तिमार्ग भक्तिमार्गके अन्तर्गत है. जिस जीवमें भक्तिका सामर्थ्य नहीं होता वो केवल प्रपत्तिमार्गसे भी प्रभुके पास पहुँच सकता है. इस बातका निरूपण श्रीआचार्यचरणने सर्वनिर्णयमें किया है. जो केवल प्रपत्तिमार्गसे भी आगे बढे हैं उनको प्रभुप्राप्ति "कृष्ण एव गतिर्मम" यही है.

षोडशग्रन्थके अन्तर्गत जो भी कुछ उपदेश है वो सेवांगभूत उपदेश है अथवा सेवाका अनुकल्प उपदेश है. अंग और अनुकल्प का अन्तर कितना है? ज्यों शरणागति सेवाका अंग भी बन सकती है और सेवा

न निभती हो तो उसका अनुकल्प भी. यदि सेवा न निभ पाती हो तो उसकेलिये शरणागति सेवाका अनुकल्प, यदि सेवा निभती हो तो उसकेलिये शरणागति सेवाका अंग है.

षोडशग्रन्थमें बालबोधका एक भी वाक्य महाप्रभुजीका, पुष्टिमार्गीय तो छोडो, स्वसिद्धान्तके उपदेशार्थ भी नहीं है, जैसा कि लोग समझते हैं. इसलिये बालबोधके वचन परसिद्धान्तको समझनेकेलिये कहे हैं ; ''सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् वदामि सुविनिश्चितम्।'' और सिद्धान्तमुक्तावली है उसमें ''स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्।''. स्वसिद्धान्त सिद्धान्तमुक्तावलीमें कहा है और सर्वसिद्धान्त बालबोधमें बताया है. किन्तु तब भी उसमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि सर्वसिद्धान्त जो बताया है वह भी सेवाके अंगरूप ही है. उसमें भी ''तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्'' यह शिव और विष्णुकेलिये कही गई बात है. यदि कोई शिवभक्त हो तो उसे शिवकी भक्ति किस प्रकार करनी चाहिये? ''तदाश्रय'' शिवकी प्रपत्तिसे, ''तदीयत्व'' शिवकी भक्तिसे सचमुच शिवका अनन्याश्रय करके. वस्तुतः ही शिवमें अनन्यासक्ति सम्पादन करके और ''स्वधर्मम् अनुतिष्ठन्वै'' वर्णाश्रमधर्मको निभाते हुए करो, नहीं तो फँस जाओगे. इसी प्रकार तुम विष्णुभक्त हो तो तदाश्रय अर्थात् विष्णुका आश्रय. विष्णुके अनन्याश्रयसे तदीयत्व अर्थात् विष्णुमें अनन्यासक्ति रखनेवाले बनो + ''स्वधर्मम् अनुतिष्ठन्वै।''. जितनी बार 'तदाश्रय' और 'तदीयता' शब्द आते हैं वे शिव और विष्णुपरक ही हैं ; बालबोधमें अपने कृष्णके बारेमें कुछ भी कहा नहीं गया है. क्योंकि वहाँ महाप्रभुजीने *जनरल पोलिसी* (सामान्य नीति) समझाई है, कि तुम्हें पराश्रित मोक्षकी यदि प्राप्ति करनी हो तो यह General policy है तदाश्रय + तदीयत्व.

अब इसे पुष्टिमार्गपर घटाते हैं सिद्धान्तमुक्तावलीमें. यदि तुम्हें कृष्णकी भक्ति करनी हो तो तदाश्रय = कृष्णाश्रयोक्त ''कृष्ण एव गतिर्मम'' और चतुःश्लोकीका ''मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्।''. तथा कृष्णके प्रति तदीयता चतुःश्लोकीमें ''यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मता हृदि। ततः किम् अपरं ब्रूहि लौकिकैः वैदिकैः अपि॥'' द्वारा बताई गई है.

यह कृष्णाश्रय और कृष्णासक्ति भी वर्णाश्रमधर्मको यथाशक्ति निभाते हुए करनी है यह ''स्वधर्मम् अनुतिष्ठन्वै भारद्वैगुण्यम् अन्यथा।'' के बालबोधवाले

न्यायसे सिद्ध होता है. "भारद्वैगुण्यम् अन्यथा" याने क्या? इसमें दो प्रकारका भार हो जायेगा. अर्थात् साधनावस्थामें तदाश्रय और तदीयत्व बराबर निभा नहीं पाओगे और वर्णाश्रमधर्म भी छोड दोगे तो "लेने गई पूत, खो आई खसम" जैसी बात हो जायेगी. इसलिये तदाश्रयत्व और तदीयत्व व्यसनकक्षामें नहीं पहुँच जाये तब तक वर्णाश्रमधर्म नहीं छूट सकता. यह policy (नीति) आचार्यचरणने कृष्णभक्तिमें भी कही है. षोडशग्रन्थमें सर्वत्र "बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागात् श्रवणकीर्तनात्, बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः" में स्वधर्मतः = वर्णाश्रमधर्मतः गृहे स्थित्वा अव्यावृतः सन् कृष्णं भजेत् में यही 'भारद्वैगुण्यम् अन्यथा' policy की आचार्यचरणने भूमिका बांध दी है. सिद्धान्तमुक्तावलीमें "कृष्णसेवा सदा कार्या" यहाँसे श्रीमहाप्रभुजीने स्वसिद्धान्त बताये हैं, परन्तु policy तो वही कायम है.

अर्थात् आचार्यचरणके पास यदि कोई शैव जाये तो आचार्यचरण ऐसा नहीं कहेंगे कि तू विष्णुको भज. आचार्यचरण ऐसा कहेंगे कि यदि तू शिवका भक्त है तो सचमुच उतनी सच्चाईसे तू शिवको भज. अर्थात् उतनी सच्चाईसे तेरेमें तदाश्रय अर्थात् शिवाश्रय और शिवकी तदीयता = अनन्यता अनन्यासक्ति शिवकी आये. और "स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै". कोई विष्णुका भक्त महाप्रभुजीके पास आये तो उसे आप ऐसा नहीं कहेंगे कि तू कृष्णको भज. उसे ऐसा कहेंगे कि तू विष्णुका आश्रित बन, विष्णुका अनन्यभक्त बन और स्वधर्मका पालन कर. ऐसे ही यदि जिसमें पुष्टिभक्तिका बीजभाव हो वह आचार्यचरणके पास आये तो उसे आचार्यचरण कहेंगे कि तू सारे लफडे छोडकर कृष्णको भज.

गीतामें कहा हुआ और महाप्रभुजीने बताया हुआ शरणमार्ग एक ही है. शरणमार्ग और कर्म / ज्ञान / भक्तिमार्गमें एक मूलभूत अन्तर यह है कि ये तीनमें भगवान अपनी ओर और अपन भगवानकी ओर जाते हैं ; आमने-सामने मुलाकात होती है. शरणमार्गमें साधक बैठा है विश्वास रखकर कि मैं बैठा हूँ. तुझे जब आना हो तब आ जाना ; मैं यहाँ तेरी राह देख रहा हूँ. जिनमें इन्तजार करनेका धैर्य है उनकेलिये शरणमार्ग है और जिन्हें चलनेकी आतुरता है उनकेलिये कर्म / ज्ञान / भक्तिमार्ग है. एक सूफीने बहुत सुन्दर कहा है– "यदि थोडी भी वफा उसमें

होगी तो वो स्वयं आ जायेगा''!

और सचमुच तो जिसके आनेपे उत्सव हो उसे आना चाहिये. मैं वहाँ वैकुण्ठमें जाऊँ तो यहाँ सब जोरजोरसे रोयेंगे ; कोई उत्सव नहीं मनायेगा. और सर्वानुमतिसे शोकप्रस्ताव पसार कर देंगे कि प.भ. श्रीफलानेभाईका वैकुण्ठवास हुआ उसका सर्वानुमतिसे शोकप्रस्ताव पसार हुआ है! अरे उसका तो आनन्दप्रस्ताव होना चाहिये या शोकप्रस्ताव? उसका फायदा क्या?

तो साधक जमके बैठ जाता है, कि तू ही यहाँ आ जा न. तेरे यहाँ आनेसे वैकुण्ठमें कोई शोकप्रस्ताव पसार नहीं करेगा. और मैं आऊंगा तो बेकारमें तेरे वैकुण्ठकी बदनामी होगी. जल्दबाजी / धांधली क्या है? धीरज रखो ; उसे इच्छा होगी तब आ जायेगा – ये शरणमार्ग है.

प्र. ५९ भगवान गीतामें कहते हैं कि सर्वधर्म छोडकर एक मेरे ही शरणमें आओ, तो उन्होंने दूसरे धर्म क्यों स्थापित किये?

उ. ५९ गीता तो अपनी भारतीय संस्कृतिके उत्कर्षका ग्रन्थ है. पर भारतीय संस्कृतिकी यह विशिष्टता है कि अपनने कभी भी विविधताकी निन्दा नहीं की थी. आज लोगोंमें दो अतिवाद चल रहे हैं: १. मेरा धर्म सर्वश्रेष्ठ, सबसे अच्छा, सबको अनुसरने लायक है. २. सभी धर्मोंके भेद मिथ्या है. मुझे लगता है कि ऐसे अतिवादी विचार ही मिथ्या है. अपनी यहाँकी प्रणाली ये थी ही नहीं. मैं यों कहूँ कि मुझे सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान मानो और न मानो तो सभी बुद्धिमानोके भेद मिथ्या, मतलब सब मूर्ख जैसे! बात फिर वहाँकी वहाँ! सिक्का चाहे कैसे भी गिरे, परिणाम मेरे पक्षमें! भेद मिथ्या है ये अपनी प्राचीन भारतीय पद्धति नहीं थी.

आज सब कहते हैं कि वाडाबंदी तोड दो. अरे भाई हरेक व्यक्तिको अपने सिद्धान्तमें इतना मशगुल हो जाना चाहिये कि उसे दूसरेसे द्वेष करनेका, झघडनेका वक्त ही न रहे. वक्त उसे ही मिलता है जो अपने धर्ममें मशगुल नहीं हो सकता. अपनी थालीमें परोसे हुएका स्वाद जो नहीं ले पाता वो ही दूसरेकी थालीकी जाँच-पडताल

करता है. जिसे स्वादिष्ट खाना परोसा गया हो वो क्यों पंचायत करेगा? ऐसे वाडाबंदी तोडनेसे नहीं चलेगा. तुमने धंदेके भेद बंद किये? राजनीतिकी पार्टियाँ, जो धर्मको अपने भेद मिटानेको कहती हैं, वे अपने पार्टियोंके भेद ही नहीं मिटा पाती! उनके झघडोंकी तो सीमा ही नहीं. कलह धर्मके कारण नहीं होते, काले सिरवाले मानवद्वारा किये गये करतूतोंके कारण होते हैं. तुम कितने भेद मिटाओगे? दुकानके, मकानके, जातिके? कितने मिटा पाओगे? धर्मके भेद मिटाने हैं क्योंकि भीतरमें अपने धर्ममें हमें सच्चा लगाव नहीं है. पर धर्म छोड दोगे तो कलह मिट नहीं जायेंगें ; दूसरे नामसे होगे. हमने पुरानी जातियाँ मिटा दी तो पूंजीवादी, समाजवादी, लोकशाहीवादी, मजदूर, मालिक जैसी नयी जातियाँ पैदा हो गई! कलह मिटेंगे तुम्हारे चित्तकी धार्मिकवृत्तिसे ; धर्मके भेद मिटानेसे नहीं. मैं कहता हूँ कि सभी धर्म कायम रहने चाहिये.

मैं छोटा था तब एक दिन मुझे हुआ कि सब इत्र एक बोतलमें मिला दे तो क्या मालूम कितनी सुगन्ध आयेगी! मैंने एक बडी बोतलमें सब इत्र मिलाये. फिर हिलाकर देखा तो कुछ सुगन्ध ही नहीं आती थी. तो भेद रहने चाहिये. सब सुगन्ध रहने दो ; उनके भेद मिटा मत दो. मिटाने जाओगे तो कुछ सुगन्ध ही नहीं रहेगी. रंग देखो. सब रंग रहे तो रंग है, नहीं तो बेरंग हो जायेगी दुनिया. तो भेद न मिटाओ ; भेदके झघडे मिटाओ. भेद मिटनेसे झघडे नहीं मिट जायेंगें. झघडे मिटाने नहीं इसलिये भेद मिटाने दौडते हैं, पर उसमें कुछ सार नहीं है.

अपनी प्राचीन संस्कृतिकी *डीसीप्लीन* समझो. जैन वैष्णवके मन्दिरमें न आये, वैष्णव जैनके मन्दिरमें न जाये. पर कभी भी ऐसा सुना कि कोई जैनने वैष्णवका मन्दिर तोड डाला हो या वैष्णवोंने जैन मन्दिर तोड डाला हो? अपन भेद कायम रखते थे और हिलमिलकर रहते थे. आजकी पद्धति ऐसे खोटे भावसे पनपी कि मेरा ही धर्म सच्चा, बाकी सब धर्म खोटे. इस कारणसे तोडनेकी वृत्ति होती है, कि दूसरोंके धर्मस्थान तोड डालो. यह वृत्ति खोटी है. सभी धर्मस्थानोंको रहने दो, क्योंकि यदि परमात्मा व्यापक है और उसके अनन्त रूप हैं तो फिर कौनसा धर्मानुयायी या आराध्य देव ऐसा होगा जो परमात्माने धारण

किया हुआ रूप न हो? तोडनेका भाव मनसे निकाल दो. बुद्धिप्रेरक परमात्मा ही है. "बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु।" भगवानने भी गीतामें कहा है कि ज्ञान और ज्ञानका अपोहन मैं ही करता हूँ "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च".

पंखेके फिरने, रेडियोके बोलने और लाईटके झलकनेके पीछे क्रियाशक्ति बिजलीकी है. बिजली ही पंखेमें गति, लाईटमें प्रकाश, रेडियोंमें ध्वनि बन जाती है. वैसे ही परमात्मा बिजलीसे कँई गुना सामर्थ्यवान है, अनन्त रूप ले सकता है. तो भेद मिटानेके झघडेमें पडो मत. आपसी वैरभाव या प्रतिस्पर्धाका भाव, कि मैं दूसरोंको खत्म कर दूँ और पूरी दुनिया मेरा धर्म पाले –ये मिटानेकी जरूरत है. जब सभी ब्रह्म है तो स्पर्धा करनेकी जरूरत क्या है –ये भाव कायम रहना चाहिये. अपन मस्जिद/चर्चमें न जाये, पर उसे तोड दे ये भाव अपना नहीं था.

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥" –गीता. अपना धर्म अपने लिये दूसरेके धर्मसे अच्छा है ऐसा मानकर अनुष्ठानमें लगे रहना चाहिये. तुम्हारा धर्म तुम्हारे लिये सबसे अच्छा है, पर सबकेलिये ऐसा नहीं. एक माँ अपने बेटेको सबसे सयाना कहती है तो गाँवके बाकी लडके पागल थोडे ही हैं? वो तो माँको अपने बेटेके प्रति प्यार है ; हरेककी माँ अपने बेटेको ऐसा कहकर ही सुलाती होगी. इस अर्थमें भगवान उपर्युक्त बात कहते हैं. मेरा लडका सुन्दर इस अर्थमें नहीं कि गाँवके लडके कुरूप है, पर इस अर्थमें कि मेरा बेटा कैसा भी हो, मेरे लिये सुन्दर है. यह भाव पनपाये तो हमें अपने बेटेका आनन्द भी मिले और दूसरेके प्रति स्पर्धा, द्वेष या हिंसाके भाव भी न जगे. इसीलिये श्रीगुसांईजीने तुलसीदासजीको बहुत सुन्दर बात कही, कि तुम जैसे कृष्णके पद गा सको वैसे कृष्णके पद गानेवाले मेरे पास आठ तो अभी मौजूद है. पर तुम जैसे रामके पद गाते हो वैसे गानेवाला दुनियामें कोई नहीं. इसलिये तुम रामके ही पद गाते रहो.

आज हमें होता है कि भले ही मानता हो या न मानता हो ; अपने कीर्तन तो गा रहा है न. फिर भले श्रद्धासे गाये या भ्रमणासे ;

जैसे हो वैसे अपने गीत गवावो. यह खोटी भूख क्यों बढ गई? ये स्वस्थ स्वधर्मकी भूख नहीं. हमें गुसांईजीका भाव रखना चाहिये, कि एक सच्चा रामचन्द्रजीका भक्त सचमुच रामचन्द्रजीका भक्त हो जाय, एक अल्लाहका भक्त सचमुच एकनिष्ठ अल्लाहका भक्त हो जाये, शिवजीका भक्त शिवजीका एकनिष्ठ भक्त हो जाये. तो हम भी कहेंगे "प्राकृता सकला देवा गणितानन्दकं बृहत्। पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम॥" मेरे लिये कृष्ण ही शरणीय हैं, और नहीं. सब अनन्यतासे अपने अपने आराध्य देवके भक्त हो जाये उसमें कायके झघडे है? मैं मेरी पत्नीको अनन्यतासे प्रेम करुँ उसमें गाँवको क्या हरकत होगी? मेरी पत्नी छोडके क्या गाँवकी पत्नीको भजूँ? उसमें वाडाबंदीका प्रश्न कहाँ आता है? पर यदि कोई पत्नी ऐसा कहे कि मेरा पति सबका पति हो जाये! तो तेरा पति मेरा पति क्यों हो यार? बालकको कहें कि तेरी माँ मेरी माँ है तो वो चिडकर बोलता है कि नहीं, मेरी माँ है. पर यह बालिशता है. बडा होकर वह समझ जाता है कि जो जिसकी माँ है वो उसकी ही माँ है ; उसमें गुस्सा होनेकी बात नहीं है. एक शिवभक्त शिवजीको नहीं तो क्या तुम्हें परमात्मा मानेगा? वो शिवजीको परमात्मा माने उसमें तुम्हें गुस्सा होनेकी बात क्या है? यह वृत्ति नहीं उसके दुष्परिणामरूप आज हमें कलह, द्वेष, हिंसाके भाव जगते हैं.

अपना मत तो "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।" का है. हरेक व्यक्ति अपने अपने धर्ममें निष्ठ रहे ये सच बात है और थी. अतः भगवानने बहुत सारे धर्म बताये, क्योंकि जिस व्यक्तिको जो धर्म जचे उसे वो अनुसरे. जिस जीवमें जिस धर्मके बीज हो उस धर्मका वो अनुसरण करेगा तो वो बीज अंकुरित होगा, खिलेगा, उसमें धर्मभावकी सौरभ फैलेगी.

एक पुष्टिमार्गीयको एक कथाकारने कहा कि अष्टाक्षर तो तीन दिन भूखे रहे तो ही जपा जा सकता है! उसने पूछा "तो क्या करना?" कथाकारने कहा "शिवाय नमः जपो". वो जपने लगा. फिर उसे दूसरा पुष्टिमार्गीय वैष्णव मिल गया. उसने कहा कि वैष्णव होके वो नहीं जपना चाहिये. दोनों मेरे पास आये. मुझसे पूछा "शिवाय

नमः जप सकते हैं?'' मैंने कहा ''शैव जप सके, पर वैष्णव जपे तो अन्याश्रय हो जाये. वैष्णवको तो अष्टाक्षर ही जपना चाहिये''. वो शिवाय नमः जपनेवाला बोला ''शिवाय नमः न जपे तो शिवजीका अनादर नहीं होगा?'' मैंने कहा ''शिवजी जैसे तैंतीस कोटि देवता हैं ; कल सुबह उठते ही एक-एकको नमन करनेका शुरू करो. और खत्म न हो तब तक भोजन मत करो, नहीं तो वे देवोंका अनादर होगा! जप सकोगे?'' तो तुम जो नाम जपते हो वो निष्ठासे जपो. पर लोगोंमें स्पर्धा जग गई है. वैष्णवको उलटे रास्ते चढाकर शिवाय नमः जपते कर देना ये धार्मिक स्पर्धाकी स्वस्थ पध्धति नहीं है. हरेक धर्मके अनुयायीकी शोभा अपने धर्मको अनुसरनेमें है – इतनी सीधी बात क्यों सबके गले नहीं उतरती?

भेद मिटते ही नहीं. भेद मिटानेवाले सब चले गये पर भेद आज तक कायम है. मेरा एक मित्र एक जैन मुनिके पास गया. मुनिने कहा ''सब भेद मिटा देने चाहिये''. वो मित्रने आकर मुझसे कहा ''तुम चलो मुनिके पास. वे कहते हैं कि सब भेद मिट जाने चाहिये.'' मैंने कहा ''मैं तो आउंगा, पर पहले वे जैन धर्मके श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, देरावासी, आदि भेद मिटा दे. फिर मैं आकर जैन-वैष्णवधर्मका भेद मिटा दूंगा''. वो मित्र फिर मुनिके पास गये. पर कैंई साल हो जाने पर भी उनके आपसी भेद मिटे नहीं और वे मुनिके पास मुझे ले जाने आये नहीं. मूलतः कलह मिटानेकी जरुरत है, भेद मिटानेकी नहीं. अतः गीतामें प्रभु अनेक धर्म बताते हैं. उसमेंका एक धर्म शरणागति है. वो सब भेदोंको मिटानेके लिये नहीं है.

प्र. ६० सामान्यतया मन्त्रोच्चारणमें हरेक मन्त्रके आगे ओमकार-प्रणव बोला जाता है, जैसे ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ नमो शिवाय, आदि. पर अपने यहाँ अष्टाक्षरमन्त्रमें वो प्रयुक्त नहीं होता. इसकी वजह क्या?
उ. ६० सबसे पहले तो ये बात समझ लेनी चाहिये की अष्टाक्षरको हम मन्त्र कहते हैं वो विवक्षाके कारण ही. वो मन्त्र नहीं है. अब यदि मन्त्र ही न हो तो उसमें ॐकारकी आवश्यक्ता नहीं है. अष्टाक्षरको मुख्य अर्थमें नहीं, गौण अर्थमें मन्त्र कहा जाता है. जैसे मानो कोई

ईसाई हमें पूछे कि तिलकायत महाराज तुम्हारे क्या हैं? तो अपन क्या जवाब देंगे? कि ईसाई धर्ममें जैसे नामदार पोप हैं वैसे हमारे पुष्टिमार्गमें तिलकायत महाराज हैं. अब तिलकायत महाराज पोप थोडे ही हैं? पर उनके यहाँ जैसे सबसे बडे धर्मगुरु पोप हैं वैसे अपने यहाँ सबसे बडे धर्मगुरु तिलकायत महाराज हैं. तो यह तुलना उसे समझानेकेलिये की गई है. वैसे ही और सम्प्रदायमें जो कुछ मन्त्र हैं वैसे अपने सम्प्रदायमें क्या है – ऐसा कोई पूछे तो हम कहते हैं "अष्टाक्षरमन्त्र है". पर तत्स्थानीय है, तद्रूप नहीं है.

तो ये बात तुम्हारी सच है कि ओमकाररहित मन्त्र नहीं होने चाहिये. पर शर्त यही है न, कि मन्त्र हो तो ओमकार होना चाहिये. अपन सिद्धान्ततः ऐसे कहते ही नहीं कि अष्टाक्षर मन्त्र है. पर दूसरे सम्प्रदायमें मन्त्र हैं तत्स्थानीय अपने यहाँ अष्टाक्षर है.

अब ओमकार क्यों नहीं ये बात हमें समझ लेनी चाहिये. "ओमकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणा पुरा। कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मात् माङ्गलिकावुभौ॥" तो ओमकार आदि अक्षर है, आदिध्वनि है. आदिध्वनि होनेके कारण ओमकार बिना कोई भी वैदिक मन्त्रका उच्चार नहीं होता. प्रायः तान्त्रिक, पौराणिक मन्त्रोंका भी ओमकार बिना उच्चारण नहीं होता. ऐसी वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक मन्त्रोंकी मर्यादा है. यह मर्यादा वहाँ निभानी होती है. जैसे अपने यहाँका एक प्राचीन नियम है कि कोई भी शुभ काम करते वक्त पहले अपन कुछ मंगलाचरण करें. गुरुवन्दन, ईशवन्दन या भगवत्स्मरण करके कुछ मंगलाचरण करें यह एक नियम है.

आजकल छूट गया, नहीं तो प्राचीनकालमें ऐसी भी पद्धति थी कि जब कोई भी गुरुको अपन वन्दन करने जायें ; जिसे अपने यहाँकी भाषामें दण्डवत् चरणस्पर्श कहते हैं, तो कान पकडकर अपना गोत्रोच्चार करते. जैसे मैं किसीको वन्दन करुँ तो मुझे "आङ्गीरस-बार्हस्पत्य-भारद्वाजेति कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत तैतिरीयशाखाध्यायी श्याममनोहरदेव शर्माहं अभिवादये" कहना चाहिये. एक *डिसीप्लीन* थी. इस प्रकार जिसे कहना न आता हो उसे लोग Uncultured असंस्कारी मानते थे. जैसे आजकल हाथ मिलाया जाता है. भिन्न-भिन्न युगमें भिन्न-भिन्न संस्कृति खडी हो जाती है.

वैसे प्राचीन संस्कृति यह थी कि अपने गोत्रका भी उच्चारण करना चाहिये ; इस कारणसे कि अपन जिस ऋषिके गोत्रके हैं उस ऋषिके प्रति अपना श्रद्धाभाव, अहोभाव था. अपन अपना नाम उन ऋषिका स्मरण किये बिना नहीं लेते थे. अपने पिताके नामका भी स्मरण करते थे. जैसे आज भी करसनदास वल्लभदास, जेठाभाई नानजीभाई. तो बापका नाम पीछे आता है वो उनके प्रति अपना अहोभाव है. वो *डिसीप्लीन* बन गया.

वैसे जो आदि मन्त्र ओमकार है उसके प्रति वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक मन्त्रोंने यह भावना निभाई कि उसका स्मरण किये बिना हम कोई भी मन्त्र बोलेगें नहीं, क्योंकि वो आदिध्वनि है.

पर इसमें एक बात समझनेकी है. जो शास्त्र ओमकारको हरेक मन्त्रके साथ बोलनेका विधान करता है वो शास्त्र स्वयं इस बातका विधान करता है कि जो अनुपनीत हो, अर्थात् जिसने यज्ञोपवित न पहना हो, वो अपने मुखसे ओमकारका उच्चारण नहीं कर सकता. आजकल सब सुधारक होनेके मोहमें कहते हैं "क्यों हमें अधिकार नहीं?" तो बोलो, आनन्दसे बोलो ; क्यों नहीं बोलना? पर ये मैंने तय नहीं किया, शास्त्र कहता है इसलिये मैंने कहा. अब किसीको ऐसा लगे कि हमारेमें क्या कमी है? तुम होस्पिटलमें घुस जाओ "क्यों हमें ऑपरेशन करनेका अधिकार नहीं? क्यों डॉक्टर ही ऑपरेशन करते हैं?" कैची चाकू लेकर तुम भी तूट पडो किसी पर! अधिकार सबको है! कोई Military cantonment area में घुस जाओ "क्यों हमें घुमनेका अधिकार नहीं?" वहाँ जाके घुमो! कोई दिन बैंकके लौकरमें घुस जाओ "क्यों हमें अधिकार नहीं?" जो करना हो वो करो. पर साम्प्रतकालीन *डिसीप्लीन* ऐसी है कि रजिस्टरमें हस्ताक्षर न करो तब तक बैंकवाले तुम्हें बैंकके लौकरमें जानेका अधिकार नहीं देते. वैसे शास्त्रकी मर्यादा है कि जिसका उपनयनसंस्कार न हुआ हो वो ओमकार नहीं बोल सकता.

श्रीमहाप्रभुजीको अष्टाक्षरका उपदेश उपनीत अनुपनीत सबकेलिये सामान्यतया देना था. इसलिये महाप्रभुजीने उसमें ओमकारका विन्यास नहीं किया. क्योंकि यदि अष्टाक्षरमें ओमकारका विन्यास किया हो तो

जिसने उपनयन न किया हो वो बोल नहीं सकता, और बोले तो शास्त्रमर्यादाका उल्लंघन हो. अपन उल्लंघनमें मानते नहीं. इसलिये अपने यहाँ अष्टाक्षरमें या ब्रह्मसम्बन्धके गद्यमन्त्रमें ओमकारका विन्यास नहीं है.

तो अष्टाक्षर अपने यहाँ किस लिये है? अपना प्रभुके प्रति शरणागतिका भाव कायिक होना चाहिये, वाचिक होना चाहिये और मानसिक भी होना चाहिये. अब कायिक तो प्रारम्भिक दशामें साधना जरा कठिन है और सचमुच तो वाचिक साधना भी कठिन है. यह मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ, पर तुम मुझे पूछो तो "तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम, वदद्भिरेव सततं स्थेयम् इत्येव मे मतिः" श्रीमहाप्रभुजीने आज्ञा की है पर कैसे रह सके? वाचिक भी अखण्ड शरणागतिका भाव साधना अतिशय प्रभुकृपासाध्य वस्तु है. पर मूल बात इसके पीछे यह है कि अखण्ड न साधो तो खण्डशः साधो ; जितना साध सको उतना तो साधो. अब कायिकरूपमें अपन ऐसे साधे कि "अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च। प्रार्थनाकार्यमात्रेपि ततोन्यत्र विवर्जयेत्॥" वाचिक अपन इस प्रकार करते हैं कि "श्रीकृष्ण शरणं मम" का जप करें. मानसिक इस प्रकार कि श्रीकृष्ण ही मेरे आश्रय हैं, और कोई मेरा आश्रय नहीं. "सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि, पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम." देश, काल, कर्म, कर्ता, मन्त्र, तीर्थ आदि किसीमें मेरा आश्रयभाव नहीं ; केवल कृष्णमें ही मुझे अखण्ड आश्रयका भाव है –ऐसी हृदयमें निरन्तर भावना करनी यह मानसिक रूपसे आश्रय साधना है. और इस भावसे विपरीत अपना कोई भी कायिक व्यवहार न हो जाये यह सावधानी भी जितने अंशमें हो सके उतने अंशमें बरतनी ही चाहिये. इस कार्यक्रमके अन्तर्गत अपन अष्टाक्षरकी माला फेरते हैं, पाठ करते हैं. हरिरायजीने बताया है "सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वतः। पापपीनस्य दीनस्य श्रीकृष्णः शरणं मम॥" इस प्रकार यह कोई करमालाका ही प्रश्न नहीं है ; तुम श्वासोच्छ्वासमें इसे साध लो तो साँसकी तरह यह निरन्तर चलता रहेगा. तो जितना जीवनमें बुना जाये उतनी उत्तम बात है. यह भाव जीवनमें बुन जाना चाहिये, कि श्रीकृष्ण ही मेरा आश्रय है और उनके अलावा कोई मेरा आश्रय नहीं. इस

वजहसे हम अष्टाक्षर बोलते हैं ; मन्त्र है इसलिये नहीं बोलते. अपने यहाँ मन्त्र, तन्त्र जो कुछ है वो सब यही है कि श्रीकृष्णः शरणं मम। इस अर्थमें अपन उसे मन्त्र कहते हैं. मन्त्रका जो मुख्य अर्थ है उस अर्थमें वो मन्त्र नहीं है.

प्र. ६१ सर्वोत्तमस्तोत्रके पाठका एक-एक अक्षर अधरामृतरूप है, तो जीवको उसकी अनुभूति क्यों नहीं होती?

उ. ६१ यह तो बहुत जोरदार प्रश्न है! ऐसा है कि एक-एक अक्षर अधरामृत है, पर किसकेलिये –यह समझना चाहिये. जिसे स्वाद लेना आता हो उसकेलिये. जिसे स्वाद लेना न आता हो उसकेलिये अधरामृत नहीं है. प्रभुकी हरेक बात रसमय है, पर जो मज़ा ले सके उसके ही लिये.

ठाकुरजी कंसके दरबारमें पधारे तबके वर्णनमें आता है– "मल्लानाम् अशनिः नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्, गोपानां स्वजनो असतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रो शिशुः। मृत्यु र्भोजपतेः विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥" कहनेका मुद्दा यह कि ठाकुरजी कोई दस नहीं पधारे थे ; एक ही पधारे. गोपोंको स्वजन लगे उसमें महाप्रभुजी कहते हैं कि हास्यरस प्रकट हुआ, कि जो छटासे वहाँ मंचपे ठाकुरजी पधारे वैसी छटासे तो उन्होंने आज तक देखे नहीं थे. उन्होंने तो वृन्दावनमें गैया चराते देखे थे. इसलिये गोपबालकोंको हँसी आई कि कल तक गैया चराता था और आज देखो कैसे जा रहा है! तो महाप्रभुजी कहते हैं हास्यरस प्रकट हुआ, प्रभुकी हास्यरसात्मकता प्रकट हुई. प्रभुपे हम हँस भी सकते हैं ; शर्त है "स्वजनः" एक बार उसे स्वजन मानो. स्वजन मानकर हँसोगे तो कुछ हरकत नहीं. उसे भी मजा आयेगा कि मेरे मित्र मुझपर हँस रहे हैं. शर्त एक ही है कि इतनी स्वजनता हो कि तू मेरा है. ये भाव साधो फिर हँसोगे तो वो सहन कर लेगा, नहीं तो परमात्मापे हँसनेकी हिम्मत मत करना. प्रभुके बारेमें तुम्हें मल्लोंके कारण वसुदेव-देवकीकी तरह सकरुण होनेका अधिकार तब मिलेगा कि जब तुम्हें वैसा वात्सल्य हो. तो तुम प्रभुकी चिन्ता कर सकते हो. नहीं तो वैसा अधिकार

नहीं.

अर्थात् प्रभु तो एक हैं, पर जैसा तुम्हारा भाव हो तदनुसार तुम्हें दर्शन दे सकते हैं. चीज एक ही है पर तुम्हारे भावानुसार तुम उसका अनुभव कर सकते हो. तो सर्वोत्तमस्तोत्रका अक्षर - अक्षर अधरामृतरूप है, पर तब कि जब तुम्हारे हृदयमें वैसा भाव हो. अमृतपान करनेका तुम्हारा भाव हो तो अधरामृत है. नहीं तो सर्वोत्तमस्तोत्रका पाठ करते नींद भी आ जाये ; "मण्डलीमें अद्भुत निद्रा आई". "जीवाः स्वभावतो दुष्टाः". इसलिये साक्षात् अधरामृतरूप है उतनी भक्ति हो उसकेलिये. प्रभुमें सब रस हैं. तुम उपेक्षा करो तो शांत, वात्सल्य रखो तो करुणा, स्वजनता रखो तो प्रभुमें हास्यरस भी है. प्रभुमें प्रत्येक रस है. वैसे सर्वोत्तमस्तोत्रमें भी हरेक रस है, पर तुम्हारे हृदयके भावकी मुख्यता है.

प्र. ६२ श्रीप्रभुके चरणकमलोंमें षोडशचिह्न विद्यमान हैं ऐसा निरूपण है. पृथक् - पृथक् ग्रन्थोंमें पृथक् - पृथक् चरणचिह्नोंका निरूपण देखनेको मिलता है. तो वास्तवमें श्रीप्रभुके चरणकमलोंमें कौनसे चरणचिह्न विद्यमान हैं?

उ. ६२ श्रीमहाप्रभुजीने रासपंचाध्यायीमें बहुत सुन्दर आज्ञा की है. रासके समय प्रभुका स्वरूप तो एक ही प्रकट हुआ, परन्तु वहाँ जितने भक्तोंने प्रभुके दर्शन किये उन सब भक्तोंको अपने अपने भावानुसार प्रभुके प्रत्येक श्रीअंगके विविध प्रकारसे दर्शन हुए.

शास्त्रोंमें प्रभुके अनेक प्रकारके रूपोंका वर्णन है. शास्त्रोंका विचार करते समय हम धीरज नहीं रखते, इसलिये ऐसा मान लेते हैं कि यदि प्रभुके ऐसे विविध रूप हैं, प्रभुका कोई एक रूप नहीं है, तो प्रभुके सभी रूप मिथ्या हैं! अपनी बुद्धिकी यह दुराग्रहिता है. शास्त्र तो ऐसे सोचते हैं कि ये सभी रूप एक परमात्माके ही हैं. अपने यहाँ अनेक पुराण हैं, जैसे कि शिवपुराण, शाक्तपुराण, वैष्णवपुराण. तुम कोई भी पुराणको देखोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि जो पुराण जिस देवका प्रतिपादन करता होगा वह पुराण उस देवको ही मुख्य बतायेगा. ऐसे सब पुराण देखनेपर हम किस प्रकार कह सकेंगे कि इसमेंसे परमात्माका कौनसा रूप सच्चा? जो अनेक रूप धारण करनेकेलिये

शक्तिमान है उस परमात्माके सभी रूप सच्चे हैं. उसका कोई रूप मिथ्या नहीं है.

कुछ संकुचित विचारवाले लोग ऐसा कहते हैं कि भगवान जगतके पिता हैं. वे जगतके पिता होनेसे जगतके पुत्र कैसे हो सकते हैं? पर यदि भगवानका जगत्पितारूपका एक लौकिक सम्बन्ध सत्य हो सकता हो तो वे जगत्पुत्र भी क्यों नहीं हो सकते?

कृष्णलीलामें कृष्ण सांदीपनि ऋषिके यहाँ पढे फिर ज्ञानी बने. वास्तवमें ऐसा नहीं. कृष्ण सांदीपनि ऋषिके यहाँ गये उसके पहले उन्होंने बाललीलामें इन्द्रयाग बंध कराके गोवर्धनपूजनका उपदेश दिया था. उस प्रसंगमें कृष्णने पूरे वेदांतका ज्ञान समझाया था. तो सांदीपनि ऋषिके यहाँ पढे उसके पहले कृष्ण अज्ञानी थे और पढनेके बाद ज्ञानी बने ऐसा नहीं है. उसके पहले भी वे ज्ञानी थे. पर कृष्ण शिष्य हो सकते हैं और सांदीपनि ऋषिके यहाँ पढते-पढते भी जगत्गुरु बन सकते हैं. परमात्माका यह सामर्थ्य है इसलिये उनको ऐसी शरम नहीं आती कि मैं जगत्गुरु होनेसे सांदीपनि ऋषिके पास कैसे पढूँ? परमात्मा तो ऐसा विचारते हैं कि यदि कोईके हृदयमें ऐसा भाव हो कि मैं परमात्माको भी पढाऊँ, तो उसके भावके पोषणकेलिये मैं शिष्य बननेको भी तैयार हूँ. गीताजीमें भगवान कहते हैं "ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्". इस भावसे परमात्मा अपने अनेक रूप प्रकट कर सकते हैं.

जब भगवान कृष्ण कंसके दरबारमें पधारे तब वे स्त्रीयोंको कामदेवरूप दिखे. ग्यारह वर्षका बालक कामदेव लग सकता है क्या? प्रभुका यह सामर्थ्य है. यदि अपनेमें देखनेकी वृत्ति हो तो परमात्मामें वैसा दृश्य है ही. जितने सम्बन्ध, जितने रंग, जितने स्वाद जगतमें हैं वे सब प्रभुमें हैं. अपना जैसा भाव होगा वैसा अनुभव हमें होगा.

समुद्रमें गटरका पानी भी मिलता है और गंगा भी मिलती है ; सभी नदियाँ समुद्रमें मिलती है. इसलिये शास्त्रमें कहा है कि सभी नदियोंमें स्नान करनेका फल समुद्रस्नानसे मिलता है. पर हम समुद्रस्नान करते वक्त गटरकी भावना करेंगे तो वैसा फल मिलेगा, गंगाकी भावना करेंगे तो वैसा फल मिलेगा. इसी प्रकार अपनेमें गुरुभाव होगा तो

प्रभु शिष्य बनेंगे, अपनेमें वात्सल्यभाव होगा तो प्रभु पुत्र बनेंगे, अपनेमें पुत्रभाव होगा तो प्रभु पिता बनेंगे. सेवकभाव होगा तो प्रभु स्वामी बनेंगे और स्वामीभाव होगा तो वे सेवक भी बनेंगे ; "सर्वं खलु इदं ब्रह्म".

सो जगतमें जितने नाम-रूप हैं वे सब प्रभुके ही हैं. इसलिये शास्त्रोंमें प्रभुके स्वरूपके विविध वर्णन आये तो हमें घबरानेकी जरूरत नहीं है. प्रभुके स्वरूपका चिन्तन करते हुए, आपके जो-जो चरणचिह्नके वर्णन मिले उनका विचार करते हुए, हमें जो-जो चिह्नके चिन्तनसे आनन्द आये वे-वे चरणचिह्न हम मानें.

मैं पधरामणीमें गया था. वहाँ मुझे आनन्द आया. घरके बडोंने छोटे बालकको कहा "पैर छुओ". बालकने पूछा "किसके पैर छुऊँ?" बडोंने कहा "जेजेबावाके पैर छुओ". बालकने पूछा "जेजेबावा कहाँ हैं?" बालकके मनमें जेजेबावा माने उनके घरमें बिराजते श्रीठाकुरजी. वो बालक मेरे जैसे दाढीवाले बावाको जेजे मानकर कैसे पैर छुए? हमारेमें ऐसी अनन्यता होनी ही चाहिये. सचमुच उस बालकको धन्यवाद देने चाहिये, क्योंकि उसमें ऐसी अनन्यता थी. बालकके मनमें उसके जेजेबावाके प्रति यदि श्रद्धा होगी तो वो उनके ही पैर छुएगा, दूसरेके नहीं. हमें कोई कहे कि पैर छुओ तब अपने मनमें भी ऐसा ही प्रश्न उठना चाहिये कि मैं किसके पैर छुऊँ? ऐसे ही प्रभुके चरणारविन्दके जो चिह्न मुझे पसंद आये उनका मैं ध्यान धरूँ. कोई दूसरा व्यक्ति दूसरा चरणचिह्न दिखाये तब अपनी आँख तुरत ही खोजने लगे कि वे चिह्न कहाँ हैं?

एक कलाविवेचक एक बार खजुराहो गया. वहाँ एक युरोपियन बाई भी आई थी. दोनों वहाँके मन्दिरोंकी शिल्पाकृतियाँ देख रहे थे. उस भारतीय कलाविवेचकने युरोपियन बाईसे कहा "यहाँके इन युगलचित्रोंसे मुझे सचमुच शर्म आती है." तब उस युरोपियन बाईने पूछा "युगलचित्र कहाँ हैं?' भारतीय कलाविवेचकने कहा "यह सामने तो हैं!" तब वह युरोपियन बाई बोली "अरे! यहाँ तो भरपूर कला भरी हुई है! मुझे कोई युगल तो दिखता ही नहीं."

इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी अपनी दृष्टि

होती है. अपनी दृष्टिसे वहाँ युगलचित्र ही दिखते हैं, पर उस बाईकी दृष्टिसे वहाँ उसे शिल्पकलाके उत्तम नमूने ही दिखे. इस प्रकार हमें जो देखना हो वही दिखता है.

एक व्यक्ति ताजमहल देखने गया. ताजमहल देखकर उसने कहा "अरे! इसमें क्या देखने जैसा है? यहाँ तो बादशाह और बेगम सोये हुए हैं." यदि उसके पास आर्किटेक्टकी दृष्टि होती तो उसे ताजमहलमें सुन्दर भवन दिखता. यदि कलादृष्टि होती तो उसे सुन्दर नक्काशी दिखती, क्योंकि ताजमहल ये तीनों है.

मुझे एक बार एक व्यक्तिने कहा "यह लोग कहते हैं कि अपने भगवान श्रीकृष्ण नरकमें हैं. आप उन्हें जवाब दो." मैंने उनसे कहा "उनकी बात सुनकर हमें घबरानेकी कोई जरूरत नहीं है. उनकी बातसे भगवान कृष्णकी कुछ भी बदनामी नहीं होती. क्योंकि भगवान सर्वत्र व्यापक है अतः नरकमें भी भगवान होते हैं. जिन्हें भगवानको नरकमें देखने हो उन्हें वहाँ भी दिखाई देंगें, जिन्हें स्वर्गमें देखने हो उन्हें वहाँ दिखाई देंगें, जिन्हें गोकुलमें देखने हो उन्हें गोकुलमें भी दिखाई देंगें. भगवानका दर्शन देखनेवालेकी इच्छापे आधारित है, कि वो भगवानको कहाँ देखना चाहता है."

इसी प्रकार भगवानके चरणारविन्दका जो-जो चिह्न अपने मनको आनन्द दे उन उन चिह्नोंका हम ध्यान धरें.

प्र. ६३ श्रीहरिरायजीकृत 'भगवच्चरणचिह्नवर्णनम्' नामका ग्रन्थ है. उसमें भगवानके षोडश चरणचिह्नोंका निरूपण है. प्रत्येक चरणचिह्नके ध्यानसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है. तो अलौकिक रसात्मक भगवानके अलौकिक रसात्मक चरणचिह्नसे ऐसी लौकिक फलप्राप्ति क्यों बताई होगी?
उ. ६३ मैं एक बार किशनगढ गया था. तब मेरे पास एम.ए.में अभ्यास करते दो विद्यार्थी आये. वे फिलोसोफी विषयमें एम.ए. कर रहे थे. उन्होंने मुझे कहा "महाराज! हमको चार्वाकका मत सीखना है". मैंने उनको समय दिया. गाँववाले दूसरे वैष्णवोंको पता चला कि महाराज अमुक समयपे प्रवचन करनेवाले हैं इसलिये उस समय दो-चार वैष्णव भी आकर बैठ गये. अब जो अपने आप आकर बैठे उनको निकाल

बाहर तो किया नहीं जा सकता. मैंने उन विद्यार्थिओंको चार्वाकमत सीखाना शुरु किया. मैंने कहा "आत्मा नहीं है, ईश्वर नहीं है ; दुनियामें मौजमजा करना यही श्रेष्ठ बात है". यह सुनकर वहाँ बैठे हुए दो-चार वैष्णवोंने रोना शुरु कर दिया! मैं घबरा गया. मैंने पूछा "अरे भाई! तुम क्यों रोने लगे?" वो बोले "आप महाराज होकर ऐसी आज्ञा करते हो! अब हमारा क्या होगा?" मैंने कहा "मैं तुम्हें कहाँ आज्ञा करता हूँ? जो विद्यार्थी चार्वाकमत सीखने आये हैं उन्हें चार्वाकका मत सीखा रहा हूँ. चार्वाकमतमें जो बात आती हो वही सीखाऊँ या और कुछ सीखाऊँ? चार्वाकमत सीखाते हुए कृष्णभक्ति करनेका मैं किस प्रकार कहूँ?"

इसी प्रकार जब श्रीहरिरायजीने 'भगवच्चरणचिह्नवर्णनम्' ग्रन्थकी रचना की होगी तब कोई अधिकारी जीव आया होगा जिसकेलिये श्रीहरिरायजीने अमुक चिह्नके ध्यानसे लक्ष्मी प्राप्त होगी ऐसी आज्ञा की होगी. यह बात श्रीहरिरायजी ही जान सकते हैं. श्रीहरिरायजीके पास अवश्य कोई वणिकबुद्धिवाला व्यक्ति आया होगा जो भगवानके चरणमेंसे लक्ष्मीको छीन लेना चाहता होगा. इसलिये श्रीहरिरायजीने "तथास्तु" कहा होगा. उसकी चिंता हमें करनेकी जरूरत नहीं है.

अपने यहाँ वार्तामें एक मजेदार प्रसंग आता है. जब कृष्णदास अधिकारी पहुँच गये तब श्रीनाथजीका अधिकारी किसे बनाया जाय यह प्रश्न उपस्थित हुआ. श्रीगुसांईजी परमदयालु हैं इसलिये उन्होंने विचार किया कि मैं अपने हाथसे किसीको अधिकारी बनाकर उसका अहित कैसे करुँ? तब श्रीनाथजीने श्रीगुसांईजीको कहा "तुम्हें अहित करनेकी जरूरत ही क्या है? तुम उपरना लेके खडे रहो ; जिसका अहित होना होगा वह उपरना ओढनेकेलिये सिर नवायेगा". सो श्रीगुसांईजीने किसीको अधिकारी बननेकेलिये आमन्त्रण नहीं दिया ; जिसने सर नवाया उसको उपरना उढाया. जिसका अहित होनेवाला हो वह अधिकारी बने ; हम क्यों किसीका अहित करें? कारण कि मन्दिरमें यदि किसीका अधिकार हो तो केवल श्रीठाकुरजीका है ; हमारा कैसे होगा?

महानुभावोंने सच कहा है "जाको प्रभु दारुण दुःख देही, ताकी बुद्धि प्रथम हरी लेही". प्रभु जिसे दारुण दुःख देना चाहते हों वह

मन्दिरका अधिकारी या ट्रस्टी बन जाय. उसके बारेमें प्रभुकी इच्छा क्या है यह इस वार्ताप्रसंगपेसे समझ लेना चाहिये. यह समझनेके बाद उसकी चिंता न करनी, क्योंकि प्रभु जिनका हित करना चाहते हो वे कभी मन्दिरमें अधिकारी या ट्रस्टी नहीं बन सकते. श्रीठाकुरजी हमारे माथे बिराजते हैं ; हम थोडे ही श्रीठाकुरजीके श्रीमस्तकपर बैठ सकते हैं? श्रीठाकुरजीका ट्रस्ट कैसा और ट्रस्टी कैसे? अपने मनमें ऐसा भाव जगे कि हम श्रीठाकुरजीकी लक्ष्मीके ट्रस्टी हैं तो समझ लेनेका कि हमारा अहित होनेवाला है.

इसी प्रकार जिसने लक्ष्मीकी कामना की होगी उसकेलिये श्रीहरिरायजीने लक्ष्मीकी फलप्राप्तिका विधान किया होगा. पर हमें समझ लेना चाहिये कि लक्ष्मी भगवानके चरण छोडकर अन्यत्र कहीं भी जायेगी नहीं. लक्ष्मी भगवानके चरणमें बिराजती है वह भगवानकेलिये बिराजती है, अपने लिये नहीं.

प्र. ६४ पुष्टिमार्गमें व्रज चोरासीकोसकी यात्रा किस लिये?

उ. ६४ आजकल कितने ही लेखक पुष्टिमार्गकी अपने अपने ढंगसे व्याख्या करते हैं. कोई कहता है कि भगवानकी कृपा प्राप्त करनेका मार्ग मतलब पुष्टिमार्ग. पर यह व्याख्या सही नहीं है. हरेक जीवात्माका पोषण भगवदनुग्रहसे ही होता है. जैसे देहका पोषण अन्न-जल-वायुसे होता है, जैसे विचारोंका पोषण आचरणसे होता है, जैसे एक नवजात बालकका पोषण माताके दूधसे होता है, वैसे ही जीवात्माका पोषण परमात्माके अनुग्रहसे होता है. सभी जीवात्माएँ परमात्माका ही अंश हैं. सो परमात्मा यदि अनुग्रहशील हैं तो वे तमाम जीवात्माओंको अपने अनुग्रहका पात्र बनायेंगें. इसलिये कृपाप्राप्तिको निकष माननेपर या तो सभी जीवात्माएँ पुष्टिमार्गीय होगी या फिर कोई भी नहीं होगी.

वस्तुतः महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी जब पुष्टिमार्गको एक सम्प्रदायके रूपमें हमारे सामने रखते हैं तब उसका मतलब ऐसा नहीं है कि आपने प्रवर्तित किये हुए सम्प्रदायपर चलनेवालोंका ही परमात्मा अपने अनुग्रहसे पोषण करेंगे. दूसरे कर्म-ज्ञान-भक्तिके मार्गोंपर चलनेवाले विभिन्न धर्मसम्प्रदायोंमें माननेवालोंका भगवान अपनी कृपासे पोषण नहीं करते ऐसा

श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त नहीं है.

श्रीमहाप्रभुजी ऐसा विवेक दिखाते हैं कि विविध धर्ममार्गपर चलनेवालोंमें अधिकाररूप अपना अपना बीजभाव होता ही है. इसलिये हरेक जीवात्मा कोई ना कोई मार्गपर यात्रा करनेका अधिकारी तो होता ही है. पर कोई भी जीवात्मा प्रत्येक मार्गपर यात्रा करनेका अधिकारी नहीं होता. किस जीवात्माको किस मार्गपर चलना चाहिये यह नियामक परमात्माद्वारा जीवात्मामें आरोपित बीजभावद्वारा ही तय हो सकता है. परमात्मा अपनी कृपासे जिस जीवात्मामें जैसा बीजारोपण करते हैं उस मार्गके प्रति उस जीवात्मामें सहज आकर्षण पैदा होता है. उस मार्गपर चलनेके अधिकार जैसा बीजभाव परमात्माके अनुग्रहका ही दूसरा रूप है.

अनुग्रहके अनेक रूप हैं. जैसे कि कंस - शिशुपाल जैसे दुष्ट जीवात्माओंपर परमात्माका अनुग्रह क्षमाके स्वरूपमें प्रकट होता है. उनके अनेक दुराचार और अपराधों के दुष्टसाधनोंको ध्यानमें न लेकर प्रभु उनको क्षमा करते हैं. यह भी एक प्रकारकी पुष्टि या उस जीवात्माका पोषण ही है. शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करनेवालोंपर उनके कर्म, ज्ञान या भक्तिके साधनोंके अनुरूप परमात्मा प्रसन्न होकर अर्थात् तुष्टमान होकर अपनी पुष्टिको प्रकट करते हैं. साधकोंके अपने कर्म, ज्ञान, भक्ति, विरक्ति, तप, स्वाध्यायादि श्रेयसाधनोंसे भी अधिक फलका वे दान कर सकते हैं.

किन्तु कृष्णावतारके समयमें सभी व्रजवासी निःसाधन जीव थे ऐसे भागवतमें कहा है. दिनमें वे गोधन चराते या गृहस्थीके कार्यमें व्यस्त रहते तथा रात्रिको थकानके मारे लोटपोट होकर सो जाते. ऐसे व्रजजनोंके बीच भगवानका प्रागट्य यह बातका निदर्शन करता है कि परमात्माने व्रजवासियोंको निःसाधनतामेंसे बचा लिये. ऐसे निःसाधन जीव जब भगवद्भक्त और प्रभुअनुरागी बन जाते हैं तब श्रीमहाप्रभुजी ऐसा कहते हैं कि यहाँ कारणभूत उन जीवात्माओंके कोई साधन नहीं पर परमात्माकी पुष्टि = अनुग्रह ही इसमें झलक रही है. प्रभुकृपा बिना कुछ विकसित नहीं हो सकता. जीवात्माके भीतर जब निष्काम और अविचल परमात्मप्रीतिका प्रादुर्भाव होता है तब वह केवल भगवत्कृपाका ही सुफल है.

सो पुष्टिमार्गकी वास्तविक व्याख्या ऐसी हो सकती है— चोरासीलाख

योनियोंमें भटकनेके बाद जीवात्मामें रहा हुआ बीजभाव निष्काम दृढ भगवदासक्तिमें अंकुरित हो पाये तथा परमात्माकी कृपासे जिस मार्गका दर्शन हो वही पुष्टिमार्ग है.

परमात्माकी ऐसी शुद्धपुष्टि चोरासीकोसके व्रजमण्डलमें कृष्णावतारके समयमें कृष्णलीलामें उनके भक्तोंकेलिये प्रगट हुई थी. इसलिये आज भी पुष्टिमार्गीय जीव (साधक) अपने पुष्टिप्रभुकी उस पुष्टिलीलाकी अनुभूति करनेकेलिये, उसे देखने-सुननेकेलिये, मनन तथा निदिध्यासन करनेकेलिये व्रज चोरासीकोसकी यात्रा हर साल करते हैं.

जिस प्रकार रासलीलामें श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपीजन उनको वृन्दावनकी कुंजगलियोंमें खोजती थी उसी प्रकार आज भी भक्त व्रजके चोरासी कोसमें अपने परमप्रिय कन्हैयाको ढूंढते फिरते हैं. और उनको ऐसा अनुभव निश्चित होता है कि "सदा व्रज ही में करत विहार!"

आत्मा चोरासीलाख योनियोंमें भटकके भी जिसके परमानन्दकी प्राप्ति कर नहीं सका वह परमात्मा जब स्वयं व्रजविहारी बना है तब तुम ही कहो, चोरासीकोसके व्रजमण्डलको छोडकर उसे और कहाँ ढूंढना?

इस प्रकार पुष्टिमार्ग व्रजभक्तोंकी भावनाओंके अनुसार व्रजभूमिमें व्रजविहारीकी खोजका मार्ग है.

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल बैठि कांकरी चुन्यो करे।
जा रसनासों करी बहु बातन ता रसनासों चरित्र गुन्यो करे॥
आलम जिनसे कुंजनमें करि केलि तहाँ अब बैठी शीश धुन्यो करे।
नैननिमें जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करे॥

इसी विरहव्यथा और तीव्रतम उत्कण्ठाके साथ अनेक पुष्टिजीव हर साल व्रजविहारीकी कथा सुनके, कुंजोमें शीश धुनाके, रसनासे रसमधुर चरित्रोंका रसास्वादन करके, व्रजविहारीके विहारस्थलोंके कंकडोंको चुनते हुए व्रजयात्रा करनेको अपने जीवनका परम सौभाग्य मानते हैं.

प्र. ६५ श्रीगोपीजन, श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी, श्रीवल्लभकुल और ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देनेवाले द्वारभूत गुरुदेव —इनके गुरुत्वका भाव समझाईये.
उ. ६५ देखो, सभी गुरु हैं, पर एक-एक बातके एक-एक गुरु हैं.

स्नेहके गुरु गोपीजन हैं, निरुपधि भावके गुरु श्रीगोपीजन हैं.

महाप्रभुजी केवल निरुपधि भावकी शिक्षा हमें नहीं देना चाहते. वे कहते हैं "कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्". अर्थात् गोपीजनको गुरु मानो और उन्होंने जिस निरुपधि भावसे भगवानका भजन किया वो भावसे तुम भजो. यह रहस्य श्रीमहाप्रभुजीने समझाया इस अर्थमें श्रीमहाप्रभुजी गुरु हैं.

पर जो निरुपधि भावसे भजन श्रीमहाप्रभुजीने समझाया उस भजनकी सूक्ष्म बातें श्रीगुसांईजीने समझाई. सेवाकी एक-एक सूक्ष्म बातोंकी ओर भी गुसांईजीने जो ध्यान दिया वो तो आपश्रीके पत्र तुम बांचो तो ही मालूम पडे. "जलादिसेवायाः निर्वाहः सेवकैः कार्यः, तदपि नातिश्रमेण, मत्स्वामिनः कोमलस्वभावात्". अर्थात् सेवाकेलिये जल सेवकोंसे भरा लेना, पर सेवकोंको अतिश्रम न हो उसका ध्यान रखना, क्योंकि मेरा स्वामी अतिशय कोमलस्वभावका है. सेवामें ऐसी कोमलता निभानी यह प्रभुकी कोमलताका निरन्तर जिसे भान न हो वो व्यक्ति कैसे कह सकता है? श्रीगुसांईजी "अपर कृष्णावतारो जगति श्रीविट्ठलो जयति", "आप सेवा करी शीखवे श्रीहरि, भक्तिपक्षवैभव सुदृढ कीधो" यह बात तो है ही. पर एक लौकिक दृष्टिसे विचार करें तो जो प्रभुकी कोमलताको स्वयं न जानता हो वो ऐसा कैसे समझा सके कि "मत्स्वामिनः कोमलस्वभावात्"? यह शब्द कितने कोमल हैं! कभी सोचके तो देखो कि मेरा स्वामी इतना कोमल है कि सेवकको जलकी सेवा कराते यदि श्रम होता हो तो मेरा स्वामी वह बरदास्त नहीं कर सकेगा!

पर अपन जबरदस्ती ले महाराज ; आज छह मन दूध, आज बीस मन दूध ... वे गाली देते रहें और अपन उनसे दूध भरवाते रहें! अपन कोमलताका अनुभव नहीं कर सकते. मतलब अभी श्रीगुसांईजीको ठीक तरहसे हमने गुरु नहीं मानें. ठीक तरहसे मानेंगे तो समझमें आयेगा कि प्रभुका स्वरूप कैसा कोमल हैं!

अपने यहाँ श्रीमहाप्रभुजीकी विप्रयोगात्मक स्वरूपकी भावना की जाती है और श्रीगुसांईजीकी संयोगात्मक स्वरूपकी भावना की जाती है. ऐसा नहीं कि श्रीमहाप्रभुजीने संयोगरसका या श्रीगुसांईजीने विप्रयोगरसका अनुभव नहीं किया. दोनोंने दोनों रसका अनुभव किया है. पर हमें कौनसी

भावना करनी यह प्रश्न है. दोनोंने दोनों रसका परिपूर्ण अनुभव किया है. पर हमें यदि तापकी दीक्षा लेनी है तो श्रीमहाप्रभुजीके पाससे लेनी और यदि संयोगानन्दकी दीक्षा लेनी हो तो श्रीगुसांईजीसे लेनी. ब्रह्मसबन्धमें तापक्लेश और आनन्द दोनोंकी दीक्षा है.

श्रीगुसांईजीने सेवापथका विचार और प्रसार किया. सेवाकी सूक्ष्मता सावधानीसे वैष्णवोंको समझाई. प्रभुकी कोमलताका सेवामें आनन्द कैसे लेना यह श्रीगुसांईजीने समझाया. स्वयं यात्रा करने पधारे तब बालकोंको पत्र लिखते जनाते हैं "तुम ओटा हुआ दूध मेरे प्रभुको धरते रहना, क्योंकि मेरे प्रभुको वो अतिशय प्रिय है". माने यात्रा करते वक्त यात्राकी मज़ा नहीं ले रहे हैं पर उन्हें चित्तमें यह हो रहा है कि ओटा हुआ दूध कभीकभाक नहीं धरा जाता होगा तो प्रभुको ठीकसे मज़ा नहीं आता होगा. तो ओटा हुआ दूध प्रभुको पसन्द है ये आपको कितना पसन्द आया यह देखनेकी बात है. ऐसी सावधानी जो निरन्तर संयोगानुभूति करता हो वो ही रख सकता है. इसलिये प्रभुके स्वरूपके आनन्दकी अनुभूति करनेकेलिये श्रीगुसांईजीमें गुरुभाव रखना चाहिये.

समस्त वल्लभकुलमें ये अभेदभाव रखना चाहिये कि सब आचार्यवंशज हैं. पर आज्ञा जिसने ब्रह्मसम्बन्ध करवाया वे द्वारभूत गुरुसे ही लेनी.

आजकल लोग बहुत गडबड करते हैं– मुझसे ब्रह्मसम्बन्ध लेंगे, दूसरेके पास स्वरूप पुष्ट करायेंगे, तीसरेसे सेवाकी आज्ञा लेंगे! हम काशी गये तो वैसा ही हुआ. काशीवाले काकाजीने किसीको छुवा दिया. प्राचीन बालक हैं तो अपरसका आग्रह तो होगा ही. उसने सूतक न पाला इसलिये छुवा दिया. हमें यह बात पता ही नहीं थी. अब जब हम काशी गये तो वो भाईने कहा "हमारे यहाँ पधारोगे?" मैंने कहा "आयेंगे भाई". गये. तब कहा "दूधगर आरोगोगे?" अब वैष्णवके यहाँ दूधगर तो लेते होते हैं; ना कैसे पाड सके? ले लिया. अब कहा "फोटो खींच लूँ? ऐसे दर्शन मुझे कब मिलेंगे?" "खींच लो." खींचनेके बाद उन्होंने कहा "महाराज (काशीवाले) हमारे यहाँ दूधगर नहीं आरोगते"! यह विचित्रता है. फोटो खींचनेके बाद कहते हैं! अक्सर लोग कहते हैं "वैसे तो आप गुरु हो पर यों आप आज्ञा नहीं देते तो दूसरेसे ले लेंगें"! ऐसा छद्म करनेमें हमारा

पुष्टिभाव निभता नहीं है.

इसलिये सच्ची पद्धति यह है कि जिनसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा ली हो उनके पास ठाकुरजी पुष्ट करवाके सेवा पधरानी चाहिये, उनके पाससे सेवासम्बन्धी आज्ञा लेनी चाहिये. वे न दें तो तापका अनुभव करो. लडकीके बापको पूछे बिना लडकीको भगा ले जाओ और वकीलको कहो कि सिफारिश लगाकर मेरेज कानूनी करवा दो! तो ऐसे उत्पात पुष्टिमार्गमें कैसे चलेंगे? यह सच्ची प्रणाली नहीं. ये तो तुम आज्ञा नहीं देते, तुम छुवा दो तो दूसरेको बुलाकर दूधगर आरोगते फोटो खींच लेंगे! तो झघडा तो मेरे और काकाजीके बीचमें होगा न? काकाजीको लगे कि काशीमें आकर बावा उपद्रव करते हैं. ऐसा उपद्रव तुम मत करो.

आज्ञा पानेके बारेमें जिन्होंने ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा दी हो उनको ही गुरु मानने चाहिये ; समस्त वल्लभकुलको गुरु नहीं मानने चाहिये. वल्लभकुलको दूधगर आरोगाकर फोटो मत खींचो. जो द्वारभूत गुरु हैं उन्हींसे आज्ञा लेनी चाहिये. क्योंकि हमारे यहाँ भी *जनरेशन गेप* है इसलिये हमारे पहलेकी पीढीको कुएके जलका आग्रह था और हम नलका जल पीते हो गये. अब तुम मुझसे नलके जलकी आज्ञा ले जाओ क्योंकि तुम्हारे गुरु, जो कुएके जलकी अपरस निभा रहे हैं वे तुम्हें आज्ञा नहीं देते, तो यह ठगाई है. सम्प्रदायमें ऐसी भ्रष्टता नहीं फैलानी चाहिये. गुरु जैसे कहे वैसे करो, क्योंकि "सेवाकृतिः गुरोराज्ञा". इन बातोंमें अपने गुरुघरका ही आग्रह होना चाहिये ; और सब बातोंमें भले ही समग्र वल्लभकुलको तुम गुरु मानो.

एक गाँवमें मैं गया तो बोले "महाराज, आये हो तो ब्रह्मसम्बन्ध देते जाओ". मैंने कहा "आया हूँ इसलिये क्यों ब्रह्मसम्बन्ध लेना चाहते हो? मुझे ब्रह्मसम्बन्ध लेने बुलाओ, तो मैं देने आऊंगा ब्रह्मसम्बन्ध." ऐसे कहनेका मतलब यह कि ब्रह्मसम्बन्धके प्रति तुम्हारी आदरकी भावना नहीं है. न आया होता तो न लिया होता. तुम शादी करने पांचसौ मील दूर बारात लेकर जाते हो तो गुरुघर तक ब्रह्मसम्बन्ध लेने नहीं जा सकते? ये तो तुम आये हो तो देते जाओ न! यह सिद्धान्त सच्चा नहीं है.

आग्रह रखो कि परम्परासे जो तुम्हारा गुरुघर हो उसी घरके बालकसे ब्रह्मसम्बन्ध लें, उनके पास ही ठाकुरजी पुष्ट करायें. बालक महाप्रभुजीके भावसे कानिसे ही पुष्ट करता है ; इस बातमें कोई बालकमें कोई भेद नहीं है. कोई बालकमें इतनी ताकत नहीं कि अपने सामर्थ्यसे ठाकुरजीको पुष्ट कर सके, ब्रह्मसम्बन्ध दे सके. महाप्रभुजीकी कानिसे ही ब्रह्मसम्बन्ध दिया जा सकता है, ठाकुरजी पुष्ट किये जा सकते हैं. तो पुष्ट कराते समय, ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय वैष्णवको श्रीमहाप्रभुजीका ही भाव होना चाहिये, वो बालकका नहीं. पर आज्ञा तथा ब्रह्मसम्बन्ध लेनेका एवं स्वरूप पुष्ट करानेका आग्रह वो द्वारभूत बालकमें ही होना चाहिये. "टके सेर भाजी टके सेर खाजा" नहीं होना चाहिये. यह अपने सम्प्रदायकी सच्ची मेंड है. इसे पालनेकी तुम सावधानी रखो. हरेक बालकमें गुरुभाव आदरके बारेमें रखो, सेवाके बारेमें नहीं –यह सम्प्रदायका नियम है.

प्र. ६६ प्रपंच (जगत) ब्रह्मरूप है तो भी प्रपंचविस्मृतिकेलिये क्यों आग्रह रखा जाता है?

उ. ६६ परब्रह्म एक है, अद्वितीय है. ब्रह्म अपने आपमें एक निरपेक्ष तत्त्व है. शुद्धाद्वैत सिद्धान्तके अनुसार यह समग्र जगत परब्रह्मके आत्मरमणका एक विस्तार है, एक विकास है. ब्रह्म आत्मरमण कर रहा है. श्रुति कहती है "ब्रह्मसे पृथक् कुछ है ही नहीं, पृथक् कुछ हो नहीं सकता". भागवत और श्रीमहाप्रभुजी यहाँ तक कहते हैं कि "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्-यद् यथा यदा, स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः". जो कुछ होता है, जहाँ होता है, जैसा होता है, जिससे होता है जिसका होता है, जिसकेलिये होता है, जब होता है सब भगवान ही होता है. "त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः, सृज्यते सृजति प्रभोः, अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पते". जो मर रहा है वह ब्रह्म है, जो मार रहा है वह ब्रह्म है. जो पाल रहा है वह ब्रह्म है, जो पल रहा है वह ब्रह्म है. जो सर्जन करता है वह ब्रह्म है और जिसका सर्जन हो रहा है वह भी ब्रह्म है. "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" यह सब ब्रह्म है. ब्रह्मने सब रूप आत्मरमणके विस्तारके

रूपमें लिये हैं.

उपनिषद् हमें यह समझाता है कि "स एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्". क्योंकि रमणका स्वभाव ही ऐसा है कि वह एकाकीसे हो नहीं सकता इसलिये ब्रह्म जगतके रूपमें परिणत हो जाता है. जगतके रूपमें कोई बाहरका तत्त्व परिणत नहीं होता. बाहरका कोई तत्व हो ही नहीं सकता. ब्रह्म अपने आप ही जगतके रूपमें परिणत होता है. जो कुछ है वह ब्रह्मके नाम-रूपका विस्तार है. फर्क इतना ही है कि कुछ ब्रह्मकी सत्ताका विस्तार है, तो कुछ ब्रह्मके चैतन्यका विस्तार है और कुछ ब्रह्मके आनन्दका विस्तार है.

आसन, टेपरेकॉर्डर या कपडा है उन्हें अपने होनेका भान नहीं कि वे यह ब्रह्मकी सत्ताका विस्तार है. जैसे रुईसे सूत बनता है, सूतसे कपडा बनता है, कपडेसे अलग-अलग परिधान बनते हैं ; लहंगा बनता है, साडी बनती है, टोपी बनती है ... एक रुईका कितने रूपोंमें विस्तार होता है! सोना. उसमेंसे इयरिंग बने, चूडी बने, अंगूठी बने, घडी बने, नेकलेस बने ... कितने रूपोंमें विस्तार हो सकता है. तब भी मूल तत्त्व तो एक सोना ही है. उसी प्रकार लोहा. चाकू बने, कढाई बने, घडा बने, ग्लास भी बने. पर मूल तत्त्व तो एक लोहा. रूप अलग-अलग हो सकते हैं. वैसे यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्मकी सत्ताका विस्तार है.

जो चेतन जगत है, जो सचेतन प्राणी हैं, उन्हें हम ब्रह्मके चैतन्यका विस्तार मानते हैं. हम हैं और हमें अपना अस्तित्व होनेकी चेतना है, भान है. हम ब्रह्मको इस अर्थमें सच्चिदानन्द कहते हैं कि ब्रह्मको अपने होनेकी चेतना है और साथ ही साथ भानके अलावा ब्रह्मको इस होनेकी चेतनाके भानमें कोई प्रकारके दुःखका संस्पर्श नहीं है. ब्रह्म हमेशा आनन्दसे पूर्ण विस्तार है. पर हमें कभी दुःखका खयाल आता है कि हम दुःखी हैं. धन चला जाता है, नुकसान होता है, पैरमें ठोकर लगती है, कोई दो शब्द कटु कह देता है तो भी दुःख होता है. कोई जरा भी मिथ्या प्रशंसा करे तो सुख होता है. इस प्रकार सुख-दुःखका भान तो होता है, पर निरन्तर आनन्दका अनुभव

नहीं बना रहता. इसलिये यद्यपि हम ब्रह्मके नाम-रूपका विस्तार हैं तो भी यह विस्तारमें ब्रह्मके आनन्दका विस्तार नहीं होता.

तो आनन्द कहाँ गया? वैसे ही जड वस्तुमेंसे वह ब्रह्म होनेपर भी चेतन कहाँ जाता है? क्या ब्रह्ममें तीन विभाग हैं, तीन डिब्बे हैं कि एक डिब्बेमेंसे सत्ता निकले, दूसरेमेंसे चैतन्य निकले और तीसरेमेंसे आनन्द निकले? वस्तुतः ब्रह्ममें ऐसे कोई विभाग नहीं पर ब्रह्म एक अखण्ड, एकरस, पूर्ण तत्त्व है. तो फिर यह त्रिविध विस्तार किस लिये हुआ? यदि ब्रह्मकी अखण्डता या एकरसता बनी रहती हो तो लीला सम्भव नहीं है. अतः ब्रह्म स्वयं अपनेमें खण्ड प्रकट करता है और इस तरह ब्रह्मका त्रिविध विस्तार होता है.

बालक जब जन्म लेता है तब उसके पैरके तलुओंकी चमडी कितनी कोमल होती है! थोडी भी दबाओ तो खून झलकने लगता है! हमारे पैरके तलुओंकी चमडी दबाकर देखेंगे तो कोमलता चली गई लगेगी. चलते-चलते पैरमें इतनी ठोकरें लगती हैं कि चमडी कठोर हो जाती है. सो जो चेतनता है वो वहाँसे थोडी ऊपर सरक जाती है. वहाँ कोई सुई चुभाये तो कुछ पता नहीं चलता. किन्तु पैरके तलुएके अन्दर सीधी सुई चुभायेंगे तो सुईकी खबर पडेगी. जब सुई टेढी चुभानेसे कुछ दर्द नहीं होता तब हम कहते हैं कि चमडी बेकार या बधिर हो गई है. पर वस्तुतः तो वह चमडी न तो बेकार और न ही बधिर होती है. क्योंकि यदि चमडी बेकार या बधिर हो जाती तो वह काटनेके बाद नई पैदा न होती. पर नई चमडी आती है, मतलब चमडी बधिर नहीं हो गई यह साबित हो जाता है. तो फिर चेतना जाती है कहाँ? वस्तुतः तो चेतना सरककर पीछे चली जाती है.

जब सेना हारने लगती है तब पीछे जाने लगती है, पीछेहट करती है. वैसे जो चेतना है वह जडकी प्रधानतामें थोडी पीछेहट करती है, थोडी पीछे सरक जाती है. बाहर जड वस्तु रह जाती है, सत्ता रह जाती है ; चेतना अन्दर चली जाती है. हम अपनी भाषामें उसे कहते हैं "तिरोहित हो जाती है". उसका नाश नहीं हो जाता. चेतना

सिर्फ तिरोहित हो जाती है अर्थात् छिप जाती है, थोडी पीछे सरक जाती है. तो जिसे हम जड वस्तु समझते हैं, जैसे कि पत्थर या लोहा या टेबल या कुर्सी, उनमें भी चेतना है, पर थोडी पीछे सरक गई है.

अब जब चेतना ही पीछे सरक जाय तो आनन्द उससे भी पीछे सरक जाता है. अपनी स्थिति क्या है? अपनी चेतना पीछे नहीं सरकी है ; हम हैं और हमारेमें चेतना भी प्रकट है. जैसे बालकके पैरके तलुओंमें जो कोमलता रही हुई है वहाँ चेतना प्रकटी हुई रहती है. वहाँ जरा भी जोरसे दबायेंगे तो लाली दिखेगी, जरा भी छूएंगे तो बालकको गुलगुली होगी. अपनी चंचलता खतम हो गई है. क्यों खतम हो गई है? चेतना थोडी पीछे सरक गई है, क्योंकि पैरके तलुओंका उपयोग जडकी तरह हमने किया है, चेतनकी तरह नहीं किया. जब हम जडकी भांति उपयोग करते हैं तो चेतना पीछे सरक जाती है. हम चेतनकी तरह उसका उपयोग करने लगे तो चेतना प्रगटी हुई दिखेगी. एक प्रयोग करके देखो— महिने दो महिने पैरोंसे काम न लें, चलें ही नहीं तो अपने आप ही वह चेतना आ जायेगी. पैर फिरसे उतने ही कोमल हो जायेंगें. मेरे गुरुजी, जिनके पास मैं सीखने जाता था, वे बहुत ही अधर-अधर रहते थे. उनके पैरके तलुएँ भी बच्चोंकी भांति एकदम गुलाबी थे. उनका थोडा भी उपयोग इस प्रकार करने लगे तो चेतना पुनः आगे तक आ जाती है.

जड और चेतनामें इस प्रकार लुकाछिपीका खेल चल रहा है. उसी प्रकार लुकाछिपीका खेल चेतना और आनन्दमें भी चल रहा है. हमारी चेतनामें आनन्द पीछे छुप गया है. वह जब कोई-कोई बार अपनी झलक दिखाता है तब हमें आनन्दकी अनुभूति होती है. आनन्दकी झलक नहीं दिखती तो हम कहते हैं कि हम दुःखी हैं. फिर हम बहाना बना लेते हैं, ढूंढ निकालते हैं कि आज इस बातसे दुःखी हैं और कल इस बातसे दुःखी थे और परसों उस बातसे दुःखी थे. ये सब दुःखी होनेके बहाने हैं. सच बात तो यह है कि आनन्द चेतनाके परदेके पीछे छुप गया है. चेतनाका जो परदा है वहाँ तक वह आनन्द झलक नहीं रहा ; पीछे छुप गया है, पीछेहट कर गया

है. हम उसे कहते हैं कि हमारी चेतनामें आनन्द तिरोहित हो गया है. बात ऐसे है.

यह भूमिका इसलिये बांधी कि अपने पास सवाल यह आया है कि प्रपंचको जब हम भगवदात्मक मानते हैं तो प्रपंचविस्मृतिपर क्यों इतना सब भार दिया जाता है.

प्रपंचासक्तको प्रपंच भगवदात्मक होनेपर भी प्रपंचकी विस्मृतिका उपदेश देना पडता है, क्योंकि लीलाका स्वरूप ही वैसा है.

यह बातको कोई इस हद तक न खींचे कि प्रपंच विस्मरणीय है इसलिये मिथ्या ही है. इतनी हद तक नहीं खींचना चाहिये. प्रपंचविस्मृतिकी बातसे लोग इतने ज्यादा उत्तेजित हो जाते हैं कि जगतको मिथ्या कहने लग जाते हैं अत्यधिक उत्तेजनाके कारण! उन्हें कहना पडता है "भाई चुप रहो, इतनी हद तक जानेकी जरूरत नहीं है".

कोई एक पिताके पास जाकर किसीने कहा "अरे भाई! आपका बेटा किसीको गधा, पाजी आदि गालियाँ रास्तेमें खडा होकर दे रहा है!". वो कहनेवाले भाईको लगा कि यह बालक भोलेपनमें गाली दे रहा होगा. वो पिता ज्यादा भयंकर गालियाँ देता हुआ बाहर निकला और बेटेको गालियाँ देने लगा! तब उस भाईने कहा "अरे भाईसा'ब! तुम रूक जाओ. इससे तो तुम्हारा बालक और ज्यादा भयंकर गालियाँ सीख लेगा ; अभी तो दूसरे बच्चे दे वैसी छोटी-छोटी गालियाँ ही देता है. इसलिये आप चुप रहो. आप न बोलो यही ठीक है. वह जो गालियाँ देता है उसे हम सुन लेंगे".

ऐसे जो ज्ञानी होते हैं वे अधिक उत्तेजित हो जाते हैं. पर आवश्यक इतना ही है कि प्रपंचको भूल जाना और भगवानमें आसक्त हो जाना. बस इतने सन्तुलनकी बात कहें तो बात बराबर समझी जायेगी. और वैसे न कहकर अधिक गालियाँ देने लग गये तो बनी हुई बात वापस बिगड जायेगी.

हमें ज्ञान प्राप्त करना है, परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना है. पर यह इसलिये नहीं प्राप्त करना है कि हम जगतसे द्वेष करें. इसलिये प्राप्त करना है कि हम परमात्मासे स्नेह करें. इसलिये नहीं कि हम किसीको मिथ्या या तुच्छ माने, पर इसलिये कि हम सारे जगतको

परमात्मा माने. यदि हमारा ज्ञान परमेश्वरके अखण्डाद्वैतमें, अखण्ड शुद्धाद्वैतमें परिणत नहीं होता तो हमारा ज्ञान एकांगी ज्ञान है, उतावला ज्ञान है. किसीको तुच्छ दृष्टिसे देखनेमें ज्ञानका विकास नहीं होता.

वस्तुतः क्या होता है कि दो बात लोग जान समझ लेते हैं उतनेमें तो उनकी सहनशक्ति खो जाती है. संस्कृत भाषामें एक मजेदार शब्द है 'साक्षर'. साक्षरको जिस प्रकार विद्वान कहते हैं उसी प्रकार उसे दोषज्ञ भी कहा जाता है. विद्वानका विद्वान होना ये तो अच्छी बात है, पर दोषज्ञ होना यह बुरी बात है.

गुजरातीमें ऐसी कथा चलती है कि बाबा बना तो हिन्दी तो बोलेगा. पहलेके जमानेमें जो साधु होते थे वे सब सधुकडी हिन्दी बोलते थे. हिन्दीका फैलाव इन साधुओंके कारण पूरे हिन्दुस्तानमें हुआ है. कबीरपंथी जितने भी साधु हुए वे सब हिन्दी बोलते थे. कोई एक गुजराती भाई साधु हो गये. वे गुजरातमें गये तब हिन्दीमें बोलने लगे. तब एक श्रोताने कहा "महाराज! तुम भी गुजराती हो, हम भी गुजराती हैं ; हिन्दी क्यों बोलते हो? गुजरातीमें बोलो". वह साधुने जवाब दिया "हम दोनों गुजराती है तो क्या हुआ? मैं साधु हुआ हूँ तो हिन्दी तो बोलूंगा ही!" इसी प्रकार यदि विद्वान हुए तो एक-दो दोष निकाले बिना रहा नहीं जायेगा. विद्वान हुए तो दोषज्ञ भी होंगे. पर दोषज्ञ हो तो शास्त्र हमें यह समझाता है कि अपने दोषको जानो और दोषसे बचो. दिनरात आप दोषोंकी निंदा करने लग जाओगे तो गरबड हो जायेगी.

वस्तुतः ऐसा ही होता है. हमने कँई वक्ताओंको सुने हैं. आम लोग बिचारे क्या करें? किसीकी निंदा करते हैं, किसीकी स्तुति करते हैं. पर जो वक्ता होता है वो घंटों तक निंदा करनेवालोंकी निंदा किया करते हैं और थकते भी नहीं! जो सामान्य आदमी हो वह पन्द्रह-बीस मिनिट या तीस मिनिट किसीकी निंदा या स्तुति कर लेता है, पर ऐसा वक्ता दो घंटे तक यही विषयपर प्रवचन देता है कि निंदा करनी यह बहुत निंदनीय कृत्य है. पर वह खुद इतनी ज्यादा निंदा करता होता है कि जिसका इलाज नहीं! यह जो जटिलता विद्वत्ताकी है वह दोषज्ञके रूपमें विकृत हो जाती है. ज्ञान या विद्वता का अर्थ

है कि अपने दोषोंसे अपनेको बचाना. पर वास्तवमें हम क्या करते हैं कि जब हम विद्वान हो जाते हैं तो गाँवकी आलोचना करनेके रूपमें विद्वत्ताको अभिव्यक्त करना शुरू कर देते हैं.

सचमुचमें हमारे सम्प्रदायमें भी सेवामार्गमें जो क्षति हुई है वो क्षति इस प्रकारके विद्वानोंसे बढी है. थोडा विषयपरिवर्तन होता है पर मैं आपको बता रहा हूँ, क्योंकि मैं मानता हूँ कि यहाँ पुष्टिमार्गीय श्रोता हैं. हमारे एक परिचित मराठी वैष्णव हैं. ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके पश्चात् उन्होंने ठाकुरजी पधराये. उन्होंने मुझे पूछा "महाराज! सेवा कैसे करें?" मैं- "देखो, तुम्हारे घरमें तीन बच्चे हैं ; आपने किसीसे पूछा था या सीखा था कि उनका किस प्रकार लालनपालन करें?" वे- "नहीं". मैं- "यह चौथा बालक आपके यहाँ पैदा हो गया है ऐसे समझकर उसे भी पाल-पोषकर बडा करो". वे खुश हो गये और सेवा बहुत आनन्दसे पधराई.

तीन-चार महिने बाद कोई वैष्णव उनके घर पहुँच गये. अब उन्होंने चाकदार बागा जो अपन धराते हैं वह धराया नहीं था, पर मराठी रीतिके कुछ वस्त्र उन्होंने धराये थे. यह देखकर वह वैष्णवने हल्ला मचा दिया "अनर्थ हो गया, सब सेवाकी रीति भ्रष्ट हो गई, यह हो गया, वह हो गया" आदि. अब वह मराठी वैष्णव घबरा गये. हमारे पास आये. कहने लगे "हमने तो बहुत परिश्रम ठाकुरजीको दे दिया है, सारी सेवाकी रीत भ्रष्ट हो गई है!". मैंने कहा "क्या हुआ?" उन्होंने कहा "आप मेरे यहाँ आकर देखोगे तब हमें सन्तोष होगा". हमने कहा "भाई आ जाऊंगा".

बम्बईसे वह वैष्णव चालीस मील दूर रहते थे. एक दिन हम उनके यहाँ गये, इसलिये कि अनर्थ हो गया है तो जाके देखें तो सही कि क्या अनर्थ हुआ है. हमने देखा तो ठाकुरजी मराठी रीतिके वस्त्र धारण करके बिराजते थे! हमें तो बहुत आनन्द आया. एक मराठी घरमें ठाकुरजी मराठी वस्त्र धारण करके यदि न बिराजते तो आपश्रीने उस मराठी कुटुम्बपर कृपा (पुष्टि) की है इसका प्रमाण कैसे मिलता? हमें बहुत आनन्द आया. उन्होंने बताया "इसी प्रकारके वस्त्र उस दिन भी धराये थे. आज भी वही वस्त्र धराये हैं, यद्यपि धराने

नहीं चाहिये थे. पर अब आप बताओ कि अब दूसरे वस्त्र किस प्रकार धरायें और इसमें क्या गडबड हो गई है?" हमने कहा "हाँ, सचमुच बहुत गडबड हो गई है. और वह गडबड यह हुई है कि आप अपने ठाकुरजीके दर्शन दूसरोंको कराते हो. आपने विद्वानोंको दर्शन करा दिये सो उन्होंने दोष निकालके दिखा दिया! पर आपने दर्शन क्यों कराये? अपने यहाँ इसी लिये यदि बाहरका वैष्णव दर्शन करे तो राई-लोन करके ठाकुरजीकी नजर उतारनी पडती है. अब जब आपने दर्शन कराये तो यह आपकी भूल है और हम भी मानते हैं कि बडा अनर्थ हो गया है. इस प्रकारका अनर्थ न करना हो तो दूसरी बार किसीको भी दर्शन कराना मत. नहीं तो वापिस गडबड हो जायेगी और ठाकुरजीको बहुत परिश्रम हो जायेगा!"

पर मैं सच कहता हूँ कि जब मराठी वस्त्रमें मैंने पुष्टिमार्गीय ठाकुरजीको देखे तो बहुत आनन्द आया. मैंने कहा "कितनी असहज बात है; मराठी घरमें ठाकुरजी बिराजे और मराठी वस्त्र धारण न करें?" अपने घरमें ठाकुरजी बिराजे और अपने घरकी रसोई न अरोगे, अपने घरमें ठाकुरजी बिराजे और अपनी दिनचर्या न स्वीकारें तो फिर वे हमारे घरमें बिराजते हैं उसका प्रमाण क्या? भगवान सर्वव्यापक हैं, कण-कणमें बिराजते हैं, तब भी एक विशेष स्वरूपके रूपमें जब हमारे घरमें बिराजनेकी वे कृपा करें तो कुछ हमारी भी महिमा स्वीकारेंगे तभी तो वह पुष्टि कही जायेगी.

महाप्रभुजी बहुत सुन्दर बात कहते हैं कि डूबते मनुष्यको बचानेकेलिये रस्सी फैंकी जाती है, पर यदि हमारा स्नेही परिचित कोई डूब रहा हो तो रस्सी फैंकनेकी धीरज आदमी रखता नहीं और स्वयं ही कूद पडता है. वैसे जब भगवान साधन फैंकते हैं कर्म/ज्ञान/भक्तिके "लो कर्म करो, लो ज्ञान प्राप्त करो, लो उपासना करो और तुम्हारा उद्धार कर लो", तब भगवानने हमारे साथ अलगाव रखा है. पर जब अपने घरके कूपमें डूबते ऐसे हमें बचानेकेलिये आप स्वयं ही कूद पडे तो हम उसे पुष्टि मानते हैं, कि भगवानने हमें अपना समझा है. हम तो यह घरके कूपमें डूब रहे थे पर भगवान स्वयं कूद पडे, यों सोचकर कि अब यह डूब रहा है तो उसे रस्सी देकर बचानेमें शायद

देर हो जायेगी. ये जीव ज्ञान-कर्मकी साधनाओंके जंजालमें फँस जायेगा. यदि अच्छी तरहसे साधनाकी रस्सीको पकड नहीं सकेगा, अधीर होके डूब जायेगा तो क्या होगा?

सुनो, मैं सुनाता हूँ, भगवान तुम्हारे घरमें कूद पडनेमें खुश हुए हैं. तुम्हारे घरके कूपमें जब तक भगवान समाते नहीं तब तक भले ही वे व्यापक क्यों न हो, पूरे ब्रह्माण्डमें व्यापक हो तब भी उससे तुम्हें कोई फायदा नहीं होगा. भगवान तुम्हारे घरके कूपमें समा जाये इतने छोटे न बन सके तो पुष्टिमार्गीय भगवान नहीं हैं. हरेक कूपकी अपनी-अपनी मर्यादा है, हरेक कूपकी अपनी-अपनी दिशाएँ हैं ; उसमें भगवानको उतरना पडेगा. वे सर्वव्यापी हो तो भले हो, वे सर्वके अन्तरात्मा हो तो होने दो, वह सर्वेश्वर हो तो होने दो ; जब तक अपने घरके कुएमें भगवान कुदेंगे नहीं तब तक उन्हें पुष्टिरूप नहीं मान सकेंगे.

और एकबार सर्वव्यापी भगवान भी जब अपने संसार-कूपमें समाविष्ट हो गये फिर तुम अच्छी तरह उनको चीटक जाओ. फिर संसारभय ठीक नहीं है. संसारासक्तिके कारण हम विषयानन्द खोज रहे थे इसलिये अधीर विद्वानोंको विषयको मायिक कहना पडा, क्योंकि जगतमें संसारी बनकर जीनेमें कुछ गौरव नहीं है. जगतमें जगदीशके साथ संसार शुरु करनेपर भगवानको सर्व विषयोंका समर्पण कर देनेसे संसारकी भयंकरता मिट जाती है. यही संसार भजनानन्दमें सहायक बन जायेगा. तुम वो परमात्माके भजनमें इतने तल्लीन बन जाओगे कि प्रपंचका भय या स्मरण कुछ तुम्हें नहीं सतायेगा. प्रपंच तब भगवल्लीलाका स्थान बन जायेगा. भगवान जैसे अपनी महत्ता आदि भूलकर तुम्हारे कुएमें तुम्हारे भजनीय बन जाते हैं वैसे ही तुम्हें भी तुम्हारे प्रपंचको भूलकर केवल भगवानमें ही आसक्त बन जाना है. नहीं तो तुम भगवानके उस पुष्टिरूपका आनन्द नहीं ले सकोगे.

इसलिये यह प्रपंच भगवानने स्वलीलार्थ लिये हुए नाम-रूप हैं. उन प्रापंचिक नाम-रूपोंको ब्रह्मात्मक=ब्रह्मने लिये हुए नाम-रूपकी तरह स्वीकारके हमें उनमें फँसना नहीं है, पर उनके माध्यमसे तात्कालिक रूपमें उन नाम-रूपोंको धारण करनेवाले परमात्माको पहचानके, जानके, आनन्दानुभूतिकेलिये तैयार हो जाना है. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं— यह

सर्व जगतको ब्रह्मरूप मानो पर ब्रह्मका मज़ा सभी रूपोंमें मत लो. जगतको जगदीशरूप जानना चाहिये पर मज़ा तो एक जगदीशका ही लेना होता है. और इसीलिये प्रपंचविस्मृतिपर भार दिया गया है.

प्र. ६७ अपना कर्तव्य या पुष्टिधर्म क्या? जनसेवा या प्रभुसेवा?
उ. ६७ जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्। पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

पुष्टिमार्गमें लोकोपकार जैसे धर्मका क्या स्थान होना चाहिये तथा पुष्टिमार्गीय जीवके मुख्य कर्तव्य = भगवद्भजनके साथ उसका क्या तारतम्य है इसकी विचारणा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणको अभिप्रेत भावानुसार आज अतीव आवश्यक लगती है. स्वसिद्धान्तकी सच्ची जानकारी न होनेसे रोज-रोज होनेवाले नये-नये विधानोंसे पुष्टिजीवोंकी पुष्टिमार्गपर चलती यात्रामें होता इस बारेका दिशाभ्रम उन्हें गलत मार्गपर ले जा सकता है.

आचार्यश्रीके सिद्धान्तानुसार प्रत्येक जीवमें प्रभुने कोई एक निश्चित मार्गपर चल सके वैसे सामर्थ्यका बीजभाव रोपित या स्थापित किया होता है. उसके तहत जिस बीजभावका रोपण पुष्टिजीवमें करनेमें आया है वह साक्षात् पुरुषोत्तम व्रजाधिप श्रीकृष्णकी स्वरूपासक्ति और स्वरूपसेवाका ही है. "तस्माद् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः, भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः नान्यथा भवेत्" (पु. प्र. म. १२) अर्थ- इसलिये पुष्टिमार्गीय जीव भिन्न ही होते हैं इस बारेमें कोई शंकाको अवकाश नहीं है. यह पुष्टिसृष्टि भगवानकी रूपसेवाकेलिये ही बनाई गई होनेसे वह अन्यथा मार्गोंके या साधनोंके गलत मार्गपर जा नहीं सकती.

अक्सर इस विधानका अर्थ जाने-अनजाने दोनों ओर अतिवादितासे लेनेमें आता है. कभी हमें ऐसा लगता है कि रूपसेवार्थ जो सृष्टि है उसके कर्तव्यकी इतिश्री अपने घरमें या मन्दिरमें बिराजते ठाकुरजीके दर्शन या भजन करनेमें ही हो जाती है. कभी ऐसा लगता है कि ब्रह्मसम्बन्ध लेकर कण्ठी बंधाई मतलब कृतकृत्यता ही आ गई.

भगवानने स्थापित किया हुआ बीजभाव दृढ होकर यदि सचमुचमें अंकुरित या प्रेमपल्लवित होने लगा हो अथवा तो उसपर आसक्तिके

कुसुम खिलने लगे हो या व्यसनदशामें वह फलित हो गया हो तब लोकोपकारकी ओर अपनी दृष्टि न जाये यह तो स्वाभाविक ही है. सर्वात्मभाव जब तक सिद्ध न हो तब तक प्रभुके अलावा हरेक वस्तुमें या व्यक्तिमें हमें अनात्मबुद्धि और बाधकताकी स्फूर्ति होनेके कारण लोकोपकार धर्ममें अपना मन ही न चोंटे यह भी स्वाभाविक ही है. गोपीजनोंने ऐसी अवस्थामें उद्धवजीको कहा था "उधो, हमारे मन नाहीं दस-बीस". हे उद्धव! प्रभुने हमें दस-बीस मन नहीं दिये कि हम आप कहते हो उन सभी मार्गोमें मन लगा सकें. हमारा तो एक ही मन है, और वह श्याममें ऐसा चौंट गया है कि अन्यमें लग पाये वैसा नहीं रहा. गोविन्दस्वामीकी वार्ताको यहाँ याद करें. उनकी लडकी मिलने आई. उनकी बहनने गोविन्दस्वामीको कहा "लडकीके साथ बात तो करो". तब गोविन्दस्वामीने उत्तर दिया "मेरा तो एक ही मन है. यहाँ लगाऊँ तो वहाँसे निकल जायेगा और वहाँ लगा है तो यहाँ नहीं लगेगा". वैसे ही ठाकुरजीकी तनुवित्तजासेवा व्रजभक्तोंके भावोंसे भावात्मिका होते-होते मानसीकी अवस्थापर पहुँचे तब निरोध (प्रपंचकी विस्मृति और भगवदासक्ति) की दशामें भी लोकोपकारके धर्मका हमें ख्याल ही नहीं आयेगा.

पर यदि ऐसी भावविभोरता न हो तो अपने दैहिक सुख-दुःखकी भांति दूसरेके सुख-दुःखका भी ख्याल आये बिना कैसे रह सकता है? जब अहन्ता-ममता स्फुरायमान होती ही हो तब परोपकारसे दूर भागनेमें लोगोंका हेतु उनकी भगवद्भावविभोरता न होकर स्वार्थपरता ही होता है. इसलिये वैसोंको लोकोपकारका भी धर्मोपदेश प्रभुने स्वयं ही किया है. "एतावद् जन्मसाफल्यं देहिनाम् इह देहिषु, प्राणैः अर्थैः धिया वाचा श्रेय एव आचरेत् सदा" (भाग. १०।२२।३५). अर्थ- जीवात्माकी देह धारण करनेकी सफलता इसीमें है कि वह अपने प्राणसे, धनसे, बुद्धिसे और वाणीसे परोपकाररूपी श्रेयका ही आचरण करती रहे.

इस श्लोककी सुबोधिनीजी और टिप्पणीजी व्याख्या देखनेसे स्पष्ट होता है कि अहन्ता-ममता छोडकर परार्थ होना, प्राणीमात्रमें सेवाभाव रखना, सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखनी और अन्तमें सर्वथा अकाम होना (ऐहिक पारलौकिक वासनाओंसे मुक्त होना) उसमें भगवदीयके जीवनकी भी कृतार्थता माननेमें आई है. इसीलिये भागवतार्थप्रकरणमें आचार्यश्री आज्ञा करते हैं

कि साधनदशामें हमें चार बातोंका बहुत ही ख्याल रखना चाहिये—

१. मायामोहपर काबू पाकर शास्त्रानुसारी जीवन रखना.

२. एक सघन सफल वृक्षकी भांति सदा परोपकारी जीवन रखना.

३. भगवत्प्रसादरूप शुद्धान्नका आग्रह रखना.

४. भगवानके सर्वशक्तिशाली माहात्म्यका ख्याल रखकर ही दान, व्रत, तप, होम आदि कर्मोंका आचरण करना.

ऐसा उपदेश भगवानने मर्यादामार्गीय भक्तोंकेलिये नहीं पर व्रजके अपने भक्त सखाओंकेलिये दिया है – ऐसा श्रीमहाप्रभुजी भी स्वीकारते हैं. व्रजगोपिकाओंको प्रभुने ऐसा उपदेश किन्तु नहीं दिया. उसका कारण यह कि उनकी भक्ति सर्वात्मभावकी अवस्थापर पहुँचने लगी थी, इसलिये वैसा उपदेश व्रजगोपिकाओंको दिया होता तो भी वह अयोग्य ही कहा जाता. इससे सिद्ध होता है कि परोपकार धर्म पुष्टिजीवकेलिये भी स्वधर्म - स्वकर्तव्य ही है, जब तक उसकी भक्ति सर्वात्मभावमें खिल नहीं उठती.

प्रेम - आसक्ति - व्यसनकी क्रमिक अवस्थाओमें यदि भक्ति विकसित न हो रही हो तो अपने जैसे जीवोंका कर्तव्य भगवत्सेवा मानना या लोकसेवा? दोनों एकसाथ निभें या नहीं? और यदि दोमेंसे कोई एकको छोडनी पडती हो तो कौनसी सेवा छोडनी? भगवत्सेवा या लोकसेवा? ऐसे प्रश्नोंके उत्तर खोजते समय कँई बार हमें ऐसा भी लगे— स्वार्थके और स्पर्धाके इस वर्तमानयुगमें गोपीजन जैसी भावविभोरता अपनेमें कहाँसे विकसित होनेवाली थी? और उसके बगैर होती यह भावात्मिका सेवा केवल बाह्याडम्बर होनेसे हमें अपनेमें मानवीय गुण पनपानेका भी सुअवसर या प्रेरणा नहीं देती. इसलिये हमें सच्चे मानव होनेकेलिये सत्यपरायणता, नीतिपरायणता और लोकोपकार पे ज्यादा भार देनेकी आवश्यकता है.

दरअसल यह एक निराशामय चिन्तन है, और ऐसी आत्मनिंदाकी मनोवृत्तिसे पुष्टिमार्गको बचानेकी अतीव आवश्यकता है. आत्मालोचन करके अहंकाररहित होना यह तो गुण है पर हीनभावनाकी मनोविकृतिसे सर्वदा आत्मनिंदा करनी यह या तो मानसिक रोग या फिर पाखण्ड ही होता है. इसीलिये श्रीमहाप्रभुजीने व्याकुल होकर सूरदासजीको कहा था "सूर ह्वैके काहे घिघियात है! कछु भगवल्लीला गा".

सत्यपरायण या नीतिपरायण होना या लोकोपकाररत होना यह तो

पुष्टिपंथके पथिकके रूपमें नहीं पर मानवयोनिमें जन्म लिया इस कारण ही हमारा कर्तव्य बन जाता है. उदाहरणत: मोटरगाडी रास्तेपर बायीं ओर चलानी यह अपना कर्तव्य एक पुष्टिमार्गीयकी हैसियतमें नहीं पर एक नागरिककी हैसियतमें है. मानों कि ऐसा कोई मानसिक रोग फैल निकले कि बहुत सारे पुष्टिमार्गीय भी रास्तेपर बायीं ओर मोटर चलानेके नियमकी अवहेलना करके दायीं ओर मोटर चलाते पुलिसद्वारा पकडे जायें, तो हमें क्या ऐसा उपदेश देना "कण्ठी बंधानी या ब्रह्मसम्बन्ध लेकर सेवा करनी यह सब पाखण्ड है ; पुष्टिमार्गीयोंका सच्चा कर्तव्य तो मोटरगाडी रास्तेपर बायीं ओर चलानी इतना ही है"!

विवेकबुद्धिसे विचार करनेपर हमें समझमें आयेगा कि पुष्टिमार्गीय हो या इतरमार्गीय, आस्तिक हो या नास्तिक, यदि मोटरगाडी चलानी है तो आर.टी.ओ.के नियम नागरिककी हैसियतमें पालने ही पडेंगे. इसलिये पुष्टिमार्गीयके रूपमें हमारे प्रमुख कर्तव्य भगवत्सेवाको हम मोटरको बायीं ओर चलानी उसके साथ तुलना करके नीचे पटक नहीं सकते. वैसे ही सत्य, नीति या लोकोपकार आदिमें निष्ठा रखनी यह मानवयोनिमें जन्म लिया इससे ही प्राप्त है. पुष्टिपंथकी यात्रा तो उसके बाद (और पहले भी) प्रारम्भ होती है. इसलिये सत्य, नीति या लोकोपकार आदि मानवधर्मोंके साथ भगवत्सेवा या पुष्टिधर्म की तुलना करनी यह आत्मघाती चिन्तन हमें लक्ष्य तक पहुँचानेवाला नहीं किन्तु गलत मार्गकी ओर आगे बढानेवाला हो सकता है. पुष्टिमार्गीय जीव यदि राक्षसयोनिमें या पशुयोनिमें जन्में तो बात अलग है, अन्यथा सत्य, नीति या लोकोपकारपरायण होना यह तो मनुष्यमात्रका कर्तव्य है. पर उससे प्रभुसेवाको आडम्बर (ढोंग) माननेका या गौण माननेका श्रीवल्लभाचार्यके अनुयायी होनेके रूपमें हमें अधिकार सर्वथा ही नहीं है.

श्रीहरिरायजी इसीलिये शिक्षापत्र (३२।१-५) में आज्ञा करते हैं—

कामाविष्टे क्रोधयुते संसारासक्तिसंयुते। लोभाभिभूते सततं धनार्जनपरायणे॥१॥
दयाविरहिते रूक्षे नित्यं सन्तोषवर्जिते। शोकाकुले भयाक्रान्ते विषयध्यानतत्परे॥२॥
अहङ्कारयुते क्रूरे दुष्टपक्षैकपोषके। ज्ञानमार्गीस्थिते सर्वसाम्यचिन्तनभाविते॥३॥
लौकिकेऽसन्मुखे कृष्णजनवैमुख्यसंयुते। कृष्णलीलादोषदृष्टौ तथा कर्मजडेपि च॥४॥
आचार्यविमुखे नित्यमसद्वादविभूषिते। एतादृशे च हृदयं हरि: नाविशते क्वचित्॥५॥

अर्थ - कामावेशवाला, क्रोधवाला, संसारासक्तिवाला, लोभसे अभिभूत हुआ, केवल धनार्जनमें ही परायण ऐसा, दयारहित, रूखा, सदा असन्तुष्ट, शोकसे आकुल, भयसे आक्रान्त, विषयोंके ध्यानमें पिरोया हुआ, अहंकारवाला, क्रूर, दुष्टपक्षका पोषक, ज्ञानमार्गीय रंगसे रंगा हुआ, सभी देवरूप या सभी धर्मसम्प्रदाय एक ही हैं ऐसे दुराग्रहसे भरा हुआ, लौकिक, असन्मुख, कृष्णजनोंसे विमुख, कृष्णलीलामें दोष देखनेवाला, कर्मजड, आचार्यविमुख और असद्वादमें ही रस लेनेवाला चित्त भगवानमें चौंट नहीं सकता, भगवानका आवेश ऐसे चित्तमें हो ही नहीं सकता.

साधनप्रकरणमें जहाँ वृक्षोंके उदाहरणद्वारा भगवानने गोपबालकोंको परोपकारका उपदेश दिया है उसके सुबोधिनीजी इस विषयपर बहुत ही मननीय हैं. "अथ ज्ञानं निरूप्यते, अन्यथा गोपालानां अनर्थपर्यवसानं स्यात्. तैः यदि अन्यार्थता बुद्ध्येत् तदा क्रमेण भगवदर्थम् एव सर्वम् इति ज्ञानं भवेत्. अतः तेभ्यो परार्थतां विद्यां प्रथमपर्वरूपां बोधयितुं भगवान् स्थानान्तरे जगाम. गोपैः वृतो भगवान् भक्तोद्धारार्थं प्रवृतो वृन्दावनाद् दूरं गतो वृन्दावनं परित्यज्य अग्रे गतः, वृन्दावनस्य तु स्त्रीप्राधान्याद् ज्ञानं न भविष्यति इति".
अर्थ - यदि भगवान स्वयं ज्ञानोपदेश न करें तो अपने सखा गोपबालकोंका अनर्थनिवारण नहीं होगा. यदि गोपबालक परोपकारमें कुछ समझने लगें तो जीवको जो कुछ मिला है वह भगवत्सेवाकेलिये मिला है यह सिद्धान्त भी अन्तमें समझेंगे. इसलिये विद्याके प्रथमपर्व वैराग्य - परोपकारके उपदेशकेलिये भगवान वृन्दावन छोडकर आगे पधारते हैं, क्योंकि भगवानको स्वार्थमय अहन्ता - ममतात्मक संसारसे भक्तोंका उद्धार करना है. पर यह उपदेशकेलिये भगवानने वृन्दावनका चयन न करके कोई दूसरे ही स्थलको योग्य समझा. उसका कारण यह है कि वृन्दावनमें तो स्वार्थभाव होता ही नहीं है. सब भगवदर्थ (भगवानकेलिये) ही है वैसा भाव स्थिर होनेसे परार्थ - परोपकारका उपदेश वहाँ योग्य ही नहीं.

सिद्धान्तानुसार स्वार्थ, परार्थ और भगवदर्थ ऐसे क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठता स्वीकारनेमें आई है. श्रीमहाप्रभुजीके मतमें पुष्टिजीवोंकेलिये कोई भी परिस्थितियोंमें भगवत्सेवासे ऊंची लोकसेवा नहीं हो सकती. फिर भी स्वदेहसेवा - स्वार्थकी अपेक्षा परोपकार - परार्थपर अधिक भार यदि नहीं दिया जाये तो पुष्टिजीवका भी अनर्थमें पर्यवसान हुए बिना नहीं रहता.

इसलिये

१. स्वार्थ यह अधर्म है,

२. परार्थ यह अपना धर्म है, पर

३. भगवदर्थ सब जानना और करना अर्थात् भगवत्सेवा तो अपनी धर्मिपरायणता है. श्रीमहाप्रभुजी सुबोधिनीजी १०।२६।३२ में आज्ञा करते हैं "धर्मिविचारो धर्माद् अपि अधिकः" अर्थ : धर्मिविचार = धर्मीमें निष्ठा साधनी यह धर्मकी अपेक्षा उत्तम है.

भगवत्सेवा यह धर्मिविचार है, लोकोपकार यह धर्मविचार है और स्वार्थपरायण होना यह अधर्म है —ये ही सच्चा पुष्टिमार्गीय विवेक है और ये ही अपने यहाँका Order of duties है.

अपने इस सिद्धान्तको बहुत ही सुन्दर शब्दोंमें महर्षि अरविन्दो आधुनिक भाषा और भावमें अभिव्यक्त करते हैं.

Humantiy is not the highest Godhead. God is more than Humanity, but in humanity too, we have to find & serve Him.

अर्थ : मानवता ईश्वरत्वकी उच्चतम अभिव्यक्ति नहीं है. ईश्वर या भगवान मानवतासे कुछ अधिक ही हैं, पर मानवतामें भी हमें भगवानकी खोज और सेवा करनी चाहिये.

यहाँ 'Too' 'टू' शब्द प्रयुक्त हुआ है. और उसकी सही ध्वनि यदि समझें तो वस्तुतः समझमें आयेगा कि भगवत्सेवाकी तुलनामें लोकोपकार कोई प्रमुख कर्तव्य नहीं. पर अपनी अहन्ता - ममताभरी स्वार्थवृत्तिको छोडकर भगवानकी ओर आगे बढनेकेलिये परोपकार या लोकोपकार भी एक पहली सीढी है. पर सीढी चढनेकेलिये होती है, बैठे रहनेकेलिये नहीं. सीढीपर बैठ जानेकी मनोवृत्ति हारे - थके हुए हृदयके रोगीकी होती है ; स्वस्थ मनुष्य तो सीढियाँ चढकर जहाँ पहुँचना हो वहाँ पहुँचकर ही रहता है! "भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः नान्यथा भवेत्।"

श्रीहरिरायजी सेवाफलके दूसरे श्लोककी टीकामें आज्ञा करते हैं: "परोपकारादेस्तु धर्मस्य गौणधर्मत्वज्ञानेन त्यागः कालान्तरे वा करणम्. एवम् अन्यत्रापि सर्वत्र हरिचरणरतिप्रतिबन्धविभंजनी बुद्धिः अनुसन्धेया". अर्थ - वस्तुतः परोपकारादि धर्मोंको गौणधर्म समझकर उनका त्याग करना चाहिये

या सेवा करनेके बाद जो समय बचे उतना समय परोपकारादि धर्माचरणमें लगाना चाहिये. पतेकी बात इतनी ही है कि अपनी भगवत्सेवामें कोई भी हेतुसे या कोई भी प्रकारसे प्रतिबन्ध न आये इस बातकी पूरी सावधानी पुष्टिजीवको सर्वदा बरतनी चाहिये.

श्रीपुरुषोत्तमजी उपर कथित "भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः नान्यथा भवेत्" की व्याख्यामें कहते हैं "एतत्सृष्टिकरणाभावे अधिकार्यभावाद् भगवतो रूपसेवा एव न भवेत्. तथा रूपसेवां चेत् न कारयितुम् इच्छेत्, तान् न सृजत, नामसेवायाः देवान्तरैः अपि सम्भवात्". अर्थ- यदि पुष्टिसृष्टि भगवत्सेवा न करें तो प्रभुकी दूसरी कोई सृष्टिसे रूपसेवा हो सकेगी ही नहीं. भगवानको भी यदि अपनी रूपसेवाकी इच्छा न हो तो पुष्टिमार्गीय जीव प्रकट ही न होते. क्योंकि नामसेवा तो मर्यादामार्गीय जीव भी कर सकता है.

तात्कालिक आवश्यकता और सनातन आवश्यकता का तारतम्य समझना बहुत जरूरी है. वह यदि भूला दिया जाये तो धर्मका आधार सनातन सत्य नहीं रहेगा और युगयुगमें बदलती हुई हमारी आवश्यकताएँ उसका स्थान ले लेगी. पुष्टिमार्ग मनुष्यके इतिहासके ऐसे कालकेलिये सीमित धर्म नहीं है कि जिसमें लोग भौतिक प्रकारसे कष्टमय जीवन ही व्यतीत करते हों. वह तो कालातीत धर्मी श्रीकृष्णपर अवलम्बित है. "कालाधिको हरिश्चात्र पुरुषोत्तम एव च" (वेणुगीतसुबो. कारिका ४). उदाहरणतः पानीके बाढसे पीडित या दुष्कालसे पीडित मानवसमुदायकी सेवाको यदि हम अपना परमधर्म मान लें तो जिस साल बाढ न आई हो या जिस साल दुष्काल न पडा हो वह साल अपना या तो बिना धर्माचरणका जायेगा, या तो खाली दवाईखानेमें बैठे हुए डॉक्टरकी भांति हम भी भगवानसे अन्तर्मनमें प्रार्थना करते हो जायेंगे कि "प्रभु मुझे आर्तजनोंकी सेवाका अवसर दे!" पर यह एक शुद्ध मनोविकृति है. एकको सेवाका मौका मिले इसलिये अनेकोंको मुसीबतमें डालना?

आर्तजनोंकी सेवा यह अपना स्वभाव होना चाहिये, सिद्धान्त नहीं. कामना तो मनमें यही अच्छी कि कोई जीव कभी भी मुसीबतमें पडे नहीं. "सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाक् भवेत्।" इसलिये शाश्वत् आधारपर नित्यकर्म होना चाहिये, और वह है भगवत्सेवा. तात्कालिक

आवश्यकताके आधारपर नैमित्तिक कर्म होते हैं, उसमें हम लोकोपकारको भी गिन सकते हैं. यही तारतम्य धर्मपरायण और धर्मिपरायण होनेमें भी है. ''सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:, स्वस्य अयमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन''.

प्र. ६८ क्या वर्णाश्रमधर्मका त्याग शुद्धपुष्टिमार्गमें आवश्यक है?
उ. ६८ पहले तो इस धारणा और इस भ्रम का हमारे मनमेंसे निराकरण हो जाना चाहिये कि शुद्धपुष्टिकक्षा आज हममेंसे किसीकी है. किसीकी भी हो ही नहीं सकती. शुद्धपुष्टिकी यह बात मैं नियमके रूपमें नहीं कहना चाहता परन्तु प्राय:वादके रूपमें कहना चाहता हूँ. नियम और प्राय:वादमें अन्तर क्या? प्रभु चाहें तो किसीको भी शुद्धपुष्टिकी कक्षा मिल सकती है, परन्तु वैसा प्राय: दिखलाई नहीं देता.

शुद्धपुष्टिकी कक्षाका चाहे कुछ भी अर्थ लिया जाय, परन्तु अत्यन्त सरलतासे शुद्धपुष्टि और मिश्रपुष्टि का भेद हमें समझना हो तो यह बात ख्यालमें रखनी चाहिये कि प्रभु प्रकट हो जाय और प्रभुके प्रकट होनेके बाद प्रभुके स्वरूपसे, प्रभुकी लीलासे, लीलाके अनुभवसे हमारे भीतर भक्ति प्रकट हो तो शुद्धपुष्टि कही जाय. और प्रभु प्रकट नहीं हुए और अपने भीतर भक्ति पहले प्रकट हुई और भक्ति प्रकट होनेके बाद भक्तिके कारण प्रभु प्रकट हो तो मिश्रपुष्टिकक्षा कही जाय. प्रभुके प्रकट होनेके कारण भक्ति प्रकट हो तो शुद्धपुष्टि.

तो शुद्धपुष्टिमें हम ऐसा पूछें कि वर्णाश्रमधर्मकी आवश्यकता है या नहीं? तो यदि इसका सीधा अर्थ हम सरलतासे करें तो यह होता है कि प्रभुके प्रकट होनेके कारण भक्ति जहाँ प्रकट हुई है ऐसी भक्तिके प्राकट्यमें वर्णाश्रमधर्मकी आवश्यकता हो तो जो मिश्रपुष्टिका दृष्टान्त है उसमें तो सुतरां आवश्यक है. उसमें तो कहनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रही.

इतनी बात है कि व्यसनदशा हो जाय तब वर्णाश्रमधर्म आवश्यक है यह कहना ही व्यर्थ हो जाता है. कोई धर्मकी आवश्यकता नहीं है. और सब छूट गया तो फिर कहनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है. यदि वर्णाश्रमधर्मकी ओर ही किसीका अधिक ध्यान रहे तो वह

स्नेहात्मिका भक्ति कैसे सिद्ध कर सकता है? उसकी क्रिया, उसका विचार –यह सब बंट नहीं जायेगा? एक सीधी बात यह है कि कोई शुद्ध भक्ति कर रहा है इसलिये भोजन नहीं करता हो ऐसी बात नहीं है. शुद्ध पुष्टिभक्ति कर रहा है इसलिये निद्रा नहीं करेगा ऐसी बात नहीं. शुद्ध पुष्टिभक्ति कर रहा है इसलिये बेटा-बेटीका विवाह नहीं करेगा? जैसे लौकिक करेगा वैसे वैदिक भी करेगा. और जब अभिमान टूट गया, व्यसनके कारण लोकसम्बन्धी अहन्ता-ममता टूट गई, उस वक्त सुतरां वेदसम्बन्धी अहन्ता-ममता भी टूट जायेगी. उस समय न लौकिक निभा सकेंगे और न ही वैदिक निभा सकेंगे. बाकी नहीं टूटी तब तक "लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा।" वह कपटसे करेगा ही.

प्र. ६९ मीराबाई जैसे महान भक्तोंके पद हमारे पुष्टिमार्गमें क्यों नहीं गाते?

उ. ६९ अपन महाप्रभुजीके तेलुगु पद भी नहीं गाते, क्योंकि हमें या ठाकुरजीको तेलुगु नहीं आती! महाप्रभुजीने लिखे इसलिये गाने ऐसे नहीं ; हमें आते हैं इसलिये गाने. नहीं तो महाप्रभुजीसे अधिक पुष्टिमार्गमें कौन है?

मीराबाईका भाव है– "जलकर भई भस्मकी ढेरी अपने अंग लगा जा, जोगी मत जा मत जा मत जा". अपनी सेवामें ऐसा भाव ही नहीं कि अपनी भस्म ठाकुरजीको लगायें. मैं मीराके भावकी निंदा नहीं करता. ये दिव्य भाव है, विरहकी तीव्र वेदनासे निकली वाणी है. पर वो उसे उसके गिरिधरके प्रति शोभा देता है ; तुम भस्म ठाकुरजीके श्रीअंगपर कैसे लगाओगे? मीरा तो जाने दो, सूरदासजीके भी कितने ही पद अपन नहीं गाते हैं, वे तो पुष्टिमार्गीय हैं तो भी ; क्योंकि वह भाव सेवामें उपयोगी नहीं है. जो सेवा हो रही है उसे गानी है. वह न हो तो पद चाहे महाप्रभुजीके, सूरदासजीके या मीराबाईके क्यों न हो, अपन नहीं गाते. मीराने गाये वो उसके गिरिधरनागरने सुने, सराहे. वो सब स्वाद जानता है कि मीराके पदोंका भाव क्या है. पर अपन वो स्वादको न तो जानते हैं और न ही

समर्पित करते हैं. क्योंकि अपना भाव सेवाका है ; उसे वे माफिक नहीं आते.

अपन जयदेव महाप्रभुजीसे पहले हो गये उनके, तथा निम्बार्क, हित हरिवंश, चैतन्य, आदि सम्प्रदायके कवियोंके पद भी गाते हैं, क्योंकि वे सेवाके भावमें उपयोगी हैं. गाने या न गाने का touchstone (कसौटी) यही है कि सेवामें उस भावकी उपयोगिता है या नहीं? वो ऊँचा भाव है या नीचा यह अपन नहीं सोचते. भले स्वयं भगवानने भी गाये हो, पर वे सेवामें उपयोगी हैं या नहीं? सम्प्रदायका होना या न होना हेतु नहीं है. वे भाव यदि ऐसे हैं कि जो सेवामें निखार लाते हैं, उल्लास प्रगट करते हैं, सेवामें जान ले आते हैं तो बस, अपन गाते हैं. नहीं तो "असमर्पितवस्तूनां तस्मात् वर्जनमाचरेत्", जिसकों सेवामें समर्पित नहीं कर सकते उसका त्याग करते हैं ; नहीं गाते हैं.

प्र. ७० "कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मति" और "लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा" इन श्लोकोंका तात्पर्य समझाईये. कलिमें सब मार्ग दुःसाध्य हो गये हैं और श्रीमहाप्रभुजीने भक्तिमार्ग ही दिखाया है, तो आपश्रीद्वारा उपदिष्ट भक्तिमार्ग कौनसे प्रकारका?

उ. ७० एक दिन एक भाईने मुझे कहा कि सब मार्ग नष्ट हो गये, "सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि" तो भक्तिमार्ग कैसे सलामत रह गया? मुझे सचमुच वो प्रश्न सुनके मज़ा आ गया. उपर्युक्त दो वाक्योंके तात्पर्यको समझनेकी जरूरत नहीं है ; इन वाक्योंके सच्चे अर्थको आज अपन जी रहे हैं! क्योंकि भक्ति, जो महाप्रभुजीने हरेकको या धंदेके रूपमें करनेकी नहीं कही थी ; उसका हमने धंदा किया है. महाप्रभुजीने भक्तिको पूरी जीवनप्रणालीके रूपमें कही थी, हमने उसे ही जबरदस्त wastage of time, money & energy का ritual कर्मकाण्ड बना दिया! यही अर्थ तो सच्चा है इस वचनका, कि "कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः".

महाप्रभुजीने एक सीधी सरल रेखा खींचनेकी कही थी. पर सबसे बडी पंचायत यही है कि सीधी रेखा नहीं खींची जा सकती ; टेढी-मेढी

रेखा तो हरेक आदमी खींच सकता है. एकबार सीधी रेखा खींचनेका प्रयत्न करके देखो ; हाथ कांपेंगे. सामान्यतया नहीं कांपता होगा, पर जब जिम्मेदारी आयेगी तब कांपने लगेंगे और रेखाको टेढी-मेढी बना देंगे. तो सीधी रेखा खींचना ये सबसे टेढा काम है. जो जीवनकी सरलता सहजता है उसे निभाना सबसे मुश्किल काम है. "बसकि दुश्वार हरेक कामका आसां होना, आदमीको मयस नहीं इन्सान होना" –गालिब. हरेक कामका आसान होना बहुत मुश्किल है, क्योंकि आदमीका आदमी होना ही कठिन है. इसलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्याः". सचमुच अपन कुछ भी साधन करने जायेंगे तो ऐसे घोटाले ही होंगे. पर प्रभु यदि अपनी भक्ति लेना चाहते होंगे तो घोटाले नहीं होंगे. तो मैं भक्तिका व्यावसायिक प्रदर्शन नहीं करुंगा, नाटक नहीं करुंगा, भागवतका ड्रामा नहीं करुंगा.

आज अपन भागवतका नाटक करते हैं. कँई भागवतसप्ताह सुनके लोग निरस हो गये कि "कँई बार सुना, उसमें नया क्या है?" इसलिये फिर demonstration शुरु हुए– नृसिंहलीला हो उसमें एक आदमी नृसिंह बने, दूसरा प्रह्लाद और फिर नृसिंहलीलाका Audio-visual demonstration हो. उसमें एक बार ऐसा हुआ कि एक आदमी, जो नृसिंह हुआ था, उसे अधिक आवेश आ गया. तो हाथ-पाँव ज्यादा पछाडे, उसमें वहाँ मेयर बैठे थे उनको चपत लग गई. तो पुलीस उसे ले गई! नृसिंहजी हिरण्यकशिपुको मार सकते हैं पर भागवतके ऐसे नाटकमें स्वयं ही arrest हो जाते हैं! भगवानको किस दर्जे पर पटकते हैं ; कैसे अपन भगतडे हैं? कभी शान्तिसे सोचो. भागवत जैसा भक्तिका अमूल्य ग्रन्थ क्या चंदा इकठ्ठा करनेकी निम्नवृत्तिका हथकंडा हो सकता है? कभी नहीं हो सकता. भगवत्सेवा, जो इतनी गरिमामय आराधना थी, वो क्या व्यवसाय हो सकती है? कभी नहीं हो सकती. ये हमारे खडे किये भक्तिके नाटक हैं ; महाप्रभुजीका सिद्धान्त नहीं है. पर हमें ऐसा ही सब करना पसन्द है, क्योंकि "आदमीको मयस नहीं इन्सान होना". आदमी आदमी नहीं होता है यही समस्या है ; गधा हो जाता है. महाप्रभुजी कहते हैं "लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा". यदि तुम लोकार्थिताके भावसे भक्तिका नाटक करना

चाहोगे तो भक्ति तुम्हें कठिन पडेगी, पडेगी और पडेगी. ऐसी लोकार्थिता हृदयमें हो तो दूसरे धंदे करो.

एक गोस्वामी महाराज मुझे कहते थे कि तुम बहुत निंदा करते हो मार्गकी, पर यदि सेवा/मन्दिरके धंदे बंद हो जायेंगे तो तुम्हें बूटपालिश करनी पडेगी! मैंने कहा– "बहुत अच्छा होगा. भगवान करे कि मुझे वो धंदा मिले. मैं वो धंदा करुंगा तो मेरा आत्मसन्मान निभेगा. क्योंकि वो बूटपालिशकी डब्बी मेरी जेबमें होगी. शनिवारकी, रविवारकी, जितनी छूट्टी मनानी होगी उतनी मनाऊंगा. जो दिन करनी होगी वो दिन करुंगा. जिसके बूटकी पालिश करनी होगी उसके बूटकी करुंगा. पर मन्दिरके धंदेमें आठ दर्शन नहीं खोलूंगा तो भगतडे सब हल्ला मचायेंगे कि दर्शन क्यों जल्दी नहीं खोले?"

अरे पर खोलनेकी जरूरत ही क्या थी? तुम क्यों घरमें सेवा नहीं करते? महाप्रभुजीने कहाँ कहा है कि तुम घरमें सेवा मत करो और ऐसे दर्शन करो? अपनने सेवाका धंदा खडा किया इसलिये हमें डर लगता है कि सेवाका धंदा नहीं करेंगे तो बूटपालिश करते हो जायेंगे! मैं तो कहता हूँ वो सम्माननीय धंदा है. प्रभुको बेचनेके बजाय अपना श्रम बेचना ये ज्यादा सन्माननीय धंदा है. वो करना चाहिये यदि भूखे मरते हो तो. पर प्रभुको नहीं बेचना चाहिये. क्योंकि "अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि, अतो मयि रतिं कुर्यात् देहादिर्यत् कृते प्रियः". श्रम बेचनेमें कोई गुनाह नहीं, बुद्धि बेचनेमें कोई गुनाह नहीं, पर मेरा इमान बेचना ये तो बहुत बुरी बात है. और मेरे इमानकी तुलनामें मेरा इमान जिसकेलिये है वो प्रभुको बेचना ये तो और भी गर्हित बात है.

मैं मेरे प्रभुको न बेचुँ, न बेचुँ और न बेचुँ ऐसा सुदृढ भाव हो तो ही भक्तिमार्गमें आना चाहिये. और प्रभुको ही बेच खानेकी इच्छा हो तो भक्तिमार्गमें नहीं आना चाहिये. भागवत और भगवानके ही क्यों नाटक करने? और भी तो कितने सम्माननीय धंदे हैं! सरकार finance देती है, बैंक लोन देती है ; स्मोल-स्केल इन्डस्ट्री खोल दो, नहीं तो साईकिलकी या पानकी दुकान खोल दो. आज तो विकासकी कैंई शक्यताएँ हैं. एक भगवानका, भक्तिका ही धंदा क्यों करते हो

ये समझमें नहीं आता. भक्ति तो जीवनप्रणाली है. धंदेकेलिये नहीं ; जीवनमें जीनकेलिये है. उस जीवनप्रणालीका भी तुम धंदा करो तो एक कहावत है "एक घर तो दायन भी छोडती है" पर तुमने एक भी घर नहीं छोडा. इसकी बडी पंचायत है. इसलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा".

प्र. ७१ मालापहिरावनीका भाव क्या है?

उ. ७१ हमें विश्वास है कि जो भगवत्सेवक है वो मरता नहीं. "स्वस्थः शेते मृत्युरस्माद् अपेति" वो मरता नहीं, वो केवल भगवत्सेवाका स्थल बदलता है. यह मूल मालापहिरावनीका भाव था. गुजरात और सौराष्ट्र में उसका प्रचलन है.

पर कुत्तेकी पूंछ टेढी सो टेढी! वैसे मृत्युको भुलानेकेलिये 'वैकुण्ठवास / कैलासवास / गोलोकवास / नित्यलीलाप्रवेश' जैसे शब्द इस्तेमाल करना हमने शुरु किया, पर हमने वो सबका अर्थ वापस मृत्यु कर दिया! किसीके ब्याहमें अपन "रामनाम सत्य है" कहें तो गुस्से हो जायेगा ; जैसे कि रामनाम ब्याहमें सत्य न हो, मृत्युमें ही सत्य हो! वो तो त्रिकालाबाधित सत्य है, पर अपनी पूंछ टेढी सो टेढी. हमें लगता है कि मृत्युके वक्त ही वो सत्य है, बाकी ब्याहके वक्त वर-वधूका, उनके माता-पिता, सगे सम्बन्धी, आमन्त्रितों का नाम सत्य, पर रामनाम सत्य नहीं! हमें रोनेकी आदत पड गई है अतः हृदयमें ऐसा भाव भर गया. और भाव भर गया तो हमें justification चाहिये कि मालापहिरावनी क्यों? तो किसीने जवाब गुडका दिया कि वैकुण्ठके दरवाजे खुलते नहीं वो खोलनेकेलिये! ऐसे अगडं-बगडं अर्थसे घबराना नहीं चाहिये.

मालापहिरावनीका शुद्ध भाव यह है कि जो भगवत्सेवक है वो भगवत्सेवामें गया है तो जाते वक्त जयश्रीकृष्ण कहना भूल गया होगा. तो पुत्र उसकी ओरसे जयश्रीकृष्ण कह दे, अपन भगवानके गुणगान करें और भगवद्भावको निभाये रखें –इसका नाम मालापहिरावनी. इस अर्थमें मालापहिरावनी मुझे बहुत पसन्द है.

पर कोई वैकुण्ठके दरवाजे बंद करना चाहता हो, तो गोस्वामी

बालकोंकी तो कभी भी मालापहिरावनी नहीं होती, तो उनकी क्या गति हो? हमारे लिये क्या सब दरवाजे बंद? फिर क्यों हम भक्तिका उपदेश दें, क्यों हम मार्गमें आचार्य रहें ; यदि हमारे लिये दरवाजे बंद हो तो? तो ऐसा भाव रखना ही नहीं चाहिये कि वैकुण्ठके दरवाजे बंद रहेंगे. दरवाजे खोलने या बंद करनेके साथ मालापहिरावनीका कुछ भी सम्बन्ध नहीं.

उसका सम्बन्ध है अपने भावके साथ, कि जो व्यक्ति गया है वो प्रभुके साथका भावात्मक सम्बन्ध निभा रहा है और वो हमें भी निभाना चाहिये. "भगवान् एव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि". तो भूतलपे प्रकट हुए भगवानकी सेवा करना यह सच्चा फल है. मरनेके बाद स्वर्गमें जाये या नर्कमें, भक्तकेलिये सब समान है. भक्ति निभती हो तो नर्क भी अच्छा और न निभती हो तो मुक्ति भी बेकार है. महत्त्व भक्तिमय जीवन जीनेका है ; भक्ति निभे तो वैकुण्ठ या भूतलमें बहुत फर्क नहीं. तो वैकुण्ठकी नहीं, भक्तिकी चिंता रखो. किसीको जाना ही हो तो मैं बीचमें नहीं आता, पर इस बातकी चिंता मत रखो, उसे प्रभु पर छोड दो. तुम्हारे घरमें सेवा बिराजती हो तो तुम्हारा घर वैकुण्ठ है ऐसे श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं. वैकुण्ठनायक तुम्हारे घरमें बिराजता है. दयारामभाई तो कहते हैं "भवोभव मांगुं हुं भगवत्सेवा रे, वैकुण्ठ न मांगु". श्रीयमुनाजी हमें भक्तिका दान दे इसलिये श्रीयमुनाजीको भोग धरें. ये भावसे मालापहिरावनी करो, वैकुण्ठकी चिंतासे नहीं.

प्र. ७२ अपने यहाँ निःसाधनतापें भार दिया जाता है, तो प्रभुको कैसे पा सकें? साधन नहीं तो एकादशी - जयन्तीव्रत आदि क्यों हैं?
उ. ७२ एक बात समझो कि निःसाधनताका मतलब साधन न करने ऐसा नहीं है. निःसाधनताका मतलब है– प्रभु मेरे साधनसे नहीं मिलेंगे, अपनी कृपासे मिलेंगे. इस अर्थमें निःसाधनता है. अतः मुझे साधन नहीं करने हैं ऐसा नहीं है. मेरे जो कुछ साधन हैं वे तो मुझे करने ही चाहिये. पर प्रभु मिलेंगे मेरे साधनके बलसे नहीं, अपनी कृपाके बलसे. 'साहिब कैसे मिले?" "जैसे आप हमको मिले".

इस बारेमें कँई भ्रमणाएँ हैं. एक अक्सर पुष्टिमार्गकी मजाक उडाते जानेमाने धर्मोपदेशक कहते थे कि "श्रीकृष्णः शरणं मम" रटनेसे प्रभु प्रसन्न होनेवाले नहीं. ऐसा कह कहकर अष्टाक्षर तो छुडाया, पर बदलेमें क्या बताया? कि सुबह उठकर हाथ देखने, ऊंगलियाँ देखनी, भगवानको धन्यवाद देने कि रातको सो गये तब शरीरमें खून बनाया खाया उसका ... तो धन्यवाद देनेसे क्या भगवान प्रसन्न हो जायेंगे? यदि अष्टाक्षरसे भगवान प्रसन्न न हो तो ऊंगलियाँ देखनेसे, हाथ देखनेसे भी न तो भगवान प्रसन्न होंगे और न ही भगवानको अपने धन्यवादकी कोई गरज है.

कोई भी साधनाको समग्रतासे देखना चाहिये. अपने यहाँ ऐसा नहीं कहा गया है कि अष्टाक्षरसे श्रीकृष्णको प्रसन्न करते हैं. अपन तो ऐसा कहते हैं कि श्रीकृष्ण मेरेपे प्रसन्न हैं इसलिये मुझे अष्टाक्षर जपना चाहिये. पुष्टिमार्ग कृपा पानेका मार्ग नहीं, कृपासे मिलता मार्ग है. अपन ऐसा मानते ही नहीं कि कोई भी तरहसे कोई भी मार्गसे पुष्टि पाई जा सकती है. पुष्टिके कारण भक्तिका मार्ग हमें मिलता है ; प्रभु मेरेपे कृपा करे तो मेरेमें प्रभुके प्रति भक्ति प्रगट होगी.

इस अर्थमें अपने यहाँ निःसाधनता कही गई है ; साधन करने नहीं इस अर्थमें नहीं. साधन तो अष्टाक्षरका जप, गद्यमन्त्रका जप, सेवा, कीर्तन-श्रवणसे लेके आत्मनिवेदन तक नवविध भक्ति, आचार्यचरणका आश्रय, कथा आदि अनेक करने हैं. मेरे साधनसे प्रभु मिलनेवाले नहीं. प्रभु मिलनेवाले हैं इसलिये मैं साधन कर सकता हूँ, मुझसे साधन हो सकता है. प्रभुको साधनकी अपेक्षा नहीं इसका ऐसा अर्थ नहीं है कि हमें साधन करने नहीं हैं. अनेक भक्त्यात्मक साधन करने हैं. शास्त्रवर्णित साधन भी अपन छोड नहीं सकते, क्योंकि "यावद् देहाभिमानः तावत् वर्णाश्रमधर्म एव स्वधर्मः". देहाभिमान है तब तक खाना, सो जाना, धंदा, बच्चोंका ब्याह कराना ... कौनसे साधन अपनने छोड दिये? सभी अपनाये हैं. तो शास्त्रविहित साधन कैसे छोड सकते हैं? नहीं छोड सकते. इस अर्थमें निःसाधनता नहीं है. हमें तो अपनेसे जो कुछ स्वधर्म होता हो वो करना चाहिये. "स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्, इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयम्". अतः

उपवास करनेकी श्रीमहाप्रभुजी, गुसांईजी, हरिरायजी सबने आज्ञा की है. कारण साधना न करनी ऐसा अपने सिद्धान्तका तात्पर्य ही नहीं है. साधनसे प्रभु मिलनेवाले नहीं ये सिद्धान्त है.

प्र. ७३ बहिर्मुखता माने क्या? "यदा बहिमुखा यूयं" ये शिक्षाश्लोकीका तात्पर्य क्या है?

उ. ७३ शास्त्रमें परमात्मा, जीवात्मा, देह और देहसे सम्बन्धित विषय –इस तरह विषयकी व्यवस्था की गई है. दूसरे शब्दोमें कहे तो अन्तर्यामी दृष्टा, कर्ता-भोक्ता, क्रियाकी अभिव्यक्तिका स्थल ऐसा देह और देहसे प्रकट होती आत्माकी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति के विषयरूप जो कुछ देहसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएँ हो वे.

अब जैसे अपन कहें "फलाने भाई अभी घरमें नहीं, बाहर गये हैं" ; तो घरकी कोई दीवार होनी चाहिये जिसके सन्दर्भमें हम कह सके कि दीवारकी इस तरफ हो तो घरमें है और उस तरफ हो तो घरके बाहर है. जैसे घरके भीतर या बाहर का विभाजन घरको बनानेवाली दीवारसें अपन करते हैं, वैसे आत्मा बहिर्मुख है या नहीं इसका निर्धारण करनेकी दीवार कौनसी? यह देह. ये देह एक दीवारकी तरह है, जिसके भीतर आत्मा घुसके बैठा है.

शास्त्रमें कहा है "परांचि खानि व्यतृणोत् स्वयम्भू तस्मात् पराक् पश्यति नान्तरात्मन्. कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्". अपनी आँखका, कानका, वाणीका, क्रियाका प्रायः जो प्रवाह (function) है वो बाहरकी ओर मुडा हुआ है. देखनेकी हमें इच्छा होती है तो बाहर क्या विषय है ये देखनेकी इच्छा होती है. अपने घरमें दस झघडे होते हो, पर पडौसीके घरमें चलते झघडे देखनेकी इच्छा होती है. "पराक् पश्यति". पडौसी कहे कि तुम्हारे यहाँ क्या झघडे नहीं होते? हमारे यहाँ क्यों झांकते हो? सबके घरमें झघडे होते हैं, पर हमें खिडकीमेंसे झांकनेकी इच्छा होती है कि पडौसीके घर क्या झघडा हो रहा है? पूरा प्रवाह वैसा है. दूसरे क्या करते हैं, क्या है, कैसे है ये देखने-सुननेकी इच्छा होती है. बाहर देखनेकी वृत्ति है. हरेक इन्द्रियका प्रवाह, फिर चाहे वो ज्ञानेन्द्रिय हो या कर्मेन्द्रिय

हो, प्रवाह बाहरकी ओर मुडा हुआ है. इसीलिये टी.वी. देखना हो तो हम चार-पाँच घंटे तक देख सकते हैं. उसमें चित्त चौंटानेकेलिये ज्यादा प्रयासकी जरुरत नहीं पडती, क्योंकि बाहर दिख रहा है. पर आँख मींचकर हृदयमें ध्यान धरनेका कहें तो तीन मिनिट भी ध्यान नहीं धर सकते! द्रश्य तुरत बदल जाता है. क्योंकि "पराक् पश्यति". इन्द्रियोंका प्रवाह बाहर सरलतासे मुडता है. भीतर मोडनेका प्रयास करें तो वो विद्रोह करता है ; एक-दो मिनिट तक मुडे और फिर भटक जायेगा. अपन आँख मींचकर ध्यान धरते हो और कुछ आवाज आये तो आँख खोलकर देखनेकी इच्छा हो जाती है. पर हृदय निरन्तर धब-धब धडक रहा है ; ये धडकन सुननेकी कभी इच्छा होती है? ये धडकनपे तो अपना जीवन टिका हुआ है, फिर भी वो सुननेकी इच्छा हमें नहीं होती. और बाहर कोई फटाका फूटे तो सुनाई पडते ही देखनेकी इच्छा होती है कि गाँवमें क्या हुआ. क्योंकि "पराक् पश्यति" सभी इन्द्रियोंका प्रवाह बाहरकी ओर मुडा हुआ है, भीतरकी ओर नहीं. जैसे पानीका सहज स्वभाव ढलानकी ओर जानेका है. बांध बांधकर रोके तो उपर चढता है, नहीं तो ढलानकी ओर बहता है. वैसे ही इन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय, बाहरकी ओर मुडी हैं. अर्थात् बहिर्मुखता तो व्यक्तिमात्रमें रही हुई है.

पर शास्त्र हमें ऐसा समझाता है कि "अहम् आत्मात्मना धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि, अतो मयि रतिं कुर्यात् देहादिर्यत्कृते प्रियः". यह घर हमें अतिप्रिय लगता है तो घरमेंसे हम कचरा निकालकर गाँवमें फैंक देते हैं. गाँवसे घर ज्यादा प्रिय न? क्या कोई ऐसा करेगा कि गाँवका कचरा लाकर घरमें फैंके? किसीको अपना गाँव पसन्द हो तो अपने गाँवसे कचरा निकालकर दूसरे गाँवकी सीमापे रख आयेगा. तो अपने स्नेहके प्रवाहमें प्रियताका कुछ क्रम है– गाँवसे घर प्रिय, घरसे परिवारजन प्रिय, परिवारजनसे देह प्रिय. शास्त्र समझाता है "अहं... प्रियः".

ज्ञानीको आत्मा इतनी प्रिय है कि वो अक्सर देहको छोडकर भी विदेहमुक्तिकेलिये प्रयत्न करता होता है. अज्ञानीको देह इतना प्रिय होता है कि अक्सर देहकेलिये ही सारे प्रयत्न करता होता है. भक्तिका

स्रोत परमात्मामें है. अत: परमात्मा कहते हैं "अहम् आत्मात्माना धात:" जैसे देहके भीतर आत्मा है वैसे आत्माके भीतर अन्तर्यामीरूपमें परमात्मा बिराजमान हैं. "आत्मा सो परमात्मा" अपना सिद्धान्त नहीं. अपना सिद्धान्त यह कि आत्माके भीतर परमात्मा. अत: अपन उसे परमात्मा कहते हैं. जैसे परममित्र मतलब पाँच-दस मित्र हो उनमेंसे जो सर्वाधिक प्रिय हो, जिसके साथ सर्वाधिक मित्रता हो वो. वैसे आत्मामें जो परम हो उसे हम परमात्मा कहते हैं. जैसे दस मन्त्री हो उनमेंसे एक मुख्यमन्त्री या प्रधानमन्त्री होता है. अब दस मन्त्री ही न हो तो किसीको हम प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री कैसे कह सकते हैं?

इस प्रकार भक्तिका सम्बन्ध परमात्माके साथ, ज्ञानका सम्बन्ध आत्माके साथ और कर्मका सम्बन्ध देहके साथ है. देह न हो तो कर्म प्राप्त नहीं होता. देहसे किया गया न हो उसे कर्म नहीं कहा जा सकता. वैसे ही आत्मा न हो तो उसे ज्ञान नहीं कहते. जैसे टेपरेकोर्डर भी बोलता है, ये माईक भी सुनता है, रेडियो भी बोलता है, केमेरा भी देखता है, पर उनमें आत्मा न होनेके कारण अपन उसे ज्ञान नहीं मानते. फोटो माने, रेकोर्ड माने, रेडियो माने, ध्वनि माने, पर ज्ञान नहीं मानते. कोई ऐसे कहता है "केमेराने देखा"? केमेरा देखता नहीं, केमेरामें फोटो खींची जाती है. कोई ऐसा नहीं कहता कि माईक सुनता है ; माईकमें ध्वनि जाती है. वैसे ही "रेडियो बोलता है" ऐसे अपन नहीं कहते, "बजता है" ऐसा कहते हैं. बजना और बोलना इसमें बहुत अन्तर है ; एकमें आत्मा नहीं. तो ज्ञानका स्रोत आत्मामें रहा हुआ है. वैसे ही भक्तिका स्रोत आत्मामें नहीं पर परमात्मामें है. अत: "अहम् आत्मात्मना धात: प्रेष्ठ सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्यात्".

देह क्यों प्रिय है? क्योंकि देहमें आत्मा है. वही आत्मा देहमें न रह जाये तो कौन देहको रखे? डर लगे. बापका देह हो तो बेटेको डर लगे, पत्नीका हो तो पतिको डर लगे ; आत्मा बिनाका खाली पडा हो तो. तो इतने प्रिय देहका हमें डर लगे इसकी वजह क्या? कि देहमें अपनी प्रियता नहीं, आत्माके कारण रही हुई प्रियता है. देहसे सम्बन्धित वस्तुओंकी प्रियता उनके खुदके कारण नहीं पर

देहके साथ सम्बन्ध रखती है इस कारणसे है. बेटा कमाकर हमें खिलाता हो तो प्रिय लगे, पर कमाकर फूंक डाले और हमें न खिलाये तो भले अपना बेटा हो, फिर बहुत प्रिय नहीं लगता, क्योंकि वो देहके काममें नहीं आता. जो देहके काममें नहीं आता उसके साथ प्यारका नाता टूट जाता है. पति कमाकर घरखर्च न दे या पत्नी रोटी न बनाकर टी. वी. देखती रहे तो फिर किसे प्रिय लगे? न लगे. तो पति-पत्नीमें, पिता-पुत्रमें जो प्रियता है वो अपने सम्बन्धके कारण है. सब मेरे देहके अनुकूल होता हो तो मुझे प्रिय लगे और देहको प्रतिकूल होने लगे फिर हमें लगे कि भाई तो है पर वैसे ही है जरा. अपने साथ अच्छी तरह सम्बन्ध नहीं रखता ऐसा हमें लगता है.

तो देहके कारण सभी चीजमें प्रियता है वैसे देहमें प्रियता आत्माके कारण है. उस आत्माको भी ब्रह्मज्ञानी परमात्मामें लीन करना चाहता है, क्यों? यदि उसे परमात्मा आत्मासे अधिक प्रिय न हो तो? इस प्रकार देह यदि प्रिय हो तो आत्माको अपन प्रियतर और परमात्माको प्रियतम कहेंगे. यही बात भगवान समझाते हैं कि "प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि, अतो मयि रतिं कुर्यात् देहादिर्यत्कृते प्रियः". तुम्हें देहादि पदार्थोंमें जो स्नेह जगा है वो दर असल मुख्य स्रोत ऐसे मेरे कारण जगा है. इस मुख्य स्रोत परमात्माकी ओर अपनी स्नेहकी वृत्ति, ज्ञानकी वृत्ति, कर्मकी वृत्तिका मुड जाना उसका नाम भगवदभिमुखता है. और परमात्माकी ओर अपनी ज्ञान-क्रिया-स्नेहकी वृत्तियाँ जब नहीं मुडती तब अपनी बहिर्मुखता है. यहाँसे बहिर्मुखताका निर्धारण करें.

आत्माभिमुखता है पर भगवदभिमुखता नहीं तो भक्तिके सन्दर्भमें किसी प्रकारकी बहिर्मुखता रही हुई है. भले ही वैराग्य हो, तप हो, ज्ञान हो, पर जो भगवदभिमुख नहीं उसे भक्तिमार्गमें अपन बहिर्मुख कहते हैं. वैसे ज्ञानमार्गमें जो व्यक्ति आत्माभिमुख नहीं और देहाभिमुख है उसे बहिर्मुख कहा जाता है. वैसे ही कर्ममार्गमें जो शास्त्रविहित-कर्माभिमुख नहीं और स्वेच्छासे कर्म कर रहा हो उसे बहिर्मुख कहा जाता है. बहिर्मुखताका एक ही अर्थ नहीं है. कौनसे मार्गके हिसाबसे सोच रहे हैं उससे बहिर्मुखताका निर्धारण होगा. जैसे घरमें हो पर बेडरूममें सो

गये हो इसलिये मिलने नहीं आ सकते, घरमें नहीं पर गाँवमें हो, यहाँ ही हो पर अभी दूसरे गाँव गये हो ... तो आदमीके होनेका निर्धारण हम सन्दर्भसे करते हैं. वैसे बहिर्मुखताका निर्धारण भी मार्गके सन्दर्भसे कर सकते हैं.

श्रीमहाप्रभुजी शिक्षाश्लोकीमें समझाते हैं कि जब तुम अपने कर्म / ज्ञान / भक्तिको भगवदभिमुख नहीं कर पाते हो तब तुम बहिर्मुख हो. कर्म इसलिये करना कि वो भगवत्कार्य है. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि भक्त हो गये इसलिये घरमें रहना ये रहनेका उचित हेतु नहीं, पर "भगवत्साहित्ये भगवत्कार्यार्थं वा, अन्यथा न स्थातव्यम्". भगवत्सेवाकेलिये, भगवानके साथ, भगवानका घरमें मजा लेनेकेलिये घरमें रहो तो तुम्हें भक्तिका पूरा मजा मिल पायेगा. ये है अभिमुखता. जब तुम तुम्हारे घरमें भगवत्सेवाकेलिये भगवानके साथ रह रहे हो तो वैसे घरमें तुम सो रहे हो तो भी भगवत्सेवाकेलिये सो रहो हो, जग रहे हो तो भी भगवत्सेवाकेलिये जग रहे हो, घर चलाने कुछ धंदा कर रहे हो तो वो भी भगवत्सेवार्थ तुम धंदा कर रहे हो. तुम ब्याहते हो तो भगवत्सेवार्थ ब्याहते हो. शास्त्रमें शब्द है धर्मपत्नी. जैसे धंदा अकेले आदमीसे न चले तो दूसरे *पार्टनर/शेरहोल्डर* खडे करता है, कि सबकी पूंजीसे ठीकसे धंदा हो, ठीकसे चले. वैसे आदमीको लगे कि मैं अकेला सब धर्म निभा नहीं पाता, तो शास्त्र कहता है कि धर्मपत्नी लाओ. उस पत्नीके सहयोगसे तुम धर्माचरण करो तब वो धर्मपत्नी कही जाती है. धर्ममें सहचारी न हो तो वो सिर्फ पत्नी है, धर्मपत्नी नहीं. जो धर्ममें सहचारी हो वो धर्मपत्नी. तो अपने यहाँ धर्म है "सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:". भगवत्सेवामें सहभागी हो तो पुष्टिमार्गमें धर्मपत्नी है, नहीं तो सिर्फ पत्नी है. तो संसार भी भगवत्सेवार्थ हो तो बहिर्मुखता नहीं लाता पर भगवदभिमुखता लाता है. भक्तिमार्गमें भगवदभिमुखता नहीं निभे तो बहिर्मुखता है. अपना कर्म, ज्ञान, भक्ति, क्रियाकलाप, संसार सब भगवदर्थ होना चाहिये. जो ज्ञान अपन पा रहे हैं वो भगवदर्थ न पा रहे हों तो वो ज्ञान भी हमें बहिर्मुख करनेवाला है. और वही ज्ञानद्वारा हम भगवदभिमुख होना चाहते हों तो वो ज्ञान अपनी भक्तिका अंग बन जाता है. भक्ति भी कोई अन्य देवकी करते हों

तो अपन बहिर्मुख हैं. तो कोई अपने यहाँके हिसाबसे बहिर्मुख हो मतलब सब जगहसे बहिर्मुख ऐसा मत समझना.

कँई लोग बहिर्मुखताको गाली समझते हैं, पर वैसा नहीं है. बात कुछ और ही हो और बोलनेका स्वर अपन ऐसा प्रयुक्त करें कि कुछ अलग ही अर्थ लगे. जैसे एक मुसलमानने हिन्दुसे कहा "तुम तो आज नहाता है फिर ठेठ कल नहाता है, हम तो जुम्मेके जुम्मे"! वैसे कोई मुँह सिकोडकर "बहिर्मुख" बोले तो अपनको लगे कि गाली है. सचमुच गाली नहीं है ; बातका स्वरूप समझाया जाता है.

प्र. ७४ कामादि छह अवगुणोंका सेवामें विनियोग कैसे है? विनियोग होना और करना इसमें अन्तर क्या है?

उ. ७४ अपन धनकी लेन-देन करें उसमें अंधेरेमें कभी खोटा सिक्का आ जाये, फिर हमें दिखे! अब खोटा सिक्का आ गया उसका उपयोग क्या करना? सबसे अच्छा उपयोग यह कि जाके महाराजको भेट धर देना! किसीको नुकसान नहीं और किसीका गुनाह नहीं! वैसे ही कामादि अपनी जेबमें आये हुए खोटे सिक्के हैं. उनका विनियोग करना हो तो कर सकते हो. पर समझनेकी बात यह है कि उन कामादिका भगवानमें विनियोग नहीं करना होता है पर वे कामादि अपने भीतर रहे जिन सामर्थ्योंकी विकृतियाँ हैं उन सामर्थ्योंका भगवानमें विनियोग करना है.

ध्यानसे देखें तो काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य कहनेकेलिये तो छह गुण या अवगुण हैं, पर उनका विभाजन तीन-तीनका है. वे अपने भीतर रहे हुए दो सामर्थ्योंकी विकृतियाँ हैं. ये दो सामर्थ्य हैं अहन्ता और ममता. क्रोध-मद-मात्सर्य अहन्ताकी विकृतियाँ हैं और काम-लोभ-मोह ममताकी विकृतियाँ हैं.

जैसे आयुर्वेदमें वात, पित्त और कफ शरीरमें संतुलनमें हो तो स्वास्थ्य कहा जाता है और असंतुलनमें हो तो बिमारी या अस्वास्थ्य कहा जाता है. स्वास्थ्य मतलब क्या? जैसे और जो तुम हो वैसे और वो तुम रहो उसका नाम स्वास्थ्य. अपनेमें जो स्थित हो वो

स्वस्थ और स्वस्थ होना मतलब स्वास्थ्य. जैसी अवस्थामें तुम सामान्यतया होते हो वैसी अवस्थामें अभी नहीं हो तो तुम अस्वस्थ हो. यह प्राकृत लौकिक देहको वात-पित्त-कफ यों त्रिगुणात्मक प्रकृतिका बनाया गया है. वे अपने अपने सही परिमाणमें स्थित हो तो तुम स्वस्थ हो ; संतुलन बिगडा तो अस्वस्थ. वैसे ही अहन्ता - ममता जितने अंशमें अपने भीतर होनी चाहिये उतने अंशमें हो तो अपन स्वस्थ हैं और वो परिमाणका संतुलन जब गडबडाये तब अपन अस्वस्थ हो जाते हैं. अस्वस्थ अहन्ताके ही नाम क्रोध, मद, मात्सर्य हैं. अस्वस्थ ममताके ही नाम काम, लोभ, मोह हैं. मूल कारण अहन्ता - ममता हैं. उनका जो स्वास्थ्य है उसका विनियोग करना है ; जो खोटा सिक्का है उनका विनियोग नहीं करना है.

अपनी अहन्ता - ममताकी दूसरोंके साथ लेन-देनमें, कि वे उनकी और अपन अपनी अहन्ता - ममता इस्तेमाल करें, कभी खोटा सिक्का आ जाता है. एक भाईको किसीने कहा कि पुष्टिमार्गमें दैन्य ये बडा धर्म है. ये बात उनके गले उतर गई. मूल तो स्वभाव अहंकारका, पर भक्तिशास्त्र समझे और प्रवचन सुना कि पुष्टिमार्गमें दीन होना बहुत जरूरी है, सो ये बात उन्हें जच गई. अब उन्होंने कहा कि दीन हुए बिना चारा ही नहीं. फिर एक वैष्णव उन्हें मिले और पूछा "आप कौन, के यूयं?" उन्होंने कहा "हरिपादपद्मनिरत-श्रीपादपायूदक-क्लिध्यन्-मूत्रलुठन्-पिपीलकवधूदासाः"! वैष्णवने सरलतासे पूछा था कि आप कौन? पर क्योंकि दीन होनेकी बात समझाई गई न, तो उन्होंने अपना नाम न बताकर कहा कि वैष्णव अपने पैर धोये वो स्थलपे जो घास उगे वहाँ जो चींटियाँ फिरे उन चींटियोंके चरणके हम दास हैं! इतनी बडी दीनता! अब सामनेवालेको बुरा लग गया कि क्यों इतना दीन होता है? अब ये भाईने पूछा कि तुम कौन, भवन्तश्च के? तो सामनेवालेको ज्यादा दीन होना चाहिये, इसलिये उन्होंने कहा "श्रीमद्वैष्णव-शिष्यशिश्न-विगलन्मूत्रोत्थ-दिवांकुर-ग्रासासक्त-खरिखुराग्र-रजसं दासानुदासा वयम्". वैष्णव जहाँ हाथ धोये वो स्थलपे जो घास उगे वो घास जो गधा खाये उसके पैरमें जो चींटियाँ आये वे चींटियोंके चरणके हम दास हैं! माने दीनतामें भी competition (स्पर्धा) हो

गई कि कौन ज्यादा दीन? मूल बात दीनताकी थी, पर वो दीनता भी इतनी अधिक हो गई कि अहंकारके रूपमें अस्वस्थ हो गई! कहनेवाला व्यक्ति अपनी दीनता दिखाता है, पर जब दीनताकी स्पर्धा - competition हो गई तब कुछ घोटाला हो गया अस्वस्थताका.

वैसे अपना पूरा व्यवहार अहन्ता - ममताकी लेन - देनका है. अपन अपना परिचय दें कि हम ऐसे और वो कहे तो हम ऐसे और अपने अहंकारको घाव लगे! घाव लगे तो हमें मद हो जाये, मात्सर्य आये, या क्रोध आये ; क्यों वो दीन हुआ? हम उससे ज्यादा दीन हो. एक गाँवमें छप्पनभोग हो तो पासके गाँववालोंको लगे कि वो गाममें छप्पनभोग हुआ और अपने यहाँ नहीं हुआ ये कैसे चलेगा? तो तुरत ही कमेटी खडी हो जाये, चंदा इकठ्ठा हो जाये और एक छप्पनभोग कर डाले! मतलब प्रभुको भोग धरनेकेलिये छप्पनभोग नहीं, पडौसके गाँवमें हुआ इसलिये अपने यहाँ होना चाहिये ऐसी प्रतिस्पर्धाका छप्पनभोग! अक्सर ऐसे छप्पनभोग धरनेमें भी बहिर्मुखता आ जाती है ; भगवदभिमुखता नहीं.

हमारे किशनगढमें ऐसा ही है. रातको जागरण करे तो पूरी रात माईकमें भजन गाये. तो बेचारे मुसलमानोंकी नींद उड जाये. दूसरे दिन उनको गुस्सा आ जाये तो मस्जिदमें रातभर कव्वाली माईकपे गवाये. उसमें हिन्दुओंकी नींद उड जाये. ऐसे कँई बार दो - दो महिने तक स्पर्धा चले! सोने ही न दे पूरे गाँवको. भगवान या अल्लाह को रीझाओ पर गाँवको क्यों त्रास देते हो? पर भक्तिमें भी स्पर्धा हो जाये ; वो माईक लगाये तो ये भी माईक लगाये. इन वृत्तियोंको नाम अपन भक्तिका दे रहे हैं पर हैं बहिर्मुख वृत्तियाँ.

"अर्पणं स्वामिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम्". अर्पण त्याग भी नहीं है और दान भी नहीं है. मेरे पास जो प्रभुको धरने लायक उत्तम चीजें हैं उनको प्रभुकी सेवामें विनियोगमें लानेकी तैयारी मतलब अर्पण. तो कामादि अपने आपमें प्रभुको अर्पणीय नहीं हैं. पर वे जिनकी विकृत्तियाँ हैं वे अपने भीतर रही अहन्ता - ममताको हम प्रभुको अर्पण करना चाहते हैं.

अब एक बात समझो, कि भक्तिमार्गमें और ज्ञानमार्गमें एक अन्तर

है. ज्ञानमार्गमें अहन्ता - ममताको भी विकृतियाँ मानी जाती हैं. भक्तिमार्गमें किन्तु वे तब ही विकृतियाँ मानी जाती हैं जब वे भगवदर्पित न हो. ममता माने मेरापन. ये उपरना मेरा, ये थैला मेरा –ये ममता. अहन्ता माने मैंपन. ये मैंपन ज्ञानमार्गमें तो शत - प्रतिशत विकृति ही है, पर भक्तिमार्गमें वो विकृति तब ही हो सकता है जब वो हमें बहिर्मुख करता हो. और यदि अहंता भगवदभिमुख करती हो तो विकृति नहीं, भगवानका दिया हुआ वरदान है, जिसके कारण मैं कह सकुँ कि हे कृष्ण! मैं तेरा दास हूँ. उसमें अहन्ता है या नहीं? "मैं तेरा दास हूँ" तो मैंपन आया कि नहीं? पर मैं कैसा? विकृत नहीं ; भक्तिसे सजाया सँवारा मैं तेरा दास हूँ. वैसे ही जब अपन ममता साधे कि श्रीकृष्ण: शरणं मम, तो ममता आई या नहीं? "कृष्ण मेरा आश्रय है, मेरा स्वामी है" तो ममता आई या नहीं? किन्तु वो ममता बहिर्मुख करनेवाली विकृत ममता नहीं पर भगवदभिमुख करनेवाली ममता है. वो ममताको हम साधक मानते हैं, बाधक नहीं मानते. तो समझना यह है कि कोई चीज कोई मार्गमें साधक है, कोई चीज कोई मार्गमें बाधक है. कोई भी चीज ऐसी नहीं जो हर तरहसे बेकार ही हो और कोई भी चीज ऐसी नहीं जो फायदेमन्द ही हो. विवेक इसका नाम कि अपन उसकी उपयोगिता समझें, उसका स्थान समझें.

एक भाईको गीतापाठका बहुत आग्रह. गीतापाठ बहुत सुन्दर बात है, क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्" शास्त्र तो एक ही कि जो देवकीपुत्रने गान की वो गीता. पर गीता ठाकुरजीको सुनाने लग जायें तो? ठाकुरजीको आश्चर्य होगा कि मैंने तुम्हें गीता सुनाई और तुम मुझे ही वापिस गीता सुनाते हो? और मजेदार बात तो यह थी कि उस दिन वो भाई ठाकुरजीको सुना रहे थे "बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन:, तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप". "तूने और मैंने अनेक जन्म बितायें हैं, उसका सब रिपोर्ट मुझे तो पता है पर तुझे पता नहीं" –यह बात भगवानने हमें सुनाई थी. वो अपन भगवानको ही सुनायें कि नहीं, तूझे नहीं, मुझे खबर है! भगवान भी परेशान कि यह अच्छा उपदेशक आ गया मुझे सुनानेवाला! तो गीतापाठ अति उत्तम बात है, पर प्रभुके सन्मुख अपन जायें तब

गीता नहीं, पद गाने होते हैं – ये विवेक रखना चाहिये. मौकेपे हर चीज अच्छी लगती है ; अच्छी है तो हर मौकेपे अच्छी ही है ऐसा नहीं है. आठवे वल्लभाख्यानमें आता है "समय जोई शिर नामवा". तो नमस्कार उत्तम बात है पर यथावसर करें तो जचे. बिना अवसर उचित क्रिया भी अनुचित लगती है. और अवसर हो न, तो अनुचित भी कुछ किया तो उचित लगता है – ये विवेक रखना चाहिये.

वैसे कर्म, ज्ञान और भक्ति ये तीनोंमें कब अहन्ता - ममता हेय है और कब उपादेय है, ग्राह्य है इस अवसरका हमें विवेक होना चाहिये. भक्तिमार्गमें तब अहन्ता - ममताकी निंदा की जाती है कि जब वो हमें भगवानसे बहिर्मुख करती हो. पर जो अहन्ता - ममता हमें भगवदभिमुख करती हो वो अहन्ता - ममता अपने यहाँ वंदनीय है, निंदनीय नहीं. आदमी इतना अधिक निरहंकारी हो जाये कि स्वयंको भगवानका दास भी न माने तो ऐसा पत्थर भक्तिमार्गमें क्या कामका? इतना वैराग्य हो गया कि भगवानमें भी उसे अनुराग न रहा तो ऐसा वैराग्य भक्तिमार्गमें क्या कामका? जाओ ज्ञानमार्गमें. भक्तिमार्गमें उस वैराग्यकी अपन किसी प्रकारकी उपयोगिता नहीं मान सकते.

भगवद्विनियोग भक्तिमार्गकी रीतिसे करनेपे अहन्ता - ममता अतिशय स्वस्थ हो जाती है. "क्रीडार्थमात्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते, स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर इश कुर्युः". यह सब भगवत्क्रीडार्थ है, और उस भावानुसार मैं भी भगवत्क्रीडार्थ हूँ, भगवत्सेवार्थ हूँ. "मैं भगवत्सेवक हूँ, भगवान मेरा स्वामी है" इस प्रकार अपन भक्तिसे अपनी अहन्ता - ममताको सजायें तो वही अहन्ता - ममता, जो ज्ञानमार्गमें निंदनीय है, वो भक्तिमार्गमें अतिशय वंदनीय हो जाती है ये समझो. फिर काम भी भगवत्काम आयेगा, क्रोध भी आयेगा तो भगवदीय अहन्ताके कारण आयेगा. वो क्रोध भक्तिमार्गमें बहुत बाधक नहीं होगा, साधक ही होगा.

विनियोग होना अलग बात है और जान-बुझकर विनियोग करना अलग बात है. जान-बुझकर क्रोधादिरूप अस्वस्थताका क्यों विनियोग करना चाहिये? पर अपनी अहन्ता - ममता भगवदीय हो जानेके कारण कभी क्रोध आयेगा तो वो भक्तिका संचारीभाव होगा, भक्तिके अंगरूप होगा. काम भी आयेगा तो भगवदीय काम अर्थात् भक्तिके अंगरूप

काम आयेगा ; जैसे सेठ पुरुषोत्तमदासको बैंगनकी कामना हुई. मात्सर्य भी भक्तिके अंगरूप आयेगा ; जैसे एक लाखकी बोली बोलकर फूल लिया. वे कामादि बाधक नहीं होते, हमें बहिर्मुख नहीं कर पाते, क्योंकि भक्त्यंगभूत हैं. जैसे भक्त्यंगभूत संसार हेय संसार नहीं है. "तावत् कारागृहं गृहं यावत् न तेङ्घ्रिनिगडम्।" यह संसार तब तक ही कारागृह है जब तक इस संसारमें अपन कृष्णको पधरा नहीं लेते. पधरा लिये फिर वो कारागृह कारागृह न रहकर भक्तिका मन्दिर बन जाता है. आज भी तुम मथुरामें जाओगे तो वो कारागृह श्रीकृष्णजन्ममन्दिर है. क्योंकि कृष्ण जहाँ प्रकटे वो स्थल कारागृह नहीं रहता, भगवद्गृह बन जाता है. और जहाँ कृष्ण प्रकट नहीं होता वो गृह कितना भी सुन्दर हो पर वो कारागृह ही है. तो कारागृह - कृष्णगृहका भेद समझो.

यद्यपि प्रश्नमें नहीं पूछा फिर भी मुझे यह बात कहनी पडती है, कि जिसे भगवत्सेवा करनी हो उसे ही ब्रह्मसम्बन्ध लेना चाहिये. जिसे भगवत्सेवा न करनी हो उसे ब्रह्मसम्बन्ध लेना भी नहीं चाहिये और उसे ब्रह्मसम्बन्ध देना भी नहीं चाहिये. देनेपर भी गुनाह होता है और लेनेपर भी अपराध होता है.

ये लोकशाहीने भारतको अनेक लाभ पहुँचाये है इसमें कोई बेमत नहीं, पर एक बडी हानि पहुँचाई है, कि सब धार्मिक उपदेशक और नेता भीतरसे इतने कमजोर हो गये हैं कि सबको लगता है कि यदि मेरे पीछे भीड नहीं होगी तो मैं फैंक दिया जाऊंगा. इसलिये हरेक धर्मोपदेशक बडी - बडी रेली करनेमें विश्वास रखता है, कि हो सके उतनी भीड पीछे इकट्ठी करो. भीड पीछे होगी तो अपन टिक सकेंगे, नहीं तो खत्म हो जायेंगे – ऐसा डर घूस गया है. पर भीड इकट्ठी करनेमें धर्म नहीं निभता ; धर्मका भाव कुचल जाता है. बहुत चेले इकट्ठे करेंगे और उसमे कुछ विचार विवेक नहीं रखेंगे तो वे चेले भारी पड जायेंगे. जिनकी परवरिश ठीकसे न कर पाये उन्हें पैदा कर देनेसे क्या फायदा? बहुत सारे भेड - बकरीकी तरह घरमें भर जायेंगे और अपन परवरिश न कर पायें तो सब मवाली हो जायेंगे!

श्रीमहाप्रभुजी भी सेवा न कर सके उसे ब्रह्मसम्बन्ध नहीं देते थे. तो आज हम दें उसका मतलब ये कि या तो हम श्रीमहाप्रभुजीसे

महान हैं या तो तुम ८४ वैष्णवोंसे महान हो! ये पद्धति सच्ची नहीं. ब्रह्मसम्बन्ध सेवाकी दीक्षा है. इसलिये जिनसे सेवा निभ सके, जिन्हें निष्ठा हो कि मुझे सेवा करनी है, उन्हें ही ब्रह्मसम्बन्ध लेना चाहिये. तुम्हारे घरमें सेवा पधराओ, तुम्हारे घरमें कृष्णको प्रकट होने दो. फिर देखो कि तुम्हारा गृह कारागृह नहीं रह जायेगा, वह ज्ञानियोंको दुर्लभ जीवन्मुक्तिके विलासका स्थान वैकुण्ठ बन जायेगा. क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि भगवान जहाँ बिराजते हैं वो स्थल तो वैकुण्ठ ही है. ब्रह्मसम्बन्ध भगवत्सेवा करनेकी प्रतिज्ञा है, कि मैं तेरी सेवा करुंगा, मैं तेरा दास हूँ, तुझे भूल गया था. तूने जो कुछ मुझे दिया वो तेरी सेवार्थ दिया है, उसका अब मैं तेरे लिये विनियोग करुंगा. आजसे मैं, तेरा दास, तेरी सेवाकेलिये प्रवृत्त होऊंगा. यों प्रभुसेवा करनेकी अपनी घोषणा है प्रभुके सन्मुख. ये शपथ लेकर यदि सेवा ही न करनी हो तो शपथ लेनेका क्या फायदा? ससुराल जाना ही न हो तो शादी करनेसे क्या फायदा? शादी नहीं करोगे तो सिर्फ मायकेवाले दुःखी रहेंगें ; शादी करके ससुराल नहीं जाओगे तो दो घर दुःखी होंगे न? सेवा करनेकी इच्छा या परिस्थिति न हो तो अष्टाक्षर लेकर शरणभावना रखनी यही सच्ची प्राचीन प्रणाली है. इस परिस्थितिमें ब्रह्मसम्बन्ध मत लो.

प्र. ७५ अन्याश्रय मतलब क्या?

उ. ७५ मैंने तुम्हें बहिर्मुखताकेलिये समझाया कि भक्तिमार्गमें भगवद्विमुख होकर केवल मुक्ति पानेके प्रयासको भी बहिर्मुखता कहा जा सकता है, तो ज्ञानमार्गमें कर्मी एवं कर्ममार्गमें स्वच्छन्द कर्मी बहिर्मुख हैं. बहिर्मुखताकी तरह अन्याश्रयके भी अनेक सन्दर्भ हैं.

मूलतः उसमें समझनेकी बात यह है कि आश्रय तुमने किसका किया है? तुमने जिसका आश्रय किया है उसके स्वरूपका तुम्हें ठीकसे खयाल हो तो उस स्वरूपसे जो अन्य हैं उनका आश्रय अन्याश्रय. और अर्थमें मत लेना पर समझानेकेलिये बात कह रहा हूँ. जैसे द्रौपदीने पाँच पांडवोंके साथ पत्नीत्वका सम्बन्ध स्थापित किया उसे शास्त्रमें व्यभिचार नहीं कहा गया, पर कर्णके बारेमें उसे जो मनोविकार हुआ वो शास्त्र

कहता है कि द्रौपदीने व्यभिचार किया. कारण पाँच पांडवोंको उसने पतिके रूपमें वरे थे ; वो व्यभिचार नहीं था. वैसे शास्त्रमें पंचदेवोपासनामें पंचदेवोपासक पाँचों देवोंका आश्रय करता होता है द्रौपदीकी तरह, पर उसे अन्याश्रय नहीं माना जाता, क्योंकि पाँचों देव उसके आश्रय हैं.

अपने यहाँ पंचदेवोपासना नहीं है, कृष्ण एक ही उपास्य है. पर समझना यह है कि कृष्ण ही उपास्य होनेका अर्थ अपन सेवाके बारेमें एक तरहसे लेते हैं, शरणागतिके बारेमें दूसरी तरहसे लेते हैं, श्रवणके बारेमें अलग तरहसे लेते हैं, कीर्तनके बारेमें चौथी तरहसे लेते हैं. इन सबमें अन्यका स्वरूप बदल जायेगा. जैसे वार्तानुसार रामदासजी मीराके घर गये और महाप्रभुजीके पद गाये तब मीराने कहा "कोई ठाकुरजीके पद सुनाओ". तो उन्होंने अतिकठोर वचन कहे कि ठाकुरजीके नहीं तो क्या तेरे खसमके पद गा रहा हूँ? क्योंकि श्रीमहाप्रभुजीमें ठाकुरजीसे अन्य होनेका भाव उन्होंने नहीं रखा था. मीराको महाप्रभुजीके प्रति वो भाव नहीं था, इसलिये उसे महाप्रभुजीके पद सुनके लगा कि यह अन्याश्रय हो रहा है ; कृष्णके ही पद गाये जाने चाहिये. मीरा अपने आपमें सच है, क्योंकि उसे महाप्रभुजीमें वो भाव नहीं जो रामदासजीको है. रामदासजी महाप्रभुजी और ठाकुरजी में भेद नहीं जानते थे, जैसे सूरदासजी. सूरदासजीको पूछा कि तुमने महाप्रभुजीके एक भी पद क्यों नहीं गाये? तो उन्होंने जवाब दिया कि मैंने आज तक श्रीमहाप्रभुजीके अलावा और किसीके पद गाये ही नहीं. जो ठाकुरजीके पद गाये उसमें मैंने ऐसा भाव ही नहीं रखा था कि ये महाप्रभुजीके पद नहीं हैं. ऐसे तो महाप्रभुजीके एक-दो पद ही गाये हैं, बाकी तो ठाकुरजीकी लीलाके ही गाये है, फिर भी उन्हें कभी ऐसा भाव नहीं जगा. ये रामदासजीकी वार्ताके सामनेके छोरकी वार्ता है— रामदासजी महाप्रभुजीके पद गा रहे हैं और ठाकुरजीको भिन्न नहीं गिन रहे ; सूरदासजी ठाकुरजीके ही पद गा रहे हैं और महाप्रभुजीको भिन्न नहीं मान रहे हैं. मीरा कृष्णके ही पद गाना-सुनना चाहती है इसलिये श्रीमहाप्रभुजीको भिन्न मानती है.

तुमने आश्रय किसका लिया है? उससे भिन्नका आश्रय वो अन्याश्रय. जैसे अपने मार्गमें अपन श्रीयमुनाजीको ठाकुरजीसे भिन्न नहीं गिनते, तो

"नमामि यमुनाम् अहम्" कहनेसे अन्याश्रय होगा? कृष्णसे तो अन्य न? पर अपन अन्याश्रय नहीं मानते. श्रीमहाप्रभुजीकी स्तुति करें "आनन्दः परमानन्दः श्रीकृष्णास्यं कृपानिधिः" तो क्या अन्याश्रय होगा? नहीं. श्रीगुसांईजीकी स्तुति करें "न मन्त्रे न तन्त्रे न च ज्ञानसिद्धौ न वैकुण्ठबुद्धिस्तु वैकुण्ठलोके, गतिर्विट्ठलेशे मतिर्विट्ठलेशे रतिर्विट्ठलेशे सदा वै ममास्तु" अन्याश्रय होगा? जो अन्य माने उसे ही अन्याश्रय होगा; जो अन्य नहीं मानते उन्हें अन्याश्रय नहीं. पुष्टिमार्गमें जिन्हें अपन अन्य नहीं मानते उनका आश्रय अन्याश्रय नहीं है.

किन्हें अपन अन्य मानते हैं उसकी व्यवस्था अलग-अलग है, एक समान नहीं है. जैसे श्रीरामजयन्तीके दिन अपन रामचन्द्रजीके पद गाते हैं या नहीं? अन्याश्रय होता है? नृसिंहचतुर्दशीके दिन नृसिंहजीके पद भी गाते हैं "यह व्रत माधो प्रथम लियो, जो मेरे भक्तनको दुःख दे ताको फाडों नखन हियो". नृसिंहजीको कराया गया पंचामृत भी लेते हैं, वामनजयन्ती भी मनाते हैं. और उन्हीं रामचन्द्रजीको यदि नित्यसेवार्थ पधराओ तो अन्याश्रय हो जायेगा. बहुत नाजुक बात समझनेकी है. कहीं कृष्ण भी अन्य हो जाते हैं और कहीं अन्य भी कृष्ण हो जाते हैं. श्रीमहाप्रभुजीके लिखे पद अपन नहीं गाते और निम्बार्क सम्प्रदायके हितहरिवंशजी, हरिदासजी, जयदेवजी इनके पद गाते हैं और अन्याश्रय नहीं मानते. क्योंकि वो बात ऐसी नहीं जो बिना सोचे की हो.

बहुत सूक्ष्मतासे सोचा है कि किस वक्त कौनसे प्रसंगपे क्या चीज कैसे स्वीकारी गई है या नहीं. उदाहरणतः विवाहके वक्त गणपतिपूजन होता है तब सुपारीमें गणपतिका आवाहन, प्रतिष्ठापन, पूजन, विसर्जन होता है. फिर कोई पूछता नहीं कि सुपारीका क्या हुआ; उसमें गणपतिका अनादर नहीं है. ठीक वैसे ही अपने यहाँ समझना है. भागवतमें अपन दशावतारचरित्रका श्रवण करते हैं. श्रीमहाप्रभुजीरचित पुरुषोत्तमसहस्रनाममें लीलामें प्रभुके धारण किये हरेक रूपको कृष्णका स्वरूप मानकर ही एक एक नाम रखा है, उसमें एक नाम शिव भी है. तो भागवतपाठ या पुरुषोत्तमसहस्रनामके पाठमें शिवजीको कृष्णका स्वरूप गिनकर शिव नाम लेना अपन अन्याश्रय नहीं मानते. पर सेवा-पूजामें शिवजी तो क्या, कृष्णका भी अन्याश्रय

मानते हैं, क्योंकि सेवामें अपनने कृष्णके उन स्वरूपोंको नहीं पधराया है. तो अन्याश्रय कैसे है और कैसे नहीं ये बहुत सूक्ष्म विषय है. अपन उसका एक खुलासा नहीं दे पाते. हमें समझना पडेगा कि किस प्रसंगपे कौनसे देवस्वरूपको अन्य माना गया है और किस प्रसंगपे कौनसे देवस्वरूपको अन्य नहीं माना गया. इससे अन्य और आश्रयका खुलासा होगा. त्रिविधनामावलीमें गोकुलकी लीला, मथुराकी लीला और द्वारकाकी लीलाके १०८ १०८ नाम हैं. वहाँ महाप्रभुजी कहते हैं कि गोकुलकी लीलाके पाठसे भक्ति प्रेमावस्थापन्न होगी, मथुरालीलाके पाठसे भक्तिकी आसक्ति अवस्था सिद्ध होगी और द्वारकालीलाके पाठसे भक्तिकी व्यसनदशा सिद्ध होगी ; जिसकेलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि।" तो भक्तिकी वो प्रशंसनीय व्यसनदशा द्वारकालीलाके पाठसे सिद्ध होती है, वहाँ अन्याश्रय नहीं है. पर सेवामें यदि तुमने द्वारकालीलानुसार सेवा की तो उसे फिर अन्याश्रय माना गया है.

बात वो की वो है पर हमें समझ होनी चाहिये. जैसे भजिये आचारके साथ खाने होते हैं, रसगुल्लेके साथ नहीं. जो चीज जैसे शोभा दे वैसे ही शोभ देती है. सब ब्रह्मात्मक है इसलिये पंखेकी सेवा नहीं करते. आदमी एक ही है पर पैरको हाथ लगाना आदर है और सिरको हाथ लगाना आशीर्वाद है. वैसे ही सेवामें द्वारकालीलास्थित कृष्णको भी अन्य गिनते हैं और पुरुषोत्तमसहस्रनामके पाठमें शिवको भी अन्य नहीं गिनते! तो अन्य/अनन्यका निर्धारण करनेसे पहले जो प्रसंग है उस प्रसंगका औचित्य हमें ठीक तरहसे समझना चाहिये.

प्र. ७६ स्वरूपनिष्ठा और धर्मनिष्ठा में क्या तारतम्य है?
उ. ७६ प्रभुके सुखके विचारसे हरेक कार्य करना यह स्वरूपनिष्ठा है. अपने आत्मोद्धारके विचारसे हरेक कार्य करना यह धर्मनिष्ठा है. अपने देहके सुखके विचारसे हरेक कार्य करना यह देहनिष्ठा है. मुझे अच्छा लगता है इसलिये मैं करूँ यह देहनिष्ठा है. मुझे नापसन्द हो पर शास्त्रमें आत्मोद्धारकेलिये जो कुछ करनेका कहा गया है वह मुझे करना ही चाहिये यह धर्मनिष्ठा कही जाती है. मेरे धर्माचरणसे प्रभुको कष्ट

होता हो तो प्रभुके सुखकेलिये मेरा धर्माचरण भी न्योछावर कर दूँ यह स्वरूपनिष्ठा है.

वार्तासाहित्यमें प्रसंग आता है कि पद्मनाभदासजीके यहाँ बनजारा रोता-धोता आया. तब उन्होंने कहा "मैं मेरा धर्म गिरवी रखकर भी तुझे पैसे दिलवा दूंगा, परन्तु तू अभी रोना-धोना बंद कर क्योंकि मेरे गुरुदेव आरोग रहे हैं". इसमें स्वरूपनिष्ठा है, धर्मनिष्ठा नहीं. उन्होंने श्रीमहाप्रभुजीके सुखकेलिये अपना धर्म भी गिरवी रख दिया.

प्र. ७७ असमर्पितवस्तुका त्याग मतलब क्या?

उ. ७७ आज अपन ऐसा गलत अर्थ समझ गये हैं कि ठाकुरजीके सन्मुख धरा जाये वो समर्पित. धरनेमें तो ठाकुरजीके सन्मुख पत्तल, चौकी भी आते हैं; उनका प्रसाद ले सकते हैं? जो कुछ धरा जाये वो लेने लगें तो गाय-भेंसकी तरह पत्तल चबाते हो जाएँ! तो जो धरा जाये वो समर्पित नहीं है. सिद्धान्तानुसार समर्पणका प्रकार समझना चाहिये. आज मन्दिरोंमें तुम ग्राहक और हम दुकानदार इकठ्ठे हो गये तो प्रसाद बेचनेका धुँआधार धंदा चलता है. पर प्रसाद बिकता नहीं, बंटता है. अपन एक रुपैया भेट धरके कहे कि छोटा लड्डु तो दो! यह समर्पण नहीं है. अपन गलत रास्तेपे चढ गये हैं, बहिर्मुख हो गये हैं.

प्रसाद तो भगवत्प्रसन्नता है. वास्तविक आवश्यकता यह है कि व्यक्ति अपने द्रव्यसे अपने माथे बिराजते ठाकुरजीको जो भोग धरे वो समर्पित है. तुम और जगह जाकर कुछ भेट धरो वो समर्पण नहीं, दान है. दान दिये हुए द्रव्यके बदलेमें प्रसाद लें तो दत्तापहार और देवद्रव्यभक्षणका दोष लगता है. तब ऐसा नहीं कह सकते कि ठाकुरजीको धरा है तो? ठाकुरजीको तो पत्तल भी धरी जाती है तो पत्तल क्यों नहीं चबाते? ठाकुरजीको धरनेसे प्रसाद न कहा जा सकता है, न लिया जा सकता है. खरीदा जाता और बिकता प्रसाद समर्पित नहीं; as Good as असमर्पित है. वो तो त्याज्य ही है. सिद्धान्तानुसार जिस पदार्थका ठाकुरजीकी सेवामें विनियोग होता है वो समर्पित है और तदतिरिक्त असमर्पित है ; उनका त्याग करना चाहिये = असमर्पितवस्तूनां तस्मात् वर्जनमाचरेत्।

प्र. ७८ नित्यलीलावाद क्या है? जब भूतलपर नित्यलीला है तो भगवत्कथादिकी क्या आवश्यकता है?

उ. ७८ नित्यलीलावादका तात्पर्य हमें समझना चाहिये. अपन कहीं घुमने जायें. जो फोटो खींचते हैं उन्हें जल्दीसे समझमें आयेगा, कि द्रश्य अतिविशाल होता है. अपनने फोटो खींचा उसके इस तरफ, उस तरफ, नीचे और उपर भी बहुत कुछ देखने जैसा होता है. पर द्रश्यका जितना अंश तुम्हें पसन्द आया उतनेका फोटो तुम खींच लेते होते हो. वैसे ही नित्यलीला ही केवल नित्यलीला है ऐसा नहीं है ये बात तुम समझो. कालके हिसाबसे जो नित्यलीला है वो व्यापिवैकुण्ठमें चल रही है. व्यापिवैकुण्ठ माने क्या? व्यापिवैकुण्ठ सर्वत्र है. महाप्रभुजी कहते हैं कि तुम्हारे घरमें तुम ठाकुरजीको पधराओगे तो घरमें व्यापिवैकुण्ठ प्रगट हो जायेगा. क्योंकि जो सर्वत्र है वो सर्वत्र प्रगट हो सकता है, जो सर्वदा है वो सर्वदा चलता रहता है. सवाल ये नहीं कि वो कहाँ है और कब है. प्रभुकी लीला नित्य है उसका तात्पर्य यह कि वो हरेक कालमें घटित हो रही है. प्रभुकी लीला व्यापिवैकुण्ठमें है अर्थात् वो विश्वके कण-कणमें चल रही है. पर तुम्हें उसका मज़ा लेना आना चाहिये.

न आये तो तुम उपर जाकर भी ठाकुरजीके बदले और सब देखते रह जाओगे. अपन कहते हैं "केसरके हिंडोला अति सुन्दर है, कमसे कम ५-१० हजार तो लगे होंगे". पर तुम किसके दर्शन करने आये थे, केसरके या ठाकुरजीके? तो ठाकुरजी सन्मुख जाकर भी तुम केसरके हिंडोलाके दर्शन करते रह जाओगे. और ठाकुरजीके दर्शन करनेकी वृत्ति होगी तो केसरके हिंडोला न हो तो भी तुम्हें ठाकुरजी ही दिखेंगे. महाभारतमें आता है कि सबको तीर चलाना सिखाकर द्रोणाचार्यने परीक्षा ली. भीमको बुलाकर कहा कि पेडपे कुछ दिखता है? भीमने कहा "अभी पेड ही तोडके तुम्हें दे देता हूँ; जो होगा वो नीचे आ जायेगा". ऐसे आदमी तीर नहीं चला सकते. तीर चलानेकेलिये द्रश्यको पहचानते आना चाहिये. अंतमें अर्जुन आया और उसने जवाबमें कहा कि मुझे तोतेकी एक आँख दिख रही है. जिसे लक्ष्य ऐसे दिखे

वो तीर चला सकता है. भक्तिमें भी ऐसी एकाग्रताकी जरुरत है.

पेड तोडके झंझोडकर जो हो वो सामने लाना ये ज्ञानमार्गकी बात है ; हृदयकी एकाग्रता साधनी उसका नाम भक्ति है. हृदयकी एकाग्रता खण्डित होती चली जाये वैसे धीरे-धीरे उसमेंसे ज्ञान प्रादुर्भूत होता जाता है. जब तुम्हें लगे कि मेरे माथे बिराजते ठाकुरजी ही साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम है तो भक्ति है. और तुम्हें लगे कि भगवान तो सर्वत्र हैं सो तुम सांईबाबामें जाओ, हनुमानमें जाओ, अंबाजीमें जाओ, हाजीमलंगमें जाओ! तो भगवान तो सर्वत्र हैं पर तुम भक्ति नहीं कर रहे हो, तुम ज्ञानमार्गी हो गये. फिर सेवाका ढोंग मत करो, फिर सेवाकी आवश्यकता नहीं रह जाती. ज्ञानमें एकाग्र हो जाओ फिर जिसका ध्यान धरा था वो मूर्ति या प्रतीक को फैंक देनेका होता है, रखनेका नहीं होता, जैसे कि टेक्सी या टांगा. पर तुम्हारी गाडीको पहुँचनेके बाद ताला लगाना होता है, ठीक जगहपे पार्क करनी होती है. वैसे भक्तिमें तुम जिसपे चित्त एकाग्र कर रहे हो उसकी पूरी देखभाल रखनी होती है ; एकाग्र होनेके बाद उसे फैंक देना नहीं होता टेक्सीकी तरह.

ये अन्तर समझोगे तो ख्याल आयेगा कि परमात्मा व्यापक है, सर्वदा सनातन है ये सब बात सच, पर तुम्हारे घरमें बिराजते ठाकुरजीका तुम मज़ा लेने लगो तो वो नित्यलीलाका तुम्हें अनुभव हुआ ऐसा कहा जा सकता है. बाकी तो नित्यलीला तो नित्य चल रही है. वो तुम्हारी फ्रेममें तब आये कि जब तुम भक्तिकी चौखट fix करो. जैसे कैमेराके लेन्समेंसे तुम्हें कितने द्रश्यका फोटो खींचना है वो देख लेते हो वैसे भक्तिके लेन्समेंसे तुम देखो कि भगवानकी चलती नित्यलीलामेंसे कौनसा दृश्य तुम्हें हृदयमें उतारना है.

अवतारको तुम अवतरित नहीं करते, वो स्वयं आता है. वो तुम्हें आकर दर्शन दे तो अवतार है. और नित्यलीलामेंसे व्यापिवैकुण्ठमेंसे जितने द्रश्यका फोटो अपन खींचे उतनी नित्यलीलाकी भूतलपे अपनी अनुभूति कही जाती है. अपन उसे खोजे तब भक्ति है. तो भूतलपर नित्यलीला शत-प्रतिशत है, पर अपन भक्तिके भावसे उसके द्रश्यको खींचनेका प्रयास करें तब ही उसका पूरा अनुभव होता है. ये अवतारकी और नित्यलीलाकी भूतलपे अनुभूतिका भेद है.

प्र. ७९ प्रभु रसरूप हैं, तो रसरूप माने क्या?

उ. ७९ अपने यहाँ यह शब्द बहुत प्रयुक्त होता है कि प्रभु रसरूप है, और अनेक गलतफहमी भी इस बारेमें हैं कि भगवान रसरूप है माने क्या. अभी अंग्रेजी भाषामें अपने एक साम्प्रदायिक ग्रन्थका अनुवाद हुआ उसमें प्रभु रसरूप है इसका अनुवाद किया कि juice हैं! अब juice तो कोई गन्ने, सन्तरेके होते हैं ; वैसे juice तो प्रभु नहीं न. तो जब रसरूप अपन कहते हैं तो कौनसे अर्थमें ये हमें ठीक तरहसे समझना चाहिये.

हर चीजके दो स्वरूप होते हैं– एक चीज जैसी है वैसी और दूसरा उसे अपन जैसी घडे वैसी. उदाहरणत: हमें मकान बंधाना हो तो *आर्किटेक्ट*को अपन बुलायें, वो मकान बांध दे. अब जैसा वो मकान बांध दे वैसा मकान एक रूप है. ये जरूरी नहीं कि उसने जैसा मकान बनाया वो हमें रहनेकेलिये माफिक आ ही जाये. तो अपन क्या करते हैं कि जैसी अपनी अपेक्षा है– यहाँ रसोईघर चाहिये, यहाँ नहानेका, यहाँ सोनेका, यहाँ बैठनेका आदि– तद्नुसार अपन उसमें परिवर्तन लायें. अब यों जो परिवर्तन किया गया मकानमें, वो हमने उसे दिया हुआ रूप है. मकानमें जो रूप नहीं था वो हमने उसे दिया ये मकानका दूसरा रूप है. पत्थर. पत्थर जैसा है वैसा है. पर एक कारीगर उसमें मूर्तिका रूप उभारे वो रूप पहले कहाँ था? कारीगरके हृदयमें या बुद्धिमें. और तराशकर हृदय या बुद्धि में रहा हुआ रूप वो पत्थरमें प्रकट करे तब पत्थर वो रूप धारण कर लेता है. इससे पहले पत्थरमें वो रूप नहीं था.

तो दो रूप हुए– एक तो पत्थर स्वयं जैसा है वैसा और एक कारीगर पत्थरको जो रूप दे वो रूप. उसमेंसे पहला रूप अपन ऐसा समझ सकते हैं कि निरस है और दूसरा रूप कारीगरने दिया हुआ रसरूप है. जो भाव कारीगरके हृदयमें है वो भाव उभरकर पत्थरमें व्यक्त होता है.

अब कोई प्रश्न करें कि पत्थरका जो रूप नहीं था वो उसे देनेमें आया तो उसे पत्थरका वास्तविक रूप कह सकते हैं या नहीं?

यदि वो पत्थरका वास्तविक रूप न हो तो उसे पत्थरका रूप नहीं कह सकते. पर अपनने वास्तविककी परिभाषा अतिसीमित समझ रखी है, क्योंकि पत्थरके वास्तविक रूपको भी वास्तविक कैसे कह सकते हैं? पत्थरका कैसा रूप वास्तविक है? जैसे नदीकिनारे तुम जाओ तो देख पाओगे कि पत्थर धीरे-धीरे पानीसे कटता रहता है और जहाँ पहाड हो वहाँ पत्थर गुडक-गुडककर गोल शालिग्रामजी जैसे हो जाते हैं. अब वो पत्थरका वास्तविक रूप है या पानीने गुडका-गुडकाकर दिया हुआ रूप है? खास करके हिमालयमें यमुनाजी गंगाजीमें ऐसे अनेक पत्थर मिलेंगे. उसे अपन अवास्तविक रूप नहीं कहते. सचमुच तो वो गोल नहीं था, पर प्रकृतिने उसे गोलरूप दिया. समुन्दरके किनारे पहाडोंको हवा काट-काटकर अलग-अलग रूप देती होती है. अब उसे पत्थरका वास्तविक रूप कह सकते हैं या नहीं? वास्तविक ही है. वैसे कोई कारीगर भी पत्थरको रूप दे तो वो पत्थरका वास्तविक रूप ही है.

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि प्रभुको हमने भावनासे दिया हुआ रूप कल्पनाका रूप है अतः वो पारमार्थिक वास्तविक नहीं ; उपासनार्थ कल्पित रूप है या मायासे कल्पित रूप है. पर वो सिद्धान्त अपना नहीं. क्योंकि जैसे पत्थरमें ऐसा सामर्थ्य है कि कारीगर उभारे तो आदमी जैसा रूप उसमें प्रकट हो. देवका, जानवरका जो रूप प्रकट करना हो वो कर सकते हैं. पर पानीमें वो सामर्थ्य नहीं है. पानीमें रूप प्रकट नहीं किया जा सकता. कोई चीजमें दूसरेने उभारा हुआ रूप धारण करनेका सामर्थ्य होता है, कोई चीजमें नहीं होता. वैसे अपने यहाँ परमात्मामें यह सामर्थ्य स्वीकारा गया है कि भावसे अपन जो रूप उभारना चाहते हो वो अपन उभार सकते हैं. इसीलिये कहा गया है "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्".

अपनेमें वो सामर्थ्य नहीं है. तुम मुझे संत मानो, ज्ञानी मानो पर तुम्हारी भावनानुसार मैं शायद ज्ञानी नहीं भी हो सकता, संत नहीं भी हो सकता. तुम्हारी मेरे प्रति दोस्तकी भावना हो पर मैं तुम्हें धोखा दे जाऊँ! क्योंकि मनुष्य पानी जैसा है. उसमें उभारना चाहते हों वो रूप उभरे ये जरूरी नहीं.

पर परमात्माका स्वरूप ऐसा है कि अपन जो भावसे घडे वो भावानुसार वो रूप धारण कर सकता है. इसीलिये कहा गया है "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्, गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः, मृत्युर्भोजपते विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः" कारण क्या? इतने सब कृष्ण प्रविष्ट नहीं हुए थे, एक ही थे. पर जो व्यक्ति जिस भावसे परमात्माको देखना चाहता है वैसा रूप परमात्मा उस व्यक्तिकी वो देखनेकी प्रक्रियासे ही उभार लेता है. वो भावसे तुम परमात्माका दर्शन करो और वैसा रूप परमात्मामें प्रकट हो जाता है! वो रूप परमात्मा वस्तुतः तुम्हारे लिये धारण करता है. इसीलिये सांदीपनिकेलिये कृष्ण सचमुच शिष्य ही थे. अर्जुनकेलिये ज्ञानी होंगे, गुरु होंगे पर सांदीपनिकेलिये तो शिष्य ही हैं. और उतने पक्के शिष्य कि जिसे समझाना पडे, सिखाना पडे. अर्जुनकेलिये वे सर्वज्ञ गुरु परमात्मा हो सकते हैं. इस प्रकार परमात्माके रूप अति विविधतासभर हैं. जैसे गोकुलमें कृष्ण माखन चुराते हैं और गीतामें कृष्ण कहते हैं कि चोरी नहीं करनी चाहिये. अब दोनोंमेंसे कौनसा रूप सच्चा ; उपदेशकका या माखनचोरका? तुम्हारे भावानुसार तुम एक रूपको सच्चा कहो और एकको असत्य कहो तो तुमने कृष्णकी हकीकत नहीं पहचानी. कृष्ण सर्वं खलु इदं ब्रह्म है ; सब रूप उसने धारण किये हैं अतः उसके सभी रूप सच्चे हैं. इसीलिये जो मल्ल थे उन्हें बिजली गिरनेवाली हो वैसा रूप दिखाई दिया. जो मनुष्य थे उन्हें लगा कि कोई श्रेष्ठ नर आ रहा है. स्त्रियोंको लगा कि साक्षात् कामदेव पधार रहे हैं. गोपबालकोंको लगा कि ये तो हमारा स्वजन ग्वालिया ही आ रहा है. जो दुष्ट राजाएँ थे उन्हें लगा कि हमें दंड देनेवाला कोई आ गया, जो आज तक नहीं आया था. पर देवकी और वसुदेव को ऐसा नहीं लगा. उन्हें लगा कि ये तो हमारा प्यारा बेटा आ रहा है अत्यन्त कोमल. उन्हें डर लगा कि कंस उसे मार तो नहीं देगा न? और जिस कंसका उन्हें डर लग रहा था वो कंसको क्या लगा? तो भागवतकार कहते हैं "मृत्युः भोजपतेः।" कंसको लगा कि ये तो साक्षात् मृत्यु आई. उसे कृष्ण नहीं दिखे, स्वयं मौत गले लगाने आती दिखी!

तो प्रभुके ये सभी रूप सच्चे, पारमार्थिक हैं. पर एक बात समझो कि जो रूप प्रभु जिसकेलिये धारण करते हैं, या जो रूप प्रभु जिस भावका अनुसरण करके धारण करते हैं, वो रूप वो भावक व्यक्तिकेलिये ही होता है, सबकेलिये नहीं होता. अर्थात् मृत्यु आ रही है ऐसे दर्शन वसुदेव-देवकीको नहीं होंगे और छोटा कोमल बालक आ रहा है ऐसे दर्शन कंसको नहीं होंगे. तो दोनोंकी जुबानी ले कि कौन आया तो जज घबरा जायेगा. क्योंकि एककी जुबानीमें आयेगा कि फलाने दिन फलानी तारीखको इतने बजे मुझे मृत्यु आती दिखी थी. दूसरा कहेगा कि नहीं नहीं, एक छोटा बालक आया था. तीसरा कहेगा कि नहीं, एक ग्वालिया आया था. चोथा कहेगा कि ग्वालिया नहीं, वो तो अतिश्रेष्ठ मनुष्य था, नरवर था. तो सब गवाह एक-दूसरेसे विपरीत बात करेंगे और केस चल ही नही सकेगा कि कौन आया था और कौन नहीं. इसका नाम ब्रह्म. उसे श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं विरुद्धधर्माश्रय. "प्राकृतधर्मानाश्रयमप्राकृतनिखिलधर्मरूपमिति, निगमप्रतिपाद्यं यत्तच्छुद्धं साकृति स्तौमि". वो विरुद्धधर्माश्रय होनेसे सभी विरोधी धर्मोंको धारण कर सकता है ; इतनी सिफतसे कि जिसका जो भाव हो उसे वैसे दर्शन हो.

हैदराबादके म्युझियममें एक बडी संगेमरमरकी मूर्ति है. वो मूर्ति एक ही है और एक ही अदासे खडी है. पर इस ओरसे वो मूर्तिको देखो तो लगे कि एक शूरवीर योद्धा खडा है और पीछे जाकर देखो तो एक सुन्दर नाजुक स्त्री खडी है विनयसे. है एक ही पत्थरकी मूर्ति ; उसमें कोई दो विभाग नहीं है. अर्थात् एक ही हाथ इस तरफ योद्धेका हाथ है और उस तरफ स्त्रीका हाथ है. इस तरफ शूरवीरताका और उस तरफ नजाकतका भाव वो कलाकारने उभारा है! पर उसकेलिये तुम्हें आगे पीछे जाना पडता है. प्रभुकेलिये ये आगेपीछे जानेकी भी जरूरत नहीं. कोई कलाकार ऐसा स्वरूप नहीं घड सकता कि जरा भी हटे बिना एक ही वक्त एक ही स्थलपे एक कालावच्छेदसे हरेक देखनेवालेको अपने अपने भावानुसार वैसे वैसे दर्शन हो. ये तो बहुत गजब बात है. कारीगर मनुष्यकी सामर्थ्य बहुत क्षुद्र सामर्थ्य है ; उसकी तुलनामें अनन्तगुना सामर्थ्य प्रभुमें है भावको अनुसरनेका. अजंतामें

जो बुद्धकी मुख्य मूर्ति है उसमें वैसा ही है, कि सामनेसे प्रकाश डालो तो शांतभाव है और इस तरफसे प्रकाश डालो तो करुणाका भाव है. मूर्तिका मुख एक ही पर तुम किस ओरसे प्रकाश डालते हो तदनुसार भाव बदल जाता है. पर वो भी प्रकाश अलग-अलग दिशासे डालो तो अलग-अलग भाव मुखमें दिखता है. सबको एक ही वक्त सब भाव दिखे ये तो प्रभुमें ही सम्भव है, जैसे "मल्लानां अशनि...".

तो द्रष्टाके भावका अनुसरण करके द्रश्य बननेका सामर्थ्य मतलब रसरूपता. महादेवलीलामें महादेवजी कहते हैं कि ये ब्रह्म है, परमात्मा है. यशोदाजी कहते हैं "भाई डर जायेगा, ऐसी जटा देखकर मेरा लाला डर जायेगा". अब डर जायेगा या डरा देगा ये कैसे समझना? दोनो बात सच्ची है. यशोदाजीकेलिये डर जानेवाला लाला है, महादेवजीकेलिये सारे जगतको डरानेवाला वो कालका भी काल है. उसमें दोनों ही रूप सम्भव हैं.

श्रीमहाप्रभुजी अति सुन्दर आज्ञा करते हैं कि देवदानवयुद्धके समय भगवान गरुडपे बिराजके पधारे उसके दर्शन दोनोंको हुए ; देवताओंको भी और दानवोंको भी. पर दर्शन करनेमें अपने अपने भावानुसार एक अन्तर था, कि देवताओंको ऐसे दर्शन हुए कि गरुडपे बिराजके विष्णु पधार रहे हैं. और दानवोंको ऐसे दर्शन हुए कि विष्णु बिराजे हैं जिसपर ऐसा गरुड आ रहा है. बात वहाँकी वहाँ है, पर कौन आ रहा है उसका भाव बदल गया. अपने घर मान लो कि अपनी बेटी और दामाद दोनों आते हो तो माँ-बापको क्या लगेगा? कि दामादके साथ बेटी आ रही है. क्योंकि प्रधानता हमें अपनी बेटीकी लगती है. तो जैसा जिसका भाव वैसा दिखता है ; आ तो दोनों ही रहे हैं.

इसलिये प्रायः अपने यहाँ ऐसा होता है कि मनोरथमें हमें ठाकुरजी नहीं दिखते, केसरके हिंडोला दिखते हैं. अपन पूछें तो कहें "हम केसरके हिंडोलाके दर्शन कर आये". उसमें ठाकुरजी कहीं गुम गये!. कोईको पूछें "कहाँ जा रहे हो?" तो कहेगा "छप्पनभोगके दर्शन करने जा रहे हैं". मतलब अपनी दृष्टि छप्पनभोगके भोक्ताके दर्शन

नहीं करती, छप्पनभोगके दर्शन करनेमें फँस गई! यही रसरूपता है ; किसीको भोगका तो किसीको भोक्ताका रस लेना होता है. जैसा जिसके हृदयका रस वैसे उसे दर्शन होते हैं. भोगका जिसे रस है वो दर्शन करने जाये वहाँ ठाकुरजी भी बिराजते होंगे और भोग भी सजाया होगा पर दृष्टि कहाँ जायेगी उसका प्रश्न है. कोई केसरके हिंडोलाके, फूलमण्डलीके दर्शन करता है ; उसमें ठाकुरजी खो गये. "यद्-यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तद्-तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय". ठाकुरजी कौस्तुभमणि क्यों धारण करते हैं? तो श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि इसलिये कि दर्शन करनेवालेकी दृष्टिमें लक्ष्मीकी प्रधानता हो तो कौस्तुभमणिमें दृष्टि फँस जाये और ठाकुरजी फिर खो जायें. शृंगार प्रभु इसलिये धारण करते हैं कि जिसे दर्शन न देने हो उसके सामने टेरा खींचनेकी जरूरत नहीं ; वो शृंगार ही टेरा बन जायेगा. अपन शृंगारके दर्शन करेंगे पर जिसे शृंगारा गया है उसके दर्शन करना चूक जायेंगे. और जिसे प्रभु वो भाव, वो दृष्टि दे कि जो स्वरूप तक पहुँच सके उसे शृंगारके दर्शन नहीं होंगे ; जिसका शृंगार हुआ है उसके दर्शन होंगे.

इसीका नाम रसरूपता. जिसके हृदयमें जो भाव हो उस भावको प्रभु अनुसरते हैं. अपन अपने भावका शोधन करें, पुष्टिभावसे अपन दर्शन करनेका सोचे तो पुष्टिप्रभु हमें दर्शन देंगे. और प्रवाहीभावसे दर्शन करने जायेंगे, फूलमण्डलीके, छप्पनभोगके, हिंडोलाके, तो बस उन्हीं मनोरथोंमें कहीं प्रभु खो जाते होते हैं ; हमें दर्शन नहीं होते. उस फूलमण्डलीके, छप्पनभोगके दर्शन हो जाते हैं और पुष्टिभावका उस स्थितिमें रसाभास हो जाता है.

प्रभु रसरूप है उसमें एक तो यह बात है. और दूसरी बात यह कि जैसे भावसे प्रभुके हम दर्शन करें और जो भावका अनुसरण करके प्रभु अपना स्वरूप अपने समक्ष प्रकट करे वो भाव और उस भावका अनुसरण करनेवाला स्वरूप दोनों प्रभुके ही दो रूप हैं, उसमें भेद नहीं. उदाहरणतः यह आसन ट्युबलाईटके प्रकाशके कारण चमक रहा है तो ट्युबलाईट एक अलग चीज है और आसन एक अलग चीज है. पर ट्युबलाईट स्वयं चमक रही है अपने प्रकाशके कारण,

तो प्रकाश और ट्युबलाईट दो चीज नहीं, एक ही चीज है. आसन और ट्युबलाईटका प्रकाश दो चीज हो सकती है पर ट्युबलाईट और उसका प्रकाश दो चीज नहीं, एक ही चीज है. वैसे ही प्रभु और प्रभुके प्रति अपना भाव दो चीज नहीं, एक ही चीज है. रसखानजी कहते हैं "प्रेम हरिको रूप है ज्यों हरि प्रेमस्वरूप, एक होई दोउ दो लसें ज्यों सूरज और धूप". सूर्य और सूर्यका प्रकाश दो चीज नहीं, एक ही चीज है. फिर भी दो रूपमें भासमान होते हैं ; एक गोल आकृतिके रूपमें और एक प्रकाशके रूपमें. वैसे ही प्रभुके प्रतिका भाव और प्रभु स्वयं दो रूप नहीं हैं, एक ही रूप हैं. इस अर्थमें भी प्रभुको रसरूप कहा जाता है.

प्रभु भावके रूपमें अपने हृदयमें भी बिराजमान हैं, और उस भावसे अपन प्रभुके दर्शन कर रहे हैं उस दृष्टिमें बाहर भी प्रभु बिराजमान हैं. दृष्टि और हृदय दोनोंमें बिराजमान होनेसे अन्तः और बाह्य दोनों प्रभु ही हैं. अत: अपने यहाँ प्रभुको आरसी दिखानेमें आये वो कैसे दिखानेमें आती है? एक बार अपन ठाकुरजीको सीधी रखकर आरसी दिखाते हैं कि प्रभु स्वयं अपना स्वरूप देखे. फिर आरसीको तिरछी करके अपन आरसीमें प्रभुका रूप देखते हैं ; अपनी दृष्टिमें भी जैसा आरसीमें आया है वैसा प्रभुका स्वरूप आना चाहिये. और फिर आरसी हृदयसे लगानेकी पद्धति है अपने यहाँ. वो इसलिये कि आरसीमें जितना स्पष्ट रूप आपका झलकता है वैसे मेरे हृदयमें भावरूपसे स्पष्टतया आप बिराजो. तो दृष्टिमें जो रूप है प्रभुका और हृदयमें जो भावरूपसे बिराजते हैं वे दोनों एक ही रूप हैं, दो रूप नहीं. "रूप बेऊ एक ते भिन्न थई विस्तरे" (-सातवाँ वल्लभाख्यान). एक ही रूप दो रीतिसे लीला कर रहा है ; एक ठिकाने भावरूपसे और दूसरे ठिकाने भावका आलम्बन बनकर. इस अर्थमें भी अपन प्रभुको रसरूप कहते हैं.

अब कोई उसे गन्नेके रसकी तरह juice रूप मानें तो ऐसे अर्थमें प्रभु रसरूप नहीं ये तो समझ जानेकी बात है. कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि शृंगारिक रूप ही रसरूप है, प्रभुका शृंगाररूप होना ही रसरूपता है. पर वो तो रसरूप है इसलिये शृंगारात्मा भी प्रभु

हैं ; शृंगारात्मक है इसलिये रसरूप नहीं हैं. "रसो वै सः रसं लब्ध्वा आनन्दी भवति" ऐसे श्रुति है. इसलिये प्रभु रसात्मक है अर्थात् हरेकके भावरूपमें और भावके आलम्बनरूपमें वो विद्यमान रह सकते हैं. इस अर्थमें रसरूप हैं, इस अर्थमें प्रभु आनन्ददायक हैं. तो किसीके शृंगारभावका भी वे आलम्बन बन सकते हैं इस अर्थमें शृंगारात्मक भी प्रभुको मानते हैं ; इसमें संकोच करनेकी जरूरत नहीं, पर रसका अर्थ केवल शृंगार ही नहीं यह बात स्पष्ट समझ लेनी जरूरी है.

प्र. ८० सर्वभाव और सर्वात्मभाव में क्या अन्तर है?

उ. ८० शास्त्रमें जगतके प्रादुर्भावकी अनेक प्रक्रियाओंका वर्णन किया गया है. व्यवहारमें भी किसीके प्रादुर्भावकी अनेक प्रक्रियाएँ होती हैं. अपन बीज बोयें वो अंकुरित होता है, वृक्ष बनता है, पत्ते-पुष्प-फल बनता है –ये उत्पत्तिकी एक प्रक्रिया है. उत्पत्तिकी एक प्रक्रिया ऐसी भी है कि कसेरा ताम्र-पित्तलको पैदा नहीं करता, उनकी घडाई करता है. तो जो घडाई करनेवाला कसेरा है और जिस बरतन आदिका घाट घडा गया उन दोनोंमें हमें अभेद प्रतीत नहीं होता. तीसरी एक प्रक्रिया यह भी सम्भव है कि दूधका दही बन जाये. घडा या कलश बननेमें ताम्रका ताम्रपन या पित्तलका पित्तलपन खो नहीं जाता, पर दूधमेंसे दही बन जाये फिर उसे अपन दूध नहीं कह सकते, दही ही कहते हैं. वैसे ही बीजमेसें वृक्ष हो फिर भी बीजको अपन वृक्ष नहीं कहते या वृक्षको बीज नहीं कहते. ये सब उत्पत्तिके ही उदाहरण हैं पर तीनोंके स्वरूप अलग-अलग हैं. एक चौथी प्रक्रिया श्रीशंकराचार्यजीने समझाई है कि अंधेरेमें अपन जाते हों और रस्सी लटकती हो और हमें उसमें सर्पकी भ्रांति हो. कहनेकेलिये अपन कह दें कि रज्जुमें सर्प उत्पन्न हुआ पर वास्तविकतया न तो रज्जुमें सर्प उत्पन्न होता है और न ही उत्पादित सर्प रज्जुमें कुछ परिवर्तन लाता है. सिर्फ रज्जुकी सर्पके रूपमें भ्रमणा होती है.

तो ब्रह्ममेंसे जगत या जीव उत्पन्न हुए इसमें इनमेंसे कौनसा दृष्टान्त ठीक बैठता है? हरेक दार्शनिक विचारक अपना मनपसन्द दृष्टान्त खोज निकालकर उसके आधारपे बातको समझता और हमें समझाता

है. पर दृष्टान्तसे हरेक चीज समझमें आती है, सिद्ध नहीं होती. इसीलिये शास्त्रमें कहा है कि "लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः" दृष्टान्त और प्रमाणसे वस्तु सिद्ध होती है. दृष्टान्त तो वस्तुको सिर्फ समझानेकेलिये है ; सिद्धिकेलिये तो प्रमाणकी जरूरत पडती है. जैसे इस माईकका मैं दृष्टान्त दूँ कि ऐसा ही माईक मैंने फलानी जगह देखा था. पर देखा था वो खिलोनेका माईक था या सच्चा? तो दृष्टान्तमात्रसे ये माईक है ऐसा सिद्ध नहीं होता. पर मैं बोलता हूँ वो इस साधनके कारण तुम्हें जोरसे सुनाई देता है इसलिये ये माईक है –यों प्रमाण देनेसे माईक सिद्ध हो सकता है. यदि जोरसे न सुनाई दे तो माईक जैसा भले ही लगता हो ; वो माईक है ये सिद्ध नहीं हो सकता.

सभी वेदान्ती इस बारेमें सहमत हैं कि ब्रह्मके बारेमें अगर कोई प्रमाण है तो वो है शास्त्रके वचन. क्योंकि ब्रह्मको हम चक्षुसे देख नहीं पाते, कारण ब्रह्ममें ऐसा लौकिक रूप नहीं है. तर्कसे भी ब्रह्म सिद्ध नहीं होता. पर जैसे "मेरा पिता कौन?" ऐसा प्रश्न हो और माँ कहे "ये तेरा पिता है" तो माँके वचनसे जैसे पिताका अस्तित्व सिद्ध हो, वैसे शास्त्रके वचनसे ब्रह्मका अस्तित्व सिद्ध होता है. नहीं तो प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हो सके वैसी चीज ब्रह्म नहीं है.

वो शास्त्र ब्रह्ममेंसे जगतका प्रादुर्भाव ऐसे समझाता है कि "स वै नैव रेमे, स द्वितीयम् ऐच्छत्. स आत्मानं स्वयम् अकुरुत. स हैतावानास. स वै सर्वमिदं जगत्." ब्रह्म अकेला था ; ब्रह्मके अलावा और कोई चीज नहीं थी. उस ब्रह्मने ऐसा सोचा कि मैं अनेक रूप धारण करुँ "हन्ताहं नामरूपाभ्यां व्याकरवाणि". अनेक नाम अनेक रूप धारण करके जो मेरा अस्तित्व है उसका मैं विस्तार करुँ. जैसे एक ही बीज अनेक पत्र-पुष्प-फलके रूपमें विस्तृत होता है वो एक बीजकी सत्ताका विस्तार है. "एकोऽहं बहु स्याम" मैं एक होनेपर भी अनेकरूप हो जाऊँ. तदनुसार जो ब्रह्म अकेला था वो अनेक नाम-रूप धारण करके जगतरूपमें विस्तृत हुआ. वो ब्रह्म ही ये जगतरूपमें प्रकट हुआ, इसलिये जगतकी कोई भी चीज ऐसी नहीं कि जिसे बननेमें ब्रह्मका इस्तेमाल न हुआ हो. "घाट घडिया पछी नाम-रूप जुजवा, अन्ते तो हेमनुं हेम भासे,

ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे'' (- नरसिंह महेता). सोनेमेंसे एींग, चूडी, नेकलेस आदि बनाये तो सब भिन्न-भिन्न रूप और नाम हो गये. एक राजा सोनेका मुकुट पहने, उसे बैठनेका सिंहासन भी सोनेका हो, थूंकनेकी पीकदानी भी सोनेकी हो – सभी सुवर्णमय हो सकता है. वैसे जगतमें जितनी विविधता, ऊंच-नीचता है, कि ये निम्न है, ये उत्तम है, ये सुन्दर है, ये कुरूप है, ये सब ''नाम-रूप जुजवा'' है. ''अन्ते तो हेमनुं हेम भासे'' ये सब नाम और रूपको धारण करनेवाली चीज तो ब्रह्म, ब्रह्म और केवल ब्रह्म ही है. दूसरी कुछ मिलावट नहीं है उसमें. शुद्ध सुवर्णका घाट नहीं घड सकते इसलिये उसमें मिलावट करनी पडती है ये सुवर्णकी कमजोरी है. पर ब्रह्म सर्वसमर्थ है, वो किसीकी अपेक्षा रखकर जगतरूप बननेकेलिये लाचार नहीं है. ''बृहत्त्वात् ब्रह्म'' हरेक नाम-रूपको धारण कर सकता है इसलिये वो ब्रह्म है. ताम्रको घडा बननेकेलिये कसेरेकी जरूरत है वैसी जरूरत भी ब्रह्मको नहीं ; वो अपने आप सर्वरूप हो सकता है. बीजको वृक्ष बननेकेलिये जैसे प्रकाश, पानी आदि चाहिये वैसे ब्रह्मको जगतरूपमें अंकुरित, विस्तृत होनेमें और किसीकी जरूरत नहीं है. दूध अपने आप दही नहीं बनता ; उसमें जामन या कुछ खट्टी चीज मिलानेकी जरूरत पडती है. पर ब्रह्म तो शुद्ध है. ''शुद्धं समं सदसद् परमात्मनः'' ब्रह्मके सिवा कुछ हो तो हम उसमें मिला सके न! ''स आत्मानं स्वयम् अकुरुत'' उसने अपने आपको जगतरूपमें प्रकट किया – ये सर्वभाव है.

इस बातको पढ-सुनकर अपन समझ तो जायें कि सब ब्रह्म बना है, पर उसका अनुभव कैसे करना? पढनेवाला या सुननेवाला, किसीको अनुभव नहीं होता ; कारण क्या? जैसे टी.वी.सेटमें आवाज और द्रश्य आता है वो टी.वी.सेट पैदा नहीं करता. क्योंकि यदि टी.वी.स्टेशन बंद हो जाये तो फिर टी.वी.सेटका स्वीच ऑन करो तो भी दोमेंसे एक भी नहीं आता. दर असल वो द्रश्य और ध्वनि टी.वी.स्टेशनमें पैदा होते हैं और वहाँसे अपने घर तक फैले हुवे मौजुद होते हैं इसी कारण टी.वी.सेटमें आ सकते हैं. पर वह द्रश्य और ध्वनि अपने आप हमें दिखाई या सुनाई नहीं देते. वो तो जब टी.वी.सेट ऑन करें तब ही वो दिखाई सुनाई देते हैं. वैसे ही ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान

है, पर उसके कुछ स्वीच हैं जिन्हें ऑन करनेसे ही वो दिखाई सुनाई दे. केवल कहने और सुनके समझनेसे उसका अनुभव नहीं हो पाता. वो स्वीच शास्त्रकारोंने कर्म / ज्ञान / भक्ति बताई हैं. उन्हें ऑन करके ही तुम ब्रह्मका अनुभव कर सकते हो. और एक बात समझो कि टी.वी.सेटके साथ बिजलीका कनेक्शन न हो तो भी द्रश्य या ध्वनि का अनुभव नहीं हो पाता. वैसे श्रीमहाप्रभुजी परमात्माकी कृपाको ये साधन सफल होनेके लिये अनिवार्य गिनते हैं. "कृपा विना सिद्धि नव थाय" (- दयारामभाई). इस प्रकार भगवत्कृपासे कर्म / ज्ञान / भक्तिके व्यापारसे "ब्रह्म ही सब है" ये अनुभव हो इसका नाम सर्वात्मभाव.

पर भावमें और भानमें थोडा अन्तर है. भाव माने हृदयकी ऊर्मि / संवेदना, जब कि भानमें थोडी तटस्थता रही हुई है. जैसे रास्तेपे अपन जाते हो और किसीका *एक्सीडेन्ट* हो जाये तो हमें भान होता है कि कोई आदमी घायल हुआ है, पर जब तक हमारे हृदयमें करुणा न हो तब तक भाव नहीं जगेगा कि घायल व्यक्तिको अस्पतालमें पहुँचायें. तुम्हें यदि मालूम पडे कि वो व्यक्ति तुम्हारा परिचित है तो तुम्हें तुरंत भाव जगेगा. इस प्रकार भान होना और भाव जगना अलग है. तो ब्रह्मका सर्वत्र भान होना ये सर्वात्मभान है और हृदयकी ऐसी ऊर्मि या संवेदना प्रकट होनी कि सर्वत्र ब्रह्म है ये सर्वात्मभाव है.

ये सर्वात्मभावकी अनेक अवस्थाएँ हो सकती हैं. अधिकारीभेदसे, भक्तिके प्रारम्भमें, भक्तिकी सिद्धिमें, मयार्दाभक्तिमें, पुष्टिभक्तिमें, आदि अनेक भेद हो सकते हैं. पर संक्षेपमें सर्वात्मभाव मतलब "सर्वत्र ब्रह्म है, सब ब्रह्मात्मक है" वैसी हृदयकी ऊर्मियाँ प्रकट होनी.

'सर्वभाव' कभी सर्वात्मभावके तो कभी दूसरे अर्थोंमें प्रयुक्त होता है. और उस 'सर्वभाव'का अर्थ ये कि "त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धु च सखा त्वमेव, त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव।" माने एक ही प्रभुमें सब भाव स्थापित करने– मेरा पुत्र, पिता, भाई, गुरु, सखा, धन, सर्वस्व तू है. उसे भी 'सर्वभाव' कह सकते हैं कि "सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।" सर्वभावसे भगवद्भजन करना. यों सर्वभाव कभी सर्वात्मभावके अर्थमें तो कभी प्रभुको अपने सर्वस्व मानने "त्वमेव माता....." ये न्यायसे इस अर्थमें

भी कहा जाता है. संक्षेपमें इतना समझनेका है.

प्र. ८१ "धर्म ही ते पायो यह धन" इसमें कौनसा धर्म विवक्षित है?

उ. ८१ बात ऐसी है कि धन पायो इसलिये धर्म हो सकता है ; धर्मसे धन नहीं मिल सकता. यह धन पुष्टिमार्गेतर मार्गसे नहीं मिल सकता. धन पाया इसलिये अपन पुष्टिमार्गीय धर्म कर सकते हैं. तो यह पद गाया गया है वो धर्मसे धन मिल सकता है ये भावको व्यक्त करनेकेलिये नहीं, पर ये भावको व्यक्त करने कि कोई धर्मसे यह धन मिल नहीं सकता. यही सच्चा तात्पर्य है. "नायमात्माप्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुत तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" ये अपना सिद्धान्त है. अपने धर्मसे धन नहीं मिलता ; उसके धर्मसे मिले तो बात अलग है. नहीं तो यहाँ विपरीतलक्षणा करनी चाहिये ; सीधा अर्थ नहीं समझना चाहिये.

प्र. ८२ आचार्य श्रीमहाप्रभुजीने जीवोंका अंगीकार तथा धर्मका प्रचार करनेकेलिये तीन बार पृथ्वीप्रदक्षिणा की. दूसरे धर्मोंके धर्मगुरु भी उनके धर्मके प्रचारार्थ गाँवगाँव जाते हैं. तो अपने पूज्य गोस्वामी बालक धर्मप्रचारार्थ बाहर आयें क्या ये जरूरी नहीं?

उ. ८२ मुझे नहीं लगता कि कोई महाराज पर्देमें रहता हो. सभी बाहर हैं.

प्र. ८३ हालमें गोस्वामी बालकोंका लौकिक वैभव बहुत ही बढ गया है. उसमें जो जानकार वैष्णव हैं उन्हें तो कुछ असर नहीं होती, पर जो नयी पीढी है उनकी अनेक प्रतिक्रियाएँ आती हैं. अत: मार्गका विस्तार करनेमें परेशानी होती है और नयी पीढीको धर्मका ज्ञान ठीक तरहसे नहीं दिया जा सकता. इस बारेमें आपका क्या मन्तव्य है?

उ. ८३ हमारे किशनगढमें निम्बार्काचार्यजी हो गये उन्होंने एक बहुत सुन्दर पद बनाया है– "जगतमें फेसन ही की मांग"! मूल बात ऐसी है कि नामी चोर मारा जाता है. मुझे नहीं लगता कि ज्यादातर

गोस्वामी बालकोंके पास १० करोडसे अधिककी सम्पत्ति हो. शायद होगी तो भी बहुत कम बालकोंकी ; हरेककी तो नहीं ही होगी.

बहुत सस्ताईके जमानेमें मेरे तातजी महाराजको किसी वैष्णवने कोई जमीन भेट धरी थी. मैंने उसका फारगतनामा लिखा था फिर भी Land ceiling act के वक्त मुझे notice आया कि तुम्हें Surrender करनी पडेगी. मैंने वकीलको पूछा कि अब क्या करना? वो बोला "फारगतनामा लिख देनेसे छूट नहीं जाओगे, Surrender तो करनी ही पडेगी". वो दिन अंतिम दिन था. मैंने कहा "अब क्या करना?" तो वकीलने कहा "दो-ढाई घंटे बचे हैं. तो ऐसा करो कि एक वकीलको ले जाओ और दौडते जाकर Surrender letter दे आओ. तो आगे-आगे वकील दौडता था और पीछे-पीछे मैं ; कहीं बंद न हो जाये! वहाँ बाहर जो खडे थे उन्होंने हल्ला मचाया "महाराज, कितना पैसा इकठ्ठा किया है?" मैंने कहा "इकठ्ठा एक भी नहीं किया. सस्ताईके जमानेमें बाप-दादा इकठ्ठा कर गये थे उसकी रामायण है!" इकठ्ठा कुछ नहीं किया, पर रख गये हैं उसका क्या करना? ऐसी पंचायत है.

पर लोगोंको लगता है कि वल्लभकुलमें बहुत वैभव है. तो नामी चोर मारा जाये ऐसी बात है. मुझे नहीं लगता कि कोई भी सम्प्रदायके धर्मगुरु वल्लभकुलसे कम पैसेवाले हो. ये तो हम निगाहमें आ गये हैं तो लोग कहते हैं कि पैसे बढ गये हैं. अब क्या करें, हैं तो हैं. पूर्वज रख गये. कमाने तो गये नहीं और हमने कोई धंदा किया नहीं. पब्लिक रख जाती हो तो क्या करें? तुम्हें पसन्द न हो तो मत रखो, problem solve हो गया.

हाँ, एक बात जरूर है ; नयी पीढीका Reaction आता है ये बात तो सच है. नयी पीढीको अपन सिद्धान्त नहीं समझा रहे हैं, वो सिद्धान्त हमें समझाने चाहिये. तब नयी पीढीको लगेगा कि नहीं, ये तो सब मार्गमें है.

और एक बात यह कि अपने यहाँ कोई त्यागमार्ग, वैराग्यमार्ग नहीं. जो त्यागी वैरागी हैं, जो ५०,००० का घर छोडकर संन्यास लेते हैं और दस लाखसे लेके एक करोडके आश्रम बांधते हैं, एयरकंडीशनमें रहते हैं, १६ लाखकी गाडियाँ खरीदते हैं, उनके जितनी तो हमारी

सम्पत्ति नहीं है. हम तो गृहस्थ हैं, कबूल करते हैं कि बाल बच्चे सब हैं ; तो थोडी सम्पत्ति हमारे पास है तो रहेने दो न, नाराज क्यों होते हो? पर हमारी ओरसे भी एक बात पक्की है कि सिद्धान्त समझानेकी हमारी जो जिम्मेदारी है उसमें थोडी कमी है. ये मैं कबूल करता हूँ. इसमें संदेह नहीं है.

अब नयी पीढीको धर्मका ज्ञान देनेमें होती परेशानी तभी दूर हो सकती है कि जब हर माँ - बाप अपनी संततिको जैसे अपने धंदेमें दिलचस्पी लेते कर देते हैं, टी.वी.के कार्यक्रमोंमें दिलचस्पी लेते कर देते हैं वैसे थोडी स्वधर्ममें दिलचस्पी लेते कर दें. परेशानी इसलिये होती है कि वृद्ध पीढी अपने बच्चोंको अपने स्वधर्माचरणसे छुआछूत रखके दूर रखते हैं. वे जब अन्दर आना चाहें तो उन्हें छु जानेका डर लगा रहता है. उन्हें लगता है कि हम अन्दर जायेंगे तो हमारे माता - पितामें दुर्वासा ऋषिका आवेश आ जाता है. सो फिर वे निश्चय करते हैं कि जाना ही नहीं. अब जब आये ही नहीं तब समझ आयेगी नहीं और फिर समझानेमें कठिनाई हो ये तो स्वाभाविक है. तो कुछ करना हो तो अपन ये छुआछूतको अत्यधिक न रखकर सहज बनायें और बच्चोंको धिक्कारे नहीं, दिलचस्पी लेते करें. एक बार बच्चोंको सेवामें आनन्द आने लगेगा तो क्यों वे समझने तैयार नहीं होंगे? अपनी सेवामें ऐसा कुछ है ही नहीं जो किसीको पसन्द न आये. जिसका हृदय थोडा भी सरस है, जो थोडा भी हृदयशाली व्यक्ति है उसे सेवामें पसन्द न आये ऐसा कुछ है ही नहीं. पर वो सेवाके आसपास हमने छुआछूतका ऐसा भयंकर वातावरण खडा कर दिया है कि बडोंको भी उसका टेन्शन हो जाता है, तो बच्चोंको तो क्यों नहीं होगा? "सहज प्रीति गोपाल ही भावे". अतः सहजतासे सेवा करके उसमें बच्चोंको भी नहलाओ तो तकलीफ नहीं होगी.

प्र. ८४ हवेलीमें श्रीठाकुरजीका नेग बहुत होनेपर भी गोस्वामी बालक अपनी तपेली अलग क्यों करते हैं?

उ. ८४ प्रश्न बहुत गम्भीर है. हमारे राजस्थानमें एक कहावत है कि कपडे निकालूँ तो नंगा मैं ही दीखूँ. मुझे नंगा नहीं होना है. मैं

बाबा जरूर हूँ पर नागाबाबा नहीं. इसलिये मैं इतना ही कहूंगा कि जो लोग ऐसे करते हों उनसे पूछो.

प्र. ८५ जो सृष्टिका नियन्ता है, केवल यह जगत ही नहीं पर समग्र ब्रह्माण्ड जिसने बनाया है, वह क्या हमारा बालक हो सकता है? क्या हम उसे बालककी तरह सुला सकते हैं? ईश्वरको इस तरह महत्त्वहीन बना देना क्या शास्त्रीय हो सकता है? यदि नहीं तो बालकृष्णकी उपासनाका तात्पर्य क्या? सृष्टिके सर्जनहारको बालक मानना क्या मानवीय मनोविकार नहीं? अन्यथा गोकुलके कृष्णको ही अपना मानना और द्वारकाके कृष्णको नहीं, उसका क्या कारण? मथुरा जानेके बाद कृष्णमें पुरुषोत्तमत्व नहीं रहा, क्या यह सच है?

उ. ८५ इस प्रश्नमें अनेक बातें एक साथ पूछनेमें आई हैं.

महर्षि अरविन्द एक जगह कहते हैं– God is great says the mohammadians. Yes, He is so Great that He can afford to be weak whenever that too is necessary. God is infinite possibility. Therefore, truth is never at rest, therefore also, error is justified of ...children. अर्थात् मुसलमान कहते हैं कि ईश्वर महान हैं. हाँ, वह इतना महान है कि जब आवश्यकता होती है तब असमर्थ भी हो सकता है. भगवान अनन्त सम्भावना है. इसलिये सत्य कभी स्थिर नहीं है या रुकता नहीं है. इसीलिये हमारी गलतियाँ भी अन्तमें गलती नहीं रह जाती, उनका भी समर्थन हो सकता है.

सो हम भी कह सकते हैं कि हाँ, जिसने यह समग्र ब्रह्माण्ड बनाया है वह यदि चाहे तो स्वयंको बालक भी बना सकता है. क्योंकि वह खुद प्रतिज्ञा करता है "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्". यदि जीव ब्रह्माण्डनायकको वात्सल्यदृष्टिसे देखता हो या तो वात्सल्यभावपूर्वक उसके सामने प्रपन्न होता हो तो ईश्वर उस जीवके समक्ष क्यों बालक नहीं हो सकता? मानो कि एक मोटा पहलवान है, जैसे कि किंगकोंग. उसमें प्रचण्ड शक्ति है. पर यदि उसे अपने बच्चोंके साथ नजाकतसे खेलना न आता हो और अपने पाशवी बलका प्रयोग करके उनके हाथ-पैर तोड देनेकी आदतवाला हो तो उस व्यक्तिको

हम पहलवान समझेंगे या राक्षस? किंगकोंग कुस्तीमें दारासिंगका हाथ मरोड सकता है, तोड भी सकता है पर उसकेलिये पहलेसे वैसा नियम अथवा संविधान किया हुआ होना चाहिये, अन्यथा वह Foul या crime ही समझा जायेगा. इसलिये समर्थ होना एक बात है, पर मुद्देकी बात दूसरी है. वह है सामर्थ्यका उचित प्रयोग. ईश्वरको जब सृष्टिका नियन्ता कहते हैं तब यह बात स्पष्ट समझनी चाहिये कि नियन्ता होना वह उसका एक सामर्थ्य है. इस सामर्थ्यका उचित अवसरपर यथेच्छा प्रयोग करनेमें यदि ईश्वर स्वतन्त्र न हो तो वह ईश्वरका सामर्थ्य नहीं किन्तु विवशता मानी जायेगी. विवशताको सामर्थ्य नहीं कहा जा सकता. इसलिये इस ब्रह्माण्डका समर्थ नियन्ता अपने सामर्थ्यानुसार ही जब चाहे तब असमर्थ बालक भी हो सकता है. वही उसका सच्चा माहात्म्य या तो सामर्थ्य है.

एक विचारणीय बात यह भी है कि इस प्रकार यदि हम ईश्वरके बारेमें प्रश्न पूछ सकते हों तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि इस तत्त्वको ईश्वर भी क्यों कहना या मानना चाहिये? हमारे गाँवका या राज्यका मालिक कोई राजा अथवा नायक होता था इसलिये ब्रह्माण्डके भी एक नायककी हमने कल्पना की है. अब राजाशाहीप्रकारका नायकत्व तो गया. प्रजाशाहीमें केवल प्रमुख या प्रधानमंत्री को ही चुना जाता है. इसलिये अब ईश्वरको ब्रह्माण्डका राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री स्वीकारें तो किसने उसको चुना? और कभी वह भी *वोटरगेट स्कैन्डल* (घोटाला) करता हो तो उसपर आरोप लगाकर उसे पदपेसे उतार सकते हैं या नहीं? इसलिये कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वरको ईश्वर माननेमें भी इस सृष्टि और ईश्वर के सम्बन्धका स्वरूप किसी न किसी अंशमें मानवीय तो रहेगा ही. यों अंतमें यदि मानवीय सम्बन्धमें ईश्वरको उतरना पडता ही हो, और अपना वात्सल्ययुक्त हृदय उस महान समर्थ ईश्वरको अपने स्वभाव अनुसार बालकरूपमें ही देखना चाहता हो, तो वह ईश्वर क्यों बालक नहीं बन सकता?

ईश्वर स्वयं भक्त या उपासकके भावसे बंधे हुए होनेकी प्रतिज्ञा "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इस वचनमें करते हैं. ईश्वर एक बडा पहलवान होगा, पर पुष्टिजीवोंके वात्सल्यभावके अनुरूप कोमल-सुकोमल होकर

भक्तके घर खेलता हो, खाता हो या तथाकथित ज्ञानियोंकी कर्कशतासे डरकर कोई बार भक्तकी गोदमें छुपकर सो भी जाता हो तो वह सब भक्त और भगवान के बीचकी बातें हैं. उसमें दूसरोंको माथापच्ची नहीं करनी चाहिये. कहा जाता है कि "मियां बीबी राजी तो क्या करेगा काजी?" वैसे इस प्रकारके सम्बन्धमें ईश्वर और भक्त राजी हैं. इसीलिये ईश्वर खेल रहा है, खा रहा है, भक्तकी गोदमें बैठता है, सोता है. उसमें दूसरोंका सरपच्ची करना यही "मानवीय मनोविकार" सदृश बात है. यदि हृदयमें भक्ति न हो तो भक्त और भगवान के सम्बन्धकी पंचायत करनी ही नहीं चाहिये. "मियांजी दुबले क्यों? सारे गाँवकी फिकर" अनुसार व्यर्थ ही दुर्बल होनेमें कोई लाभ नहीं है!

प्रश्नमें पूछा गया है कि इस प्रकार ईश्वरको महत्त्वहीन बना देना क्या शास्त्रीय विचार हो सकता है? नहीं, शास्त्रका गम्भीर अवगाहन न हो तो ऐसा विचार शास्त्रीय विचार हो ही नहीं सकता. पर मूल बात यहाँ शास्त्रोंकी न होकर ईश्वरकृपासे ईश्वरके प्रति रहे हुए भक्तके भावकी है. मानो कि शास्त्रमें ईश्वरकी बालोपासनाका निरूपण नहीं किया गया हो पर फिर भी भक्तके हृदयमें रहा हुआ भक्तिभाव यदि भक्तको वैसा समझाता हो तो उसमें न्यूनता क्या है? शास्त्र तो ईश्वरके माहात्म्यका निरूपण करते हैं, किन्तु भक्तोंके साथ लीलाविहारमें भगवानने क्या कभी बालरूप धारण ही नहीं किया? सूरदास, तुलसीदास प्रभृति भक्तकवियोंने जो बाललीला गाई है वह क्या शुष्क काव्यकल्पनाएँ ही हैं? उनकी अपनी दिव्य अनुभूति नहीं हैं? क्या व्यासजी और वाल्मीकि जैसे महर्षियोंने कृष्णलीला या रामलीला शुष्क कविकल्पनाके रूपमें ही भागवतमें या रामायणमें प्रस्तुत की है? पूछकर देखो इन महर्षियोंको!

यदि यह सब कल्पना ही हो तो स्वयं ईश्वरको भी एक शुष्क कल्पना ही क्यों न माननी? इसलिये ऐसे अर्धनास्तिक विचारोंकी अपेक्षा पूर्ण नास्तिक विचार अच्छे, क्योंकि उसमें कुछ बौद्धिक सुसंगति तो होती है कमसे कम. अर्धनास्तिक विचारमें तो वह भी नहीं मिलती.

सृष्टिका सर्जनहार ही भागवतमें "युवां मां ब्रह्मभावेन पुत्रभावेन चासकृत्, चिन्तयन्तो कृतस्नेहौ यास्येथे मद् गतिं पराम्" यों स्वयंको

ईश्वर + पुत्रभावसे देखनेकी सलाह देता है.

किन्तु "मुझे प्यार करो" ऐसा आदेश देनेसे सुननेवाले व्यक्तिके हृदयमें स्नेह उमड नहीं जाता. ऐसे यदि स्नेह उमडता होता तो सभी जुल्मी सरमुखत्यार नेताएँ प्रजा उनसे स्नेह करे वैसा हुकम जारी करके अपनी कुर्सी स्थिर रख सके होते. इसलिये स्नेहके बारेमें कोई शास्त्रीय आदेश हो तब भी व्यर्थ ही है. स्नेह कैसे होता है, किस हेतुसे होता है, किसपर होता है वह तो स्नेह करनेवाले ही जानते हैं. केवल चर्चा करनेवाले या उपदेश या आदेश देनेवाले यह विषयको कभी समझ नहीं सकते.

और फिर भगवानकी विविध बाललीलाओंके दर्शन करनेवाले भक्त, समग्र ब्रह्माण्डके नियंताको बालक मानकर सुलाना या जगाना यह शास्त्रीय कृति है या अशास्त्रीय उसकी चिन्ता करते ही नहीं! उन लोगोंके जीवन जीवनकलाके रससे प्रचुर भरे हैं. पर कला - आलोचक कभीकभाक ही सच्चा कलाकार हो सकता है. जीवनका रस उसे मिलता नहीं है. नीरस छिलके छीलनेका कार्य उसका है. यह सब प्रश्न इस लिये ही उद्‌भूत होते हैं. बाकी तो ब्रह्माण्डनियंता भी अंतमें क्या हैं? इसके जवाबमें किसीने कहा है "what is god after all ? An eternal child playing an eternal game in an eternal garden". भगवान = सनातन उद्यानमें सनातन क्रीडामें मग्न एक सनातन बालक.

अन्तमें जो एक बात पूछी गई है वह यह है कि "अन्यथा गोकुलके कृष्णको ही अपना मानना और द्वारकाके कृष्णको नहीं उसका क्या कारण? मथुरा जानेके बाद कृष्णमेंसे क्या पुरुषोत्तमत्व चला गया?" अरे! कृष्णमेंसे पुरुषोत्तमत्व कभी भी नहीं जाता ; मथुरामें भी नहीं और द्वारकामें भी नहीं. ज्यादा क्या कहना? यहाँ माधवबागमें जो तख्तपर बैठकर यह उत्तर दे रहा हूँ उस तख्तमें भी कृष्णका पुरुषोत्तमत्व तो वैसेका वैसा ही है. वह कहीं नहीं जाता और उसे जानेकी जगह नहीं है. "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्". इसलिये कृष्णमेंसे पुरुषोत्तमत्व कभी भी नहीं जाता. पर विविध भक्तोंके विविध भावोंकी अपेक्षाएँ तो कृष्णको कब, कहाँ या तो किस रूपमें भजना उस बारेमें है.

दादा भीष्मका उदाहरण लें. अपनी प्रतिज्ञा भूलकर हाथमें रथका

चक्र लेकर मानों हाथीपर सिंह झपटता हो वैसे मारनेकेलिये अपने उपर झपटते हुए कृष्णकी छबि भीष्मकी आँखोंमें ऐसी बस गई कि अंतिम क्षण तक यही दृश्य पुनः-पुनः उनके सामने आता रहता है! शौर्यसे भरा हुआ भीष्मका हृदय कृष्णके ऐसे संहारक रूप पर फिदा है. भीष्मका अप्रतिहत शौर्य उसके अपने परमेश्वरको भी अपने समक्ष पराजित देखना चाहता है. यहाँ जरा शांत चित्तसे विचार करनेकी आवश्यकता है. अपने संकल्पमात्रसे सृष्टिके सर्जनहार और संहारकर्ता कृष्ण यदि भीष्मको मारना ही चाहते हों तो उनको रथचक्रका सहारा लेना पडता क्या? सर्वथा नहीं. श्रीकृष्ण भी भीष्मको मारना नहीं चाहते, बल्कि पराजित होना चाहते हैं. और परस्परकी प्रतिज्ञा निभानेकी स्पर्धामें भीष्मके सामने इस समग्र ब्रह्माण्डका नियन्ता हार भी जाता है!

और पूछा गया है कि सर्वसमर्थ कैसे असमर्थ हो सके? परन्तु प्रश्न पूछनेवाले यह समझ नहीं सकते! अर्जुन भी नहीं समझा, इसलिये भगवानको समझाने दौडा "महाराज आपकी प्रतिज्ञानुसार आप शस्त्र धारण नहीं कर सकते, इसलिये लौट आओ"! मामूली भीष्म विजयी हुआ और सर्वसमर्थ नियन्ता पराजित हुए! होना था वही हुआ. वस्तुतः क्या हुआ वह तो भीष्म ही समझ सकता है, दूसरा व्यक्ति नहीं. कृष्णके स्वरूपका यही वैशिष्ट्य है— जो इसे शास्त्रसे समझनेका दावा करते हैं वे नहीं समझते और जो समझ जाता है कि मैं नहीं समझ सका वही सच्चा समझदार है ; "अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातम् अविजानताम्".

फिर भी भीष्मके नयनपथपर दौडता कृष्णका रूप माँ यशोदा या व्रजके उनके सखा या रासमें विहरती गोपिकाओंको न जचता हो तो वह रूपके ध्यान या भावना करनेका उपदेश उन्हें देना कितने अंशमें बौद्धिक कृत्य गिना जायेगा? संस्कृत भाषामें इसे "दण्डेन गोगर्दभौ" कहा जाता है. यह ग्वालिया जैसी बुद्धि मनुष्य या कृष्ण के बारेमें कामकी नहीं होती.

भीष्मको अन्तिम क्षणमें व्रजके बालरूप कृष्णकी स्मृति आती है, पर व्रजस्थ भक्त महाभारतके कालरूप कृष्णका कभी चिन्तन नहीं करते. क्योंकि व्रजभक्तोंको कृष्णने "कालोऽस्मि लोकक्षयकृतप्रवृत्तो" ऐसा स्वरूपोपदेश कभी दिया नहीं था. इससे सिद्ध होता है कि सबकेलिये कृष्णके अनेक

रूप हैं. कोई सभी रूपोंमें ऐक्य देखता है, जबकि कोई जो रूप खुदने देखा उसमें ही मस्त है. इसलिये वैसे मस्त जीवोंको अब और कुछ नहीं देखना या समझना नहीं चाहिये.

फिर भी कुछ लोग श्रीशंकराचार्यकी "सदा सेव्यः कृष्णः" इस आज्ञासे लोगोंको डराते हैं, कि श्रीशंकराचार्य केवल गोकुल या द्वारका में स्थित कृष्णकी सेवा नहीं पर 'सदा' अर्थात् समग्र रूपमें गोकुलसे लेके द्वारका तकके कृष्णकी सेवा करनेका विधान करते हैं, इसलिये कृष्णमें गोकुलेश या द्वारकेश का भेद करना यह बचपना है. किन्तु ऐसे कहनेवालोंको संस्कृत भाषाके व्याकरणका व्यवस्थित ज्ञान न होनेसे वे ऐसा विचित्र विधान करते हैं. 'सदा' यह क्रियाविशेषण होनेके कारण 'सेव्य'के साथ जुडता है, 'कृष्ण'के साथ नहीं. इसलिये उसका वास्तविक अर्थ कृष्णके उपासकको एकाद दिन नहीं पर हमेशा सदैव सेवा करनी चाहिये ऐसा होता है. कृष्णसेवा यह अपना नित्य कर्तव्य है ; नैमित्तिक या प्रसंगोपात्त मात्र नहीं. इसलिये गोकुलेश और द्वारकेश एक ही हो या भिन्न-भिन्न हो, कोई भी परिस्थितिमें श्रीशंकराचार्यके वचनमें इस बारेमें कुछ कहा नहीं गया.

बची गोकुलेश-द्वारकेशके अभेदकी बात. तो कृष्ण तो वस्तुतः अपनी हरेक अवस्थामें सेव्य ही हैं. गोकुलसे द्वारका तक ही नहीं, किन्तु सर्व देश, सर्वकाल और वस्तुमात्रमें यदि सर्वात्मभाव सध गया हो तो (और न सध गया हो तब भी) कृष्ण और एक कृष्ण ही सेव्य हैं. किन्तु ज्ञान और भक्ति के चरम विकासमें ही यह सर्वात्मभाव सध जाता है. और जब तक नहीं सध जाता तब तक सिद्धान्त होनेपर भी उसका व्यावहारिक निष्पाखण्ड आचरण हो नहीं सकता. इसलिये श्रीशंकराचार्यजी और अपने श्रीमहाप्रभुजीके मतमें क्रमशः शाखा-अरुन्धती न्यायानुसार प्रतीकोपासना और साक्षात् स्वरूपसेवाका एक व्यवस्थित कार्यक्रम साधक या सेवक को दिया जाता है. दिव्य अनुभूतिके लिये साधना या सेवा में एकाग्रता, तन्मयता, वास्तविकता या व्यावहारिकता लानेके लिये यह संकोच अत्यावश्यक है.

घट-घटमें भगवान व्यापक हैं. जिस तख्तपर मैं बैठा हूँ वह वस्तुतः और सिद्धान्ततः भी ब्रह्म ही है, किन्तु ज्ञान या भक्ति के

शिखरपर पहुँचे बिना वैसा अनुभव हो नहीं सकता. इसलिये ही तब तक वैसा निष्पाखण्ड व्यवहार भी कोई उसके साथ निभा नहीं सकता. क्योंकि प्रश्न एक तख्तका हो तो निभे ; यहाँ तो हर चीज ब्रह्म ही है. इसलिये पूर्णज्ञानोदय हुए बिना केवल शास्त्रीय ज्ञानके आधारपे घट-घटमें उपस्थित ब्रह्मके साथ ब्रह्मोचित वर्तनद्वारा जगतका व्यवहार नहीं चल सकता. इसीलिये महाभारतके योगेश्वर कृष्णकी प्रतिमा या गोकुल-वृन्दावनके योगेश्वरेश्वर (देखो भागवत १०।२९।१६ "न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे, योगेश्वरेश्वरे कृष्णे...") कृष्णका एक सुन्दर साक्षात् स्वरूप हमको पूजा या सेवाकेलिये पधराना पडता है. और ऐसा करनेसे हम उस कृष्णकी व्यापकताका अधिक तीव्रता (इन्टेन्सिटी) और घनीभूत रूप (कन्डेन्स्ड फोर्म) में अनुभव कर पाते हैं. यदि कृष्ण व्यापक न हो तो पाषाणमूर्तिमें किया हुआ अपना पूजन-अभिवन्दन कैसे स्वीकार सकता है? इसलिये वह तो उसकी व्यापकताका प्रमाण है.

अब यदि कोई ऐसा वितण्डावाद करे कि कृष्ण यदि व्यापक हैं तो उसका भजन तुम अमथालाल या फोगटलालके रूपमें क्यों नहीं करते? कृष्ण सर्वव्यापी और सर्वरूप हैं इसलिये अब क्या रास्तेपर घुमते कोई फोगटलालकी पूजा-सेवा उसे मन्दिरमें पधराकर शुरू कर देनी? वह सेवा भी निष्पाखण्ड नहीं होगी, क्योंकि दुनियामें फोगटलाल एक नहीं, अनेक हैं. और अनगिनत फोगटलालोंकी सेवा नहीं हो सकती. इसलिये उनमेंके किसी एककी सेवा करने जानेपर मूर्तिपूजनकी स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आयेगा. और अन्तमें रास्तेपर घुमता फोगटलाल कितने दिन तक अपनी कृष्णश्रद्धाको टिका रखनेमें सहायक हो सकेगा?

ऋषि-मुनियों और भक्तों ने मानवमनके दीर्घ मनोवैज्ञानिक परीक्षणके पश्चात् मूर्तिपूजा या स्वरूपसेवा की उपयोगिता और आवश्यकता खोज निकाली है. इसीलिये श्रीशंकराचार्यकी "सदा सेव्यः कृष्णः" आज्ञाका पालन हम फोगटलालकी सेवाद्वारा नहीं करते पर योगेश्वरकी प्रतिमाके पूजनद्वारा करते हैं. वैसे ही वल्लभसम्प्रदायमें भी एकाग्रता लानेकेलिये कृष्णसेवाका विषय व्रजमें रहे योगेश्वरेश्वर कृष्णको बनानेमें आया है. वास्तविक रीतिसे गोकुलेश और द्वारकेशमें शुद्धाद्वैतदर्शन कोई प्रकारका

भेद करना नहीं चाहता, फिर भी जो भेदपुरःसर व्यवहार होता है उसे भक्त ही समझ सकता है और उसका आनन्द ले सकता है. भक्तेतर व्यक्ति कितना ही बडा ज्ञानी या विद्वान क्यों न हो, वह समझ ही नहीं सकेगा. अपने बेटेके आकर्षणका जितना एक माँ अनुभव करती है उतना दूसरे नहीं कर सकते यह एक हकीकत है. इसलिये श्रीशंकराचार्यके वचनका तात्पर्य कृष्ण एक होनेके कारण गोकुलेश - द्वारकेशकी एकताके प्रतिपादनमें न होकर, हरेक काल (जैसे सत्युगसे कलियुग तकका) और जीवात्माकी हरेक अवस्था (जैसे कि बाल्यावस्था, वृद्धावस्था, ब्रह्मचर्य - सन्न्यास, ब्राह्मण - शूद्र, स्त्री - पुरुष, साधक - सिद्ध इत्यादि) में कृष्ण सेव्य हैं उसमें ही ग्रहण करना चाहिये. क्योंकि कृष्णका ऐसा कुछ अद्भुत असाधारण माहात्म्य है, कि जो अन्य देवरूपोंमें नहीं. इसलिये कृष्ण सदा ही सेव्य हैं.

अद्वैतवादके प्रखर विद्वान मधुसूदन सरस्वती गीताकी अपनी टीकामें कहते हैं "कृष्णात् परं किमपि तत्त्वम् अहं न जाने". कृष्णसे पर या श्रेष्ठ ऐसे कोई भी तत्त्वकी जानकारी मेरे पास नहीं. पर इतना कहनेपर भी सन्तोष न होनेपे कहते हैं—

प्रमाणतोपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यम् अद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गता॥

अर्थ– कृष्णका माहात्म्य अन्य सभी देवोंकी अपेक्षा अद्भुत है ऐसा प्रमाणपुरःसर निर्धारित होता है. पर जो मूढ लोग यह विधानको सहन नहीं कर सकते वे तो नरकगामी ही हैं.

इस हद तक डिंडिम् घोष करते हैं इसलिये कृष्ण सदा सेव्य हैं. अब जो भक्तका मन कृष्णकी गोकुलकी लीलामें अधिक लगता हो उसकेलिये गोकुलेश कृष्ण ही सदा सेव्य हैं और जिस भक्तका मन कृष्णकी द्वारकालीलामें अधिक लगता हो उसकेलिये द्वारकेश कृष्ण सदा सेव्य हैं. पर कोई ज्ञानीकी यदि यह दोनों कृष्णमें वास्तविक अभेददृष्टि हो तो उसे कहो— अभी और थोडा उपर उठ और वस्तुमात्रमें कृष्णदृष्टिको साधना सीख, जिससे "गोकुलनाथ और द्वारकानाथका अभेद प्रशंसनीय है और भेद निंदनीय है" ऐसी तेरी निंदा - स्तुति करनेवाली अज्ञानजन्य भेददृष्टि खत्म हो और परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्णमें

तू वस्तुतः शुद्ध अद्वैतभाव प्राप्त कर सके! "गुणदोषदृशिर्दोषः गुणस्तूभयवर्जितः". पूर्णज्ञान होनेपर गुण-दोष दीखने यह दोष है और गुण-दोष दोनों ही न दिखाई दे वही गुण है.

इसलिये ही श्रीमहाप्रभुजी एक जगह कहते हैं "ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यम्. ब्रह्म जगतोऽतिरिच्यते इति न तत्र आसक्तिः कर्तव्या". यह समग्र जगत भगवानका ही एक रूप है ऐसा जानना चाहिये. पर भगवानके तो ऐसे अन्य भी अनन्त रूप हैं, इसलिये भगवदासक्तिको यह भगवानके कार्यरूप जगतमें क्षीण नहीं होने देनी चाहिये. "आदिमूर्तिः कृष्णः एव सेव्यः" आदिमूर्ति कृष्ण ही भगवदासक्तिका सच्चा विषय या आलम्बन हो सक्ता है. बाकी तो सभी वह कृष्णकी सादी मूर्तियाँ हैं.

आसक्तिका स्वभाव घनीभाव और एकाग्रतावृत्ति होनेपर विकसित होता है, जबकि ज्ञानके स्वभावमें विरलता (व्यापकता) और सर्वग्राहिता रही होती है. इसलिये कृष्णका सर्वत्र शुद्ध अद्वैत होनेपर भी सर्वत्र सर्वरूपके नहीं पर अपने भावमधुररूपके चयनमें भक्त आरम्भसे अन्त तक selective (एक निश्चित रूपका आग्रह रखनेवाला) होता है. जबकि ज्ञानी प्रारम्भमें अहं या त्वं या कोई मूर्ति या सूर्य इत्यादि रूपमें तत् जैसे प्रतीकोंका चयन (selection) करनेके बाद अन्तमें उन प्रतीकोंको छोडकर, "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" अवस्था ही उसका लक्ष्य होनेसे, शुद्ध अद्वैतभावमें निष्ठ हो जाता है. यह ज्ञानमार्गीय उपासना और अपरोक्षानुभूति का गूढ रहस्य है. इस सूक्ष्म रहस्यको अच्छी तरह समझा जाये तो भक्तद्वारा होनेवाले स्वरूपचयनमें और उस बारेमें उसकी अनन्यताकी जो उदात्त रसमयी मनोवृत्ति है उसका भी रहस्य समझनेकी पात्रता आयेगी, अन्यथा नहीं. "अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥" यों गीतामें भगवान कहते हैं.

एक भाईने मुझे पूछा "हम 'जय योगेश्वर' कहते हैं तो बडे कहते हैं ऐसे नहीं ; 'जय श्रीकृष्ण' कहो, वर्ना अन्याश्रय हो जायेगा. ऐसा कैसा संकुचित तुम्हारा पुष्टिमार्ग है? योगेश्वरमें और कृष्णमें भेद क्या?" मैंने कहा– "यदि योगेश्वरमें और कृष्णमें भेद नहीं तो तुमने 'जय श्रीकृष्ण' छोडकर 'जय योगेश्वर' कहना क्यों शुरु किया? कुछ

न कुछ भेद तुम मानते होंगे तभी न? वो भेद क्या है ये पहले हमें समझाओ फिर तुम्हें समझायेंगे कि योगेश्वर हम क्यों नहीं कहते. और यदि भेद है तो हम 'जय श्रीकृष्ण' ही कहेंगे, 'जय योगेश्वर' नहीं''.

हम योगेश्वर और कृष्ण में भेद नहीं करते. हम ये कहते हैं कि व्रजमें प्रकटे तबसे लेकर द्वारकामें बिराजे वहाँ तक कृष्ण ये proper noun है. और योगेश्वर उसका qualification है, नाम नहीं. मैं Ph.D. हो जाऊँ और लोग मुझे ''श्यामुबावा''के बदले "Mr. Ph.D." कहें तो मुझे कैसा लगेगा? हम आदमीको Refer करते हैं, Title को नहीं. कृष्णको Refer करते हैं, उसके qualification को नहीं. क्योंकि Unqualified कृष्ण मुझे प्रिय है, उसके qualification की मुझे परवा नहीं ; वो qualified हो या unqualified हो. एक भक्त तो यहाँ तक कहता है कि तू चोर हो, लफंगा हो पर कृष्ण है इसलिये मुझे प्रिय है! ऐसी स्वरूपासक्ति हो तो भक्तिमार्गीय हो. और qualification पसन्द हो तो निश्चित और कोई मार्ग है, पर भक्तिमार्ग उसकेलिये नहीं. लडका काणा हो, टेढी नाकवाला हो, लूला हो, लंगडा हो पर माँ-बापको पसन्द होता है, क्योंकि माँ-बाप qualification को नहीं चाहते, लडकेको चाहते हैं. वैसे हम श्रीकृष्णको चाहते हैं, उसके खिताबको नहीं. अत: ''जय योगेश्वर'' नहीं कहते, ''जय श्रीकृष्ण'' कहते हैं. श्रीकृष्ण तो योगेश्वर भी हैं, योगेश्वरेश्वर भी हैं और माखनचोर भी हैं. योगेश्वरके ये Limitation होंगे कि वो माखन नहीं चोर सकता. पर कृष्णके कोई Limitation नहीं हैं. वो माखन चोरते योगका उपदेश भी दे सकता है और योग समझाते-समझाते माखन भी चोर सकता है. हम योगेश्वरके विभाजन नहीं करते इसलिये ''जय श्रीकृष्ण'' कहते हैं.

हम कृष्णके भक्त हैं, इसलिये द्वारकाके कृष्ण और गोकुलके कृष्ण ऐसा विभाजन नहीं करते. पर हम कृष्णकी सेवा व्रजके भावसे करते हैं, द्वारकाके भावसे नहीं. क्योंकि द्वारकामें वो द्वारकाधीश है, और द्वारकाधीशका वैभव हम कहाँसे लायें? यहाँ व्रजमें जो कृष्ण है न वो तो ''शेष महेश दिनेश गणेश सुरेश हु जाहि निरन्तर गावे। जाहि

अनादि अनन्त अखण्ड अभेद अछेद सुवेद बतावे। नारदसे मुनि व्यास रटे पचिहारे तोऊ गुनि पार न पावे। ताहि अहीरकी छोहरिया छछियाभर छाछपे नाच नचावे।'' इतनी सी छाछकेलिये नाच रहा है. हमें ऐसा कृष्ण पसन्द है सेवा करनेकेलिये. क्योंकि द्वारकाधीशका वैभव हम दे नहीं सकते ये हमारे Limitation हैं. वो नाचता हो तो इतनी छाछ तो हम भी दे सकेंगे. और सचमुच इतनी छाछसे ज्यादा तो क्या दे सकेंगे ; ''किमासनं ते गरुडासनाय''? इसलिये सेवामें हम द्वारकेश्वर श्रीकृष्णकी भावना नहीं करते, व्रजकी भावना करते हैं, क्योंकि व्रजमें जैसे नि:साधन भक्त थे वैसे ही नि:साधन हम स्वयंको भी मानते हैं. हम कृष्णमें भेद नहीं करते ; हम हमारे Limitation समझते हैं कि द्वारकाका वैभव हम उसे दे नहीं सकते. और हम सेवाकेलिये चंदा इकठ्ठा करना नहीं चाहते तो हम वैभवकी चिंता क्यों करें? जिसे चंदा इकठ्ठा करना हो वो वैभवकी चिंता करे. हम तो जो हमारे पास है उसे समर्पना चाहते हैं, ''अक्लिष्टं समर्पयेत्''. इसलिये हम व्रजके भावसे सेवा करते हैं. कृष्णमें हम भेद नहीं करते, कृष्णमें भेद दूसरोंने किया है.

प्र. ८६ आज अनेक मन्दिर हैं और नये भी बनते हैं. मन्दिर / हवेली बनानेकी महाराजश्री आज्ञा दे तब बनाये जाते हैं, प्रतिष्ठापन भी उनके ही हाथों होता है. आप किन्तु आज्ञा करते हो कि मन्दिरोंमें जाओ मत. तो पहले जो मन्दिर हुए और अभी भी हो रहे हैं वे क्या गलतीसे हो रहे हैं?

उ. ८६ मूल बात ऐसी है कि श्रीनाथजीके अलावा अपने सम्प्रदायमें मन्दिरकी छूट श्रीमहाप्रभुजीने और कहीं भी नहीं दी थी. ''सो देवालयकी रीति यहाँ रखनी उचित है'' (पूरनमल क्षत्रीकी वार्ता) ये एक ही विधान मिलता है. और कहीं भी अपने सम्प्रदायकी रीति अनुसार देवालयकी रीति हो नहीं सकती. इसलिये देवालयके अर्थमें यदि तुम 'मन्दिर' कहते हो तो पहले मन्दिर श्रीनाथजीके एक अपवादको छोडकर बने ही नहीं थे. और घरोंको मन्दिर बना दिये गये हों सिद्धान्तकी सावधानी न रखनेपर ऐसे दृष्टान्त तो आज जगह - जगहपर मिल रहे हैं. और इसी

कारणसे कोर्ट अपने घरोंके अपने माथे बिराजते ठाकुरजीको पब्लिक घोषित करती है.

पब्लिक करते हैं इतना ही नहीं. अभी तुमने शायद पढा होगा कि पब्लिक ट्रस्टद्वारा संचालित तामिलनाडुके २५० मन्दिरोंमें जितने ठाकुरजी थे उन सबको तमिलनाडु सरकार कहती है कि म्युझियममें रख दो, क्योंकि ये बहुत costly antique हैं और मन्दिरोंमेंसे उनकी चोरी हो जानेका डर है! जैसे कि म्युझियममेंसे कुछ चुर जाता ही न हो! म्युझियममेंसे तो अधिक चोरी होंगी, क्युरेटर duplicate बनाकर antique की जगहपे रख देते हैं और सच्चे antique को लंडन-अमेरिका बेचने भेज देते हैं. मन्दिरोंमें बिराजते २५० ठाकुरजी म्युझियममें रखे गये हैं और एक बेचारा कांचीका शंकराचार्य रोता है ; और कोई हिन्दु तो रोता भी नहीं! ऐसे निकम्मे नपुंसक अपन हो गये हैं. कुछ साल पहले काश्मीरमेंसे हजरत महमदसा'बका एक बाल चुर गया था. अब कोई हिन्दुको उसे चोरनेमें कोई दिलचस्पी नहीं होगी ; मिले तो भी ले नहीं. पर मुसलमान इतने नाराज हो गये थे कि हैदराबाद तक छूरा-चक्कु चल गये थे. वे धर्मके प्रति इतना लगाव रखते हैं. और अपन हिन्दुलोग इतने बेकारके नपुंसक आदमी हैं कि सरकार कहती है कि मन्दिरमें बिराजते २५० ठाकुरजीको म्युझियममें रख दो और अपन कहते हैं कि होगा, भगवदिच्छा है. होता है वो होने दो. अपन कहाँ सरपच्ची करें? धंदा तो चल रहा है न शान्तिसे. उसमें और लफडे कहाँ तुम खडे कर रहे हो भाव बढ रहे हैं तब. वैसे भाव बढे उससे कम हो जाये ये मुझे उत्तम लगता है.

कहनेका मतलब ये कि अपन पब्लिक बनानेके चक्करमें फँस गये हैं. पर हमें पता नहीं कि हम कहाँ जा रहे हैं. हमें लगता है कि पब्लिक ट्रस्ट हो जाये उसमें हरकत क्या है? सरकारी हस्तक्षेप बढेगा, सरकार सब ले लेगी और म्युझियममें बैठा देगी तब क्या होगा ये कभी शान्तिसे सोचा तुमने? "होता है वो होने दो!" कुछ लोग कहते हैं "बालकोंको क्या ऐतराज है? पब्लिक हो जाये उसमें हरकत क्या है ; पब्लिक तो वैष्णव है न?" पर पब्लिक होनेके परिणाम क्या आते हैं ये तुम पढते हो? तुम क्या अखबार नहीं पढते? हिन्दुस्तानमें

रहते हो या आफ्रिकाके जंगलमें? कहाँ रह रहे हो? जरा दिलपे हाथ रखके सोचो कि अपन किस दिशामें जा रहे हैं. सिद्धान्तसे विपरीत काम करनेमें हमें संकोच नहीं होता. अपने हरेक धार्मिक कार्यमें सरकारी हस्तक्षेप बढ रहा है उसमें हमें संकोच नहीं होता. "हो रहा है वो होने दो! सरकार कानून थोडे ही बदलनेवाली है?" सरकार कानून नहीं बदलती तो हमें बदल जाना? फिर धरम पालनेकी जरूरत क्या है, दर्शन करनेकी जरूरत क्या है? हररोज म्युझियममें जाओ न उतना ही मोह हो तो. अनेक मूर्ति वहाँ हैं. मन्दिरमें आनेकी जरूरत क्या है?

अपन मूर्तिके उपासक नहीं, भगवदुपासक हैं. मूर्ति और भगवान में अन्तर है. मन्दिरमें बिराजते हैं वे मूर्ति नहीं, साक्षात् भगवत्स्वरूप हैं. और म्युझियममें धरी हो वो मूर्ति हैं, वो भगवत्स्वरूप नहीं. एक statue बन जाते हैं. statueमें और भगवत्स्वरूपमें काफी अन्तर है. वो अपन समझते नहीं और अपने सिद्धान्त और भावना से विपरीत सरकार अपने मन्दिरोंके ट्रस्ट बनाकर फिर ट्रस्टमेंसे मूर्तियाँ ले लेती हैं. और अपन कहते हैं– "ले ले तो ले ले, उसमें हर्ज क्या है? म्युझियममें भी अन्तमें बिराजते ही हैं न शॉकेसमें?" धिक्कार है जो तुम ऐसे हिन्दु हो तो. उसके बदले तुम मुसलमान हो जाओ ऐसी मैं प्रार्थना करुंगा. यदि तुम सच्चे हिन्दु हो तो तुम्हारा खून गरम हो जाना चाहिये, कि अपने धर्मपे ऐसा अत्याचार कैसे हो सकता है? अपने जो आराध्य देव हैं उनको म्युझियममें कौन पधरा सकता है? पर अपन सब सह लेते हैं और कोई कहे कि ये बात सिद्धान्तसे विपरीत जा रही है तो हमें बुरा लगता है कि फिर हम क्या करेंगे?

कँई लोग मुझे पूछते हैं "हम इतने सालोंसे दर्शन करते आये हैं. अब यदि मन्दिरमें न जाये तो हम क्या करेंगे?" तुम छोटे थे तब पाँच-सात साल तक पढे नहीं थे. पर फिर स्कूलमें पढने जाते वक्त क्या तुमने ऐसा कहा "पाँच-सात साल तक तो पढे नहीं, अब पढनेसे क्या फायदा होगा?" ऐसा थोडे ही है कि जो पहलेसे करते आये वो सब सच्चा ही है? सच्चा है या जूठा है इसका निर्धारण अपन क्या करते आये इससे नहीं होता है. सिद्धान्तानुसार

क्या करना चाहिये उससे सच्चे-जूठेका निर्धारण होता है. अनेक जूठी बातें अपन करते आये हैं ; वो करते आये हैं इसलिये सच्ची नहीं हो जाती. जो सिद्धान्तानुसार करना चाहिये वो सच्चा कहा जाता है ; करते आये हैं इसलिये सच नहीं हो जाता. मन्दिरमें दर्शन तो शायद तुम कुछ सालोंसे ही करते आये हो, पर काम-क्रोधादि तो आदमी पैदा हुआ तबसे करता आया है. तो काम-क्रोध-लोभ-मोह क्या करने जैसे हैं? करोडों वर्षोंसे आदमी काम-क्रोध सब करता आया है, तो क्या करते आये हैं इसलिये करते ही रहना काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य? करते आये इसलिये करते रहना ये हेतु नहीं है. यदि तुम्हारेमें सामर्थ्य हो, यदि तुम सिद्धान्त मानते हो तो उसपे काबू पानेका प्रयास करना चाहिये. छोटा बच्चा तो सब जगह खराब करता है, ड्रोईंगरूम हो या रास्ता. तो तुम क्यों ड्रोईंगरूममें खराब नहीं करते, कि करते आये हैं इसलिये करते रहेंगे ड्रोईंगरूममें? शौचालयमें जाते हो या नहीं? तो इतनी सावधानी, इतना विवेक भगवानने दिया है तो उसका इस्तेमाल करना चाहिये. करते आये हैं इसलिये करते रहना ये सिद्धान्त नहीं. जो सिद्धान्तानुसार हो वो ही करना चाहिये, सिद्धान्तसे विपरीत हो वो नहीं करना चाहिये.

अब प्रश्न ये खडा होता है कि क्यों करते आये? कुछ लोग कहते हैं "अपने पूर्वज क्या मूर्ख थे?" अरे पूर्वज मूर्ख नहीं थे, अपन मूर्ख हैं. एक तो तब वैसे कानून नहीं थे, इतना हस्तक्षेप नहीं था. आज ऐसे कानून हैं कि दर्शन करते रहें तो मन्दिर पब्लिक हो जाता है, महाराजोंको पूजारी कहा जाता है, अपने ठाकुरजीपे सरकारी नियन्त्रण आ जाता है. और फिर भी हम कैसे मस्तराम, कि मर जाते हो तो मर जाने दो पर हमें दर्शन करने हैं. अस्पतालमें इन्टेन्सिव केर युनिटमें आदमी मरनेकी तैयारीमें होता है तब लोगोंकी भीड इकठ्ठी हो जाती है. डॉक्टर कहते हैं Visitors Are Not Allowed. अपन कहते हैं "मर जाये तो मर जाये, हमारा क्या गया? पर हम मिलने आये हैं कि नहीं अस्पतालमें?"

एक मन्दिरमें ऐसा ही हुआ. जन्माष्टमीके दिन ठाकुरजीको पंचामृत हो गये फिर भीडने आकर कहा "हमें ठाकुरजीके दर्शन करने हैं".

उन्होंने कहा "पंचामृत तो हो गये, अब दर्शन कैसे होंगे?" तो भीडने कहा "दर्शन क्यों नहीं होंगे हम दर्शन करने आये हैं तो?" उन्होंने कहा "ठाकुरजीको पंचामृत हो जानेके बाद फिरसे पंचामृत करायें तो परिश्रम होगा". तो भीडने कहा "हमें भी परिश्रम होता है इतने दूरसे दर्शन करने आये हैं तो ; फिरसे कराओ पंचामृत"! हम ब्याहमें आशीर्वाद देने जाये तो हृदयसे आशीर्वाद दे दें फिर कैमरामेन कहता है "फोटो आया नहीं, फिरसे आशीर्वाद दो"! तो यहाँ क्या फोटो पाडने हैं ठाकुरजीके कि फिरसे पंचामृत कराओ? क्या समझ रखा है? सेवाको तुम किस दर्जेपे पटकना चाहते हो ये तो सोचो.

वार्तामें स्पष्ट आता है कि उदयपुरके महाराणा आये तब दर्शन खोले नहीं. और दूसरे प्रसंगमें उन्होंने कहा कि टेरामें दर्शन करेंगे तो श्रीनाथजीने दरवाजा खोल दिया! और परमानन्ददासजीने गाया कि "कौन यह खेलवेकी बानि". कहाँ तो वो भावना कि अपन बडे-बडे राणाओंकी परवा नहीं करते थे अपने ठाकुरजीके बारेमें! और ये तो भीड आ गई तो लगा कि भीडको परिश्रम न हो इसलिये दर्शन खोलो! ये पुष्टिमार्गका सिद्धान्त नहीं भाई. तुम्हें यदि ऐसा सिद्धान्त चाहिये तो तुम मर्यादामार्गमें क्यों नहीं जाते? सुबहसे शाम तक चौबीस घंटे दर्शन खुले रहते हैं. तुम्हें भीड भी परेशान नहीं करेगी, शान्तिसे दर्शन होंगे. पुष्टिमार्गकी सेवाप्रणाली ऐसी नाजुक है कि वो कुछ मिनिटों तक होते दर्शनमें ऐसी भीडका बोझ नहीं झेल सकती. पर तुम उसे दर्शनकी लालसामें कुचलते हो.

अब दर्शन कैसे करते हैं! पैसेका वार करना है ठाकुरजीपे? अरे क्या भिखारी समझ रखे हैं? "किमासनं ते गरुडासनाय, किं भूषणं कौस्तुभभूषणाय। लक्ष्मीकलत्राय किमति देयं" ऐसे अपने ठाकुरजीको अपनने क्या समझ लिये? आजसे ५०-७५ साल पहले ठाकुरजीके सन्मुख भेट नहीं ली जाती थी ; तुम्हारे घरके बडोंको पूछकर देखो. जितनी सन्मुख भेट आती वो ठाकुरजीको न्योछावर करके कीर्तनियाजीको दे दी जाती थी. यह सन्मुख भेट = देवद्रव्यको कभी भी सेवार्थ काममें नहीं लिया जाता था. आज सब मन्दिर ये भेटसे चलाये जाते हैं. क्यों पहलेसे चली आती रीति हमने बदल दी? हमें सेवामें रुचि नहीं रही, हम

सिद्धान्त जानते नहीं और जा पहुँचते हैं सेवामें, कि हम आये हैं तो दर्शन करने हैं, हम आये हैं तो भेट धरनी है, हम आये हैं तो मनोरथ करना है! हममें Buyer's tendercy पनप गई है, pious tendency नहीं पनपी. सचमुच तो भक्तिकी, pious devotionकी tendency होनी चाहिये. वो नहीं अत: हम हर चीज खरीदना चाहते हैं. दुकानपे जा पहुँचे तो कहते हैं कि बिकाऊ माल कितना है? ये वृत्ति ये tendency हानि पहुँचाती है हमारी परम्पराको, हमारी भावनाको, हमारे सिद्धान्तको. वो बडोंमें नहीं थी इसलिये उन्हें दर्शन करनेकी छूट दी जाती थी. वे लोग सिद्धान्तको समझते थे, सिद्धान्तको जीते थे और वैष्णवों-महाराजोंके सम्बन्ध इतने घनिष्ठ थे कि एक-दूसरेको पराये नहीं समझते थे. आज वैष्णव महाराजोंको पूजारी समझते हैं!

कुछ दिन पहले एक भाई आकर मुझे कहते थे कि आप लोग दो-चार महाराज इसलिये मन्दिरका विरोध करते हो कि आपके पास काफी धन इकठ्ठा हो गया है! नहीं तो पहले क्यों विरोध नहीं करते थे? तो मैं तो चलो मान लूँ कि जेबमें पैसे आ गये इसलिये विरोध करता हूँ, पर महाप्रभुजी क्यों विरोध कर रहे हैं ये तो सोचो! श्यामुबावाको तुम चुप कर दोगे, पर महाप्रभुजीको कैसे तुम चुप कर दोगे? महाप्रभुजी जब कहते हैं कि "तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा" (सिद्धान्तमुक्तावली), "गृहे स्थित्वा स्वधर्मत:" (भक्तिवर्धिनी) सेवा तो घरमें ही करनी होती है, तब महाप्रभुजीको तुम कैसे चुप करोगे? श्रीगोकुलेश व्याख्या करते हुए ऐसी स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि घरमें जो सेवा न होती हो वो सेवा ही नहीं, तो गोकुलेशको तुम कैसे चुप करोगे? गोकुलेशके पास कौनसी मकान-दुकानकी सम्पत्ति आ गई थी? गोकुलेश स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि जो घरमें सेवा नहीं करता वो सेवा नहीं करता. ये वचन मैंने नहीं लिखा, श्रीगोकुलेशने लिखा है. "तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा" वचन मैंने नहीं लिखा, श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं. उसकी व्याख्या करते श्रीगुसांईजी कहते हैं कि सेवा करनेकेलिये दूसरेका धन लेना या सेवाकेलिये दूसरेको धन देना ये दोनों अपराध हैं. वहीं आगे "लोकार्थी चेद् ..." की टीकामें सवाल उठाते हैं "ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थम् अपि भजते तस्य का गति?" कोई जीविकादिकेलिये भजन करता हो तो उसकी क्या

गति? तो श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं "व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव. अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः". जीविकादिकेलिये जो भगवद्भजन करता हो तो वह भगवद्भजन नहीं, धंदा है. और वैसा धंदा करनेसे भगवानरूप अर्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वो भक्ति नहीं है. वो क्लेश प्राप्त करता है. आगे श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं "न केवलम् ऐहिक क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति." हरेकको ये बात समझनी चाहिये, कि ऐसा मत समझना कि केवल ऐहिक क्लेश होगा, सुप्रीम कोर्टके निर्णय तुम्हारे विरुद्ध आयेंगें. स्पष्ट समझ लो "किन्तु परलोकोपि नश्यति" तुम्हारा परलोक भी नष्ट हो जायेगा.

तो गुरुने तुम्हारा क्या बिगाडा है कि तुम गुरुका परलोक नष्ट करनेका ठानके बैठ गये हो? इतना तो सोचो भाई सा'ब. क्यों तुम गुरुकी सेवाको गुरुकी आजीविका बना देते हो? तुम क्यों अपने घरमें सेवा नहीं करते? गुरु तुम्हें सम्प्रदायमें दीक्षित करता है इसकी दक्षिणा तुम्हें ऐसी देनी चाहिये कि गुरुका परलोक नष्ट हो? तुम कितने गुरुद्रोही हो ये तो सोचो, कि गुरुके ठाकुरजीको भेट धरते हो? श्रीगुसांईजी कहते हैं "परलोकोपि नश्यति". गुरुका परलोक भी नष्ट हो जायेगा. और तुम कहते हो कि हमें तो भेट-मनोरथ करने ही हैं. भाई गुरु तो बालक है, कभी आगको भी मांग ले, पर तुम तो बालक नहीं हो न? जो तुम्हारा ऐहिक पारलौकिक दोनों सुधारता है वो गुरुका परलोक तुम्हें नष्ट नहीं करना चाहिये. "जो कहता था कल तक सम्भलना सम्भलना, वही लडखडाया सबेरे सबेरे". जो कल तक अंधेरेमें तुम्हें मार्गदर्शन देता था वो खुद सबेरे गिर गया –ऐसी गति गुरुकी करनेसे तुम्हें क्या फायदा है?

तो ऐसी दुर्गति मत करो. गुरुके ठाकुरजीके सन्मुख भेट मत धरो, गुरुके मन्दिरका पब्लिक ट्रस्ट मत होने दो, सेवाके बदलेमें Maintenance पाता पूजारी मत बना दो गुरुको. सर्वोच्च अदालत कहती है कि बालकोंको सेवा करनेकेलिये ट्रस्टमेंसे आमदनी दी जाती है इसलिये वे लोग पूजारी हैं. तो आजके कानून बालकोंको पूजारी बना रहा है. जो पूजा आजीविकाकेलिये करता हो वो पूजारी. अदालत कहती है

कि बालकोंकी पूजा आजीविकाकेलिये है, और अपन कहते हैं कि ठीक है, बालकोंको पूजारी होने दो! तो कैसी गद्दारी अपन मार्गके साथ कर रहे हैं! कैसा द्रोह मार्गके साथ कर रहे हैं! कभी सोचो कि तुम "श्रीवल्लभ-वल्लभ" करते हो और वल्लभवंशका निर्मूल उच्छेद करनेकी सौगन्ध लेके बैठ गये हो? तुम कैसे वल्लभभक्त हो? तुम वल्लभभक्त नहीं, द्वेषी हो. किसीकी हत्या करनेसे भी किसीका वंशोच्छेद करना यह जघन्यतम बूरेसे बूरा पाप है ऐसा शास्त्रका स्पष्ट निर्धार है. जो लोग गुरुको पूजारी बनाना चाहते हैं वे लोग वंशोच्छेद करनेकी नींव डाल रहे हैं. मुझे ये स्पष्टतासे कहना पडता है क्योंकि श्रीगुसांईजीने कहा है.

लोग कहते हैं तुम सबको गाली दे रहे हो, झघडा कर रहे हो. पर बात ऐसी है कि भगवान गीतामें कहते हैं "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः, महाशनो महापाप्मा विध्यैनम् इह वैरिणम्" काम-क्रोध तुम्हारे सच्चे शत्रु हैं. अब क्योंकि मेरेमें कामादि हैं अतः मैं भगवानको कहूँ कि भगवान हिन्दु धर्मकी एकता तोडनेकेलिये मेरी ऐसी निंदा कर रहे हैं कि कामादि छोड देने चाहिये! पर शान्तिसे सोचो, कि उसका मतलब ये है कि कामादि मेरेमें हैं और मैं उन्हें रखना चाहता हूँ. भगवान कहते हैं– उन्हें बंद करो, वो तुम्हारे सच्चे शत्रु हैं. मैं कहता हूँ– भगवानने हिन्दु धर्मकी एकता तोडनेकेलिये कामादिकी निंदा की है, क्योंकि वो मेरेमें हैं न! यदि मेरेमें है तो मुझे काबू पाना चाहिये, सुधर जाना चाहिये ; भगवानने गीतामें वचन इसलिये नहीं कहा कि हिन्दुधर्ममें फाटफूट पड जाये. भगवान सुधारनेकेलिये कहते हैं, बिगाडनेकेलिये नहीं. पर कहावत है कि चोरकी दाढीमें तिनका. तो मैं सिद्धान्त कहने जाऊँ और किसीको षडयन्त्र लगे, कलह लगे, विवाद लगे तो मैं क्या करुँ?

विवादका उपशमन सिद्धान्तसे होता है ; सिद्धान्तमें विवाद नहीं होता. सिद्धान्तमें तो जिज्ञासा होती है और समाधान होता है, यदि हम सिद्धान्त मानते हो तो. सिद्धान्त मानते हो तो सम्प्रदाय होता है ; सिद्धान्त न मानते हो तो सम्प्रदाय छोड देना चाहिये. श्रीमहाप्रभुजी गुसांईजी क्या कहते हैं ये देखो, कि "न केवलं ऐहिकं किन्तु परलोकोपि

नश्यति, निषिद्धाचरणात्.'' फिर देखो कितनी सुन्दर आज्ञा श्रीगुसांईजी करते हैं! कि ''यस्य स्वल्पम् अपि ज्ञानं स न एवं करोति'' मेरे मार्गका सुअल्प भी ज्ञान जिसे होगा वो तो ऐसा नहीं ही करेगा. कितना विश्वास है श्रीगुसांईजीको पुष्टिसृष्टिपे! और अपन कितने गद्दार दगाबाज हैं कि श्रीगुसांईजीके इस विश्वासका अपन घात कर रहे हैं! वे कहते हैं ''सर्वथा तद्रहितः कश्चिद् एवं कुर्याद् अपि'' पर जिसे सिद्धान्तका सर्वथा ज्ञान नहीं ; मार्गमें जबरदस्ती आ गया है कोई चर्षणी, तो शायद ऐसा करे भी. पर कोई ज्ञाता व्यक्ति तो ऐसा कभी नहीं करेगा. तो ये सिद्धान्त हम दिखा रहे हैं. हम कोई कलह नहीं करना चाहते. पर किसीको क्रोध आता हो तो मतलब ये कि आज उसे इस सिद्धान्तपे क्रोध आता है, कल उसे गीतापे भी क्रोध आयेगा कि भगवान कामादिकी निंदा क्यों करते हो? ये तो हमारी निंदा हो रही है ; तुम फाटफूट पाडना चाहते हो हिन्दुधर्ममें? भगवानपे Liable केस करो, कि कामादिकी निंदा करके तुमने हमारी निंदा क्यों की!

तो अपना सिद्धान्त ऐसा था ही नहीं. सिद्धान्तको समझनेका प्रयास करो. मन्दिर थे ही नहीं ; हवेलियाँ थी अपने यहाँ. हवेली माने रहनेका मकान. आज अदालत हवेलीका अर्थ मन्दिर करती है. अपनने बालकोंकी हवेलियोंमें जबरदस्ती जा-जाकर उन्हें मन्दिर बना दिये हैं. आज तो किसी गलीमें भी तुम जबरदस्ती tresspassing करो तो वो किसीकी प्राईवेट हो तो भी पब्लिक हो जाती है. कानून आजके ऐसे हैं. किसीकी खाली जमीन पडी हो और उसपे दो-चार झोपडपट्टी बांध दो तो बस, तुम्हारा claim हो जाता है. ये तो प्रवाह है आजके कानूनोंका. तदनुसार जहाँ पाँच-दस आदमी इकट्ठे हो वो स्थल पब्लिक हो जाता है. इस प्रवाहमें अपनी जमीन या सम्पत्ति चली जाये तो हरकत नहीं, पर अपने प्राणपति सर्वस्व ठाकुरजीको कैसे चले जाने दे? कितने दगाबाज हैं अपन सिद्धान्तके साथ –ये सोचनेकी जरूरत है. हमें ऐसा कुकृत्य क्यों करना चाहिये कि जिससे किसीके माथे बिराजते ठाकुरजी हर लिये जायें? हम ऐसे रावण क्यों बनें कि किसी रामकी सीता हर लें? हम पूतना क्यों बनें कि किसी यशोदाके लालाको जहर पिलाने जायें? अपन यदि आसुरी जीव न हो तो ऐसा दुष्कृत्य

अपनेसे हो नहीं सकता.

मन्दिर पहले थे ही नहीं, सब गृहसेवा थी. पर जबरदस्ती tresspassing कर-करके वे मन्दिर हो गये. पहले बालकोंने उसे बरदास्त किया, दर्शनकी छूट दी इसका कारण यही था कि पहले ऐसे कानून थे ही नहीं. ऐसे ऐसे नीतिमान लोग थे कि किसीका वारिस न मिलता हो तो २५-२५ साल तक सम्पत्ति सम्भालके रखते और जब उसका वारिस ढूंढनेपे मिले तब उसके पूछे बिना जाकर सब दे आते कि "तुम्हारी अमानत हमारे यहाँ पडी हुई थी, ये तुम ले लो. तुम्हें पता नहीं था पर हमारे यहाँ थी." आज ऐसा है कि अपन सौंपकर, लिखकर जायें तो लिखा हुआ भी फाड दें और जिसे सौंपा हो वो संचालक सबसे पहले खा जाये! एक महाराजश्रीने जिसे प्रभारी बनाया था वो ८० लाखकी धनराशि खा गया. जब महाराजश्रीने कहा "पैसे दो", तो उसने कहा "पैसे तो कबके खतम हो गये, हैं कहाँ?" तो संचालक ट्रस्टी आज पहले खा जाते हैं.

शुरुमें लोग कहते थे कि ट्रस्ट करनेसे सब सुधर जायेगा. सुधर जाता हो तो मुझे इसका जवाब दो कि बारबार अखबारोंमें क्यों देते हो कि नाथद्वारामें व्यवस्था अच्छी नहीं है? वहाँ तो ट्रस्ट है, फिर क्यों नहीं सुधर जाता? ट्रस्ट करनेसे कहाँ सुधर जाता है? कहीं भी नहीं सुधरता. सिद्धान्तको हानि होती है सो तो होती है और व्यवस्था फिर भी वैसीकी वैसी ही रहती है.

क्योंकि अपने मन्दिर पब्लिककेलिये थे ही नहीं ; घरमें सेवा थी. सेवापद्धति ऐसी है कि पूरे दिनमें मुश्किलसे आधे घंटे तक दर्शन होते हैं, सन्मुख कीर्तन होते हैं. उतनेमें सब भीडको दर्शन हो नहीं सकते, गर्दीमें व्यवस्था रह नहीं सकती. और धमासान हो तो अपन लेख छापते हैं कि नाथद्वाराके मन्दिरमें घोर अव्यवस्था है, तिरुपतिबालाजी आदिकी तरह अच्छी व्यवस्था नहीं. पर तिरुपतिबालाजीमें सुबह चार बजे दर्शन खुलते हैं और रातके ग्यारह बजे तक तिरुपतिबालाजी दर्शनार्थियोंके दर्शन ही करते रहते हैं ; सेवाका प्रकार सब खुले टेरेमें चलता है. वो वहाँ उन्हें चल सकता है. अपने सम्प्रदायकी रीति वैसी नहीं ; प्रभुका परिश्रम विचारके सेवा करनेकी है. तो वो प्रकार अपन कैसे

निभा सकते हैं? अपने यहाँकी सेवाप्रणाली पब्लिककेलिये नहीं, घरकेलिये है. दर्शन खुलनेका सीधा मतलब यह कि घरका हरेक व्यक्ति दर्शन करे. अब घरमें कोई मेहमान आये तो वो भी परिवारका सदस्य जैसा होनेसे दर्शन कर लेता था. आज भी वैष्णवोंके घरमें ठाकुरजी बिराजते हो और अपन जायें तब दर्शन खुले हो तो नहीं करते? करते हैं. इतनी सहजतासे बालक वैष्णवोंको दर्शन करा देते थे.

क्योंकि वैष्णव ऐसा केस नहीं करते थे कि ये पब्लिक हो जाता है. वैष्णव ऐसे जबरदस्त नहीं थे कि महाराज दर्शन बंद करा दे तो महाराजके विरुद्ध केस ठोकके महाराजको ही निकाल दे! जूनागढकी हवेलीमें ऐसा ही हुआ है. पहेले वहाँके कक्कड और जोबनपुत्रा ने ऐसा केस किया कि ये बहुजीमहाराज मालिक नहीं हैं. फिर ट्रस्ट हुआ और तय हुआ कि बहुजीमहाराज इसके ट्रस्टी हैं. अब उन्होंने दूसरा दावा ठोक दिया है कि बहुजीमहाराजको ट्रस्टी होनेका अधिकार नहीं है! अपन ये सब सह लेते हैं, क्योंकि अपन मानते हैं कि मन्दिर है तो मन्दिरमें ऐसा ही होना चाहिये. तुम तुम्हारे घरका ट्रस्ट करते हो? तुम्हारी दुकानका ट्रस्ट करते हो? कोई अपने घर या दुकान का ट्रस्ट नहीं करता ; महाराजके पीछे सब पड जाते हैं. तुम्हें श्रद्धा न हो तो मत जाओ, भेट मत धरो, मत मानो हमें. सम्प्रदायमें भी श्रद्धा न हो तो तुम मर्यादामार्गीय हो जाओ. हिन्दुधर्ममें श्रद्धा न हो तो मुसलमान हो जाओ, इसाई हो जाओ. पर महाराजसे इतना द्वेष क्यों करते हो ये समझमें नहीं आता. महाराज जो सिद्धान्त कहते हैं वो सुनते नहीं हैं, श्रीमहाप्रभुजी-गुसांईजी जो सिद्धान्त कहते हैं उसमें विश्वास नहीं ; बस एक झंडा लेकर चलते हैं कि दर्शन करना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है! क्यों ऐसी दुर्भावना, ऐसा द्वेष, ऐसी प्रतिस्पर्धा पैदा हो गई है ये समझमें नहीं आता.

एक सम्प्रदायके अपन दोनों पैये हैं. दोनों तालमेलसे एक साथ चलने चाहिये. सम्प्रदायके सिद्धान्तके रथका भार वहन करनेकी अपनी जिम्मेदारी है. धर्मगुरु और धर्मानुयायी दोनोंको एक-दूसरेके सहकारसे चलना चाहिये. पर अपने गले सिद्धान्तकी बात नहीं उतरती ; एक भैंसकी तरह सोचे बिना चलते ही रहना है. सिद्धान्त ही नहीं पसन्द आता,

और सब पसन्द आये –ऐसे कैसे धर्मानुयायी अपन हैं ये तो कभी दिलपे हाथ रखके सोचो! और सचमुच महाप्रभुजीके सिद्धान्त पसन्द न हो तो कोई बुराई नहीं, और अनेक सिद्धान्त हैं ; क्यों कंठी तोडकर वे सिद्धान्त नहीं पालने लग जाते? जो सिद्धान्त तुम्हें पसन्द हो, जो मन्दिर २४ घंटे खुला रहता हो, जहाँ शोरशराबा या भगदड न होती हो, जहाँ लंगर चलता हो वैसे सम्प्रदायमें तुम दीक्षित हो जाओ. तुम्हें खूब लड्डु-पूरी मिलते ही रहे उसमें कोई हरकत नहीं. तुम्हें लड्डु-पूरी मिले उसमें कोई महाराजको क्यों द्वेष होगा? पर महाराजके ठाकुरजी महाराजसे जबरदस्ती ले लेने, महाराजका धर्माचार्यका पद महाराजसे ले लेना –ये कहाँका इन्साफ है? ये कहाँकी धर्मानुयायिता है तुम्हारी? तुम कौनसी सिद्धान्तनीतिसे बरत रहे हो? ये सोचो.

मैं ऐसी आज्ञा करता हूँ कि तुम तुम्हारे घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा नियमसे करो. मन्दिरमें जाना या नहीं ये मेरी बातका विषय नहीं है. मेरी बातका विषय ये है कि तुम ऐसा दुराग्रह मत रखो कि मन्दिरमें हररोज जानेका नियम लेकर उसे पब्लिक करा दो. ऐसे दावे, ऐसे कुकर्म मत करो कि जिससे महाराजके ठाकुरजी सरकार ले ले. तुम्हारे घरमें तुम्हारे ठाकुरजीकी सेवा करनेका आग्रह रखो. पहले और अब जो मन्दिर बन रहे हैं वो गलतीसे ही नहीं, सिद्धान्तके द्वेषसे भी बन रहे हैं.

प्र. ८७ देवद्रव्य किसे कहते हैं? ठाकुरजीको धरी गई भेट देवद्रव्य कैसे हो जाती है?

उ. ८७ श्रीगुसांईजीने नवरत्नकी टीकामें ये विवेचन किया है कि ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय अपन हरेक वस्तु प्रभुको निवेदित करते हैं. निवेदित करना मतलब ऐसा भाव ज्ञापित करना कि जिसे अहन्ता-ममताके कारण आज दिन तक मेरे माने वो देहादि, परिवार, सम्पत्ति, गृहादिके साथ मैं तेरी सेवामें हाजिर हूँ. इस अहन्ता-ममताके कारण मैं तेरी सेवामें प्रवृत्त नहीं हुआ था ; अब सब चीजोंके साथ तेरी सेवामें हाजिर हूँ. ये है आत्मनिवेदन. निवेदन माने जिसे Intimation कहते हैं, सूचना देनी. वैसे प्रभुको हम दीनतासे सूचित, निवेदित करते हैं कि मैं और मेरेसे

सम्बन्धित धन, घर, पत्नी, पुत्रादि सबके साथ मैं तेरी सेवामें हाजिर हूँ. निवेदन माने एक प्रकारका वादा किया. वादा किया तो चुकाना चाहिये. जिसका दिवाला निकल जाये उससे पैसे भले ही वापिस न ले पायें पर जो वादा करके न चुकाये उसपे केस तो कर सकते हैं. तो जो ब्रह्मसम्बन्ध लेता है वो प्रभुको वादा करता है कि मैं और मुझसे सम्बन्धित हर चीज तेरी सेवामें है. वैष्णव ब्रह्मसम्बन्ध ले जाये पर सेवा न करे मतलब वादा किया पर पैसे नहीं चुकाये. तो अपने ब्रह्मसम्बन्ध लेनेसे कोई चीज देवद्रव्य नहीं हो जाती. ब्रह्मसम्बन्ध लेके हरेक चीजका सेवामें विनियोग करें उससे भी कोई चीज देवद्रव्य नहीं हो जाती.

जैसे स्त्रीको अपन ब्याहके लाएँ, वो अपनी धर्मपत्नी हो जाये ; अपने घरकी चावी, तिजोरी, पैसे, चेकबुक आदि अपन उसे सौंप दे कि ये सब तू सम्भाल. पर वो सम्पत्ति पति-पत्नीकी है, दम्पतिकी है, स्त्रीधन नहीं. कानूनन भी कुछ चीज स्त्रीधन मानी जाती हैं ; जैसे कि स्त्रीको मिला कन्यादान स्त्रीधन है, अपन स्वयं पत्नीको कुछ दे दे कि ये तेरा तो वो भी स्त्रीधन है. शास्त्र कहता है कि वो स्त्रीधन पति काममें नहीं ले सकता, और ले तो उसे व्याजसहित वापस चुकाना चाहिये. जो पत्नीको दे दिया हो उसका इस्तेमाल नहीं कर सकते. तो अपना जो कुछ हो वो पत्नी इस्तेमाल कर सकती है पर पत्नीके स्त्रीधनका अपन इस्तेमाल नहीं कर सकते. पति पत्नीके स्त्रीधनका वसियतनामा भी नहीं कर सकता ; पत्नी जिसे देना चाहे उसे मिलता है.

वैसे ही अपने घरमें ठाकुरजी बिराजते हैं उनका और अपना सब common है. पर फिर भी अपन कुछ ठाकुरजीको भेटरूपमें धरे तो वो देवद्रव्य हो जाता है. उसके बारेमें श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं "दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने. अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्यात्". अपने प्रभुको सब कुछ निवेदन कर देनेपे कुछ भी देवद्रव्य नहीं होता पर प्रभुको यदि कुछ दान या भेट के रूपमें दें तो वो देवद्रव्य हो जाता है. उसे अपने उपयोगमें नहीं ला सकते. जैसे अपन स्त्रीको खिलानेकेलिये कमाते हैं, पर वो उसकी भोक्ता है,

मालिक नहीं. वैसे अपन प्रभुको भोग धरनेकेलिये कमा रहे होंगे, पर वो देवद्रव्य नहीं हो जाता. देवद्रव्य तब हो जायेगा कि जब अपन प्रभुके नामपे प्रभुको कुछ दें, कुछ भेट धरें तो. प्राय: सब जाहिर मन्दिर एसी भेट की गई सम्पत्तिसे चलते होते हैं. अत: वो देवद्रव्य हो जाता है और उसका फिर प्रसाद नहीं ले सकते –ये सिद्धान्त है. बाकी अपन अपने खुदके पैसेसे अपने ठाकुरजीको भोग धरें वो देवद्रव्य नहीं होता.

प्र. ८८ देवद्रव्यका सिद्धान्त हमें मान्य है, पर श्रीआचार्यचरण किसीको सीधा और किसीको पत्तल ले जानेका कहते थे उसके पीछे क्या रहस्य था?

उ. ८८ बात ऐसी है कि आज तो ये व्यवस्था अपने समाजमेंसे उठ गई है, पर पहले महाप्रभुजीके यहाँ ही नहीं, प्राय: हरेक हिन्दुके घरमें ऐसी व्यवस्था रहती थी कि कोई आनेवाले अतिथिको सीधा देना और जो अपने यहाँ ले सकता हो उन्हें भोजन कराना. ये व्यवस्था वैष्णव ही नहीं, हरेक हिन्दुके घरमें थी, क्योंकि अतिथिसत्कार ये गृहस्थका प्रथम कर्तव्य है. तो महाराज गृहस्थ होनेसे अपने घनिष्ठ सम्बन्धीकी खातिरदारी क्यों न करे? अब महाराज करे इसलिये 'खातिरदारी' न कहकर 'कृपा' कहा जाता था. तो जो वैष्णव ठाकुरजीको साथ पधराकर लाया हो वो ठाकुरजीको भोग धरके प्रसाद लेगा ये भावसे महाप्रभुजी सीधा देते थे. और जो ठाकुरजी पधराये बिना आते थे या जिनके माथे ठाकुरजी नहीं बिराजते थे उन्हें श्रीमहाप्रभुजी श्रीगुसांईजी प्रसादी पत्तल देते थे. दोनों तरहसे सत्कार हो सकता है. जैसे तुम्हारे यहाँ वैसे हमारे यहाँ, उसमें भेद है ही नहीं.

प्र. ८९ ८४-२५२ वैष्णवोंकी वार्तामें आता है कि वैष्णव एक-दूसरेको द्रव्य देते थे, तो आप क्यों मना करते हो? आप कहते हो कि अपने ठाकुरजीको अपने पास जो हो वही तन-मन-धनसे धरना चाहिये, तो ठाकुरजीकेलिये सामग्री-वागा-वस्त्र आदि दूसरे वैष्णवसे ले सकते हैं या नहीं?

उ. ८९ ये सचमुच समझने लायक है. तुम्हारा और देनेवालेका भाव कैसा है इसपे ये निर्भर है. आजकल कुछ लोगोंको पसन्द नहीं आता तो लग्नपत्रिकामें लिख देते हैं कि चांदला या भेट-सौगाद लेनेकी प्रथा बंद है. पर प्राचीनकालमें चांदला या भेट-सौगाद लिये और दिये जाते थे. उसका कारण क्या? कि अपने परिचितके घर ब्याह या ऐसा कोई प्रसंग आया तो उसपे कोई आर्थिक बोज न आ जाये. अत: हरेक व्यक्ति अपना-अपना योगदान उसमें देते. वो चांदला या भेट-सौगादके रूपमें ही देते ऐसे नहीं, छोटे गाँवमें तो घर जाकर काम भी कराते. ऐसी आपसकी साथ जीनेकी भावना थी. उस भावनाके कारण सब लोग एक-दूसरेको चांदला-भेट-सौगाद देते, कि जिससे किसीके विवाहका खर्चका बोज बट जाये. अब किसीको ऐसी भावना न होनेके कारण "दूसरेके धनसे मेरे बेटे/बेटीका ब्याह क्यों करुँ?" ये सोचके नहीं लेते.

अब समझनेकी बात ये कि चांदला-भेट-सौगाद लेनेकी प्रथा क्या भिक्षा है? नहीं, क्योंकि भिक्षा परस्पर नहीं होती है और वो दयासे दी जाती है. चांदला-भेट-सौगाद किन्तु दयासे नहीं, परस्पर सहयोगकी भावनाके कारण दिये जाते हैं. तो जहाँ सहयोगका, साथ जीनेका भाव हो वहाँ एक-दूसरेको दिया गया ले सकते हैं. पर जहाँ पारस्परिक भाव नहीं वहाँ कोई किसीको कुछ दे तो वो भीख या सहायता समझी जाती है, सहयोग नहीं. सहायता और सहयोग में अन्तर है. सहयोग माने क्या? कि तुम्हारे यहाँ ब्याहका प्रसंग हो तो मैं चांदला-भेट-सौगाद दूँ और मेरे यहाँ प्रसंग हो तो तुम चांदला-भेट-सौगाद दो. वो सहायता नहीं है. और तुम खराब परिस्थितिमें आ गये इसलिये मैं तुम्हें दूँ या मैं खराब परिस्थितिमें आ गया इसलिये तुम मुझे दो उसमें सहायताका भाव होता है ; सहयोगका नहीं.

ठाकुरजीकी सेवा हमें अपने तन-मन-धनसे करनी है, पराये तन-मन-धनसे नहीं. पर जैसे बाप सेवा करता हो और बेटा कमाकर लाता हो तो वो धन पराया है या अपना ये मा-बापके साथ बेटेके रिश्तेपे अवलम्बित है. यदि स्नेहसम्बन्ध होगा तो बाप उसे अपना धन ही मानेगा, क्योंकि 'अपन'का भाव है, 'तू-मैं'का भाव नहीं लगता. तो

जहाँ अपनेपनका भाव है वहाँ लेने-देनेमें भेद नहीं होता, और जहाँ वो भाव नहीं वहाँ लेने-देनेमें एक-दूसरेकी शरम रखनी होती है. तो एक वैष्णव दूसरे वैष्णवको सामग्री आदि दे तो लेनी या न लेनी इसका निर्णय उस वैष्णवके साथ तुम्हारे सम्बन्धके आधारपे करना चाहिये. ठाकुरजीकी बात छोडके सोचे तो तुम्हारे बेटेकेलिये वो कपडे लाये या तुम्हारे लिये साडी, फल-फूल आदि लाये तो तुम लोगे या नहीं? यदि परिवार जैसा सम्बन्ध हो, आपसमें लेने-देनेका सम्बन्ध हो तो लिया जा सकता है. तुम बाहरगाँव घुमने जाओ और तुम्हारे लिये कुछ लो वैसे उनकेलिये भी कुछ लो तो उसमें भीख देनेका या सहायताका भाव नहीं है, पारस्परिक स्नेहका व्यवहार है. ऐसे स्नेहके व्यवहारसे कोई एक-दूसरेके ठाकुरजीकेलिये कुछ लाता हो तो ले सकते हैं. पर देनेवाला सेवा न करता हो और तुम करते हो तो तुम्हें कुछ देकर वित्तजा सेवा करनी चाहिये ऐसे भावसे कोई कुछ देता हो तो निश्चित नहीं लेना चाहिये.

ये तुम्हारे और देनेवालेके सम्बन्धपे निर्भर है. मैं ऐसे नहीं कह सकता कि तुम्हें नहीं ही लेना या ले ही लेना. क्योंकि लेनेकी छूट दूँ तो सेवाका धंदा हो जाये और आजके मन्दिरोंकी तरह महाराज या मुखिया-भीतरिया तनुजा सेवा करते हो जाये और वैष्णव वित्तजा सेवा करते हो जाये और सिद्धान्तका खण्डहर हो जाये! तुम्हारे परिवारजनोमें तुम किसे गिनते हो ये तुम्हारे हृदयका विषय है, शास्त्र तुम्हें नहीं बतायेगा.

प्र. ९० यदि हरेक जाहिर पुष्टिमार्गीय भगवद्धाममें दर्शन करना/कराना बंद हो जाये तो आज ब्रह्मसम्बन्धी पुष्टिसृष्टिको संगठित होनेका कोई स्थान या प्रकार नहीं रहेगा. संगठित होनेसे मेरा तात्पर्य यही है कि आजका युग अनेक बदलती विचित्र परिस्थितियोंको देख रहा है, तो पुष्टिसृष्टिमें एक-दूसरेसे मिलते रहे, विचारोंका आदानप्रदान करते रहे तदर्थ आपका क्या सुझाव है?

उ. ९० एक पुष्टिमार्गीय सोशियल क्लब खोल दो कि जहाँ सब मिल सको. 'क्लब' नाम बुरा लगता हो तो सत्संगभवन खोल दो. सब

मिलके पाठ करो, सिद्धान्तका अध्ययन करो, कीर्तन गाओ –ये सब कर सकते हो. हर गाँवमें, हर शहरके उपनगरोंमें एक-एक होल ले लो कि जिसमें सब मिल सको. उत्सवके दिन एकत्रित हो, जब-जब बालक पधार सकते हो तब उनको पधराकर सिद्धान्त सुनो –ये सब आनन्दसे करो. पर संगठनकेलिये मन्दिर खोलना तो ठगाई है. अपन ठाकुरजी, महाप्रभुजी तथा सिद्धान्त को धोखा देते हैं. ये अपना सिद्धान्त नहीं. सेवाकेलिये हर चीज होनी चाहिये, पर सेवा किसीकेलिये नहीं, सेवा तो प्रभुकेलिये ही. आज अपन संगठनकेलिये सेवा करना शुरु करेंगे, कल भूत-प्रेत भगानेकेलिये करेंगे, फिर कभी धंदेकेलिये करेंगे ... कहाँ जाकर रुकनेवाले हैं? ऐसे सेवाका इस्तेमाल करेंगे तो अपना ऐहिक और पारलौकिक दोनों नष्ट हो जायेगा, "लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा".

प्र. ९१ वार्तामें आता है कि उदाहरणतया परे जैसे कुछ वैष्णव भेट/सेवा लेनेकेलिये दूसरे गाँव जाते थे. तो वो भेट/सेवा क्या श्रीठाकुरजीकेलिये नहीं थी?

उ. ९१ बात सच है, श्रीठाकुरजीकेलिये थी पर श्रीगुसांईजीने उसे उस तरहसे ही वापरी थी. और फिर सब वार्तामें ऐसा नहीं आता कि ठाकुरजीकेलिये ही थी. क्योंकि छकडाकी वार्तामें तो साफ आता है कि जब श्रीठाकुरजीकी कटोरी गिरवी रखी तब वो धनसे धरा भोग देवद्रव्यका होनेसे उसका प्रसाद न तो स्वयं महाप्रभुजीने लिया और न ही श्रीगोपीनाथजी गुसांईजी या वैष्णवोंको लेने दिया ; गौग्रासमें और यमुनाजीमें पधराया. वासुदेवदास छकडा जो २७ सोनामौहर भेट लेके आये थे वो महाप्रभुजीकी भेट थी, ठाकुरजीकी नहीं. उस भेटसे सबसे पहले महाप्रभुजीने वो कटोरी छुडवाई, फिर भण्डारमें धान्य भरवाया और सामग्री सिद्ध करके भोग धरा. बादमें उस भोगका प्रसाद स्वयंने लिया और सबको लिवाया. जो भी भेट आती थी वो ठाकुरजीको ही आती थी ऐसा गलत अर्थ मत लगा लेना.

प्राय: भेट श्रीमहाप्रभुजीकी ही आती थी, ठाकुरजीकी नहीं. पर श्रीनाथजीको गद्दड, वस्त्र आदिकी भेट भेजते थे, और वो भेटके बारेमें

इतनी सावधानी रखनेमें आती थी कि अपने काममें उसका उपयोग न हो, क्योंकि वह ठाकुरजीका देवद्रव्य है.

अपनी बेटी अपने घरमें माँकी हर चीजका इस्तेमाल करे, बहनकी हर चीजका इस्तेमाल करे, उसमें कुछ हरकत नहीं ; अपनी बेटी नहीं इस्तेमाल करेगी तो कौन करेगा? पर जब बेटीका कन्यादान हो और उस कन्यादानमें जो कुछ हमने बेटीको दिया हो उसमेंसे फिर हम किसी चीजका उपयोग नहीं कर सकते, ऐसा कहकर कि "मैंने ही तो दिया है न?" कोई हिन्दुस्तानी माता-पिता करते हैं ऐसा काम, कि बेटीको कन्यादानमें जो सम्पत्ति दी हो वो अपने निजी काममें इस्तेमाल करे? प्राचीन कालमें तो ऐसे सख्त नियम थे कि बेटीके यहाँ जाये तो माँ-बाप पानी भी नहीं पीते थे ; जिस बेटीका कन्यादान किया उसके घरका पानी हम कैसे पी सकते हैं? व्रजके गाँवोंमें तो एक गाँवकी लडकी दूसरे गाँवमें ब्याही गई हो तो इस गाँवके आदमी उस गाँवका पानी न पीये –ऐसी सावधानी रखते हैं! तो यही बात है कि जो हमने ठाकुरजीको भेटरूपमें दे दिया वो देवद्रव्य हो गया ; उसमेंसे कुछ भी अपने निजी उपयोगमें लाया नहीं जा सकता. जो हम ठाकुरजीको भेट नहीं देते ; जो अपना है और केवल उसे सेवामें लाते हो, तो वो ठाकुरजीका नहीं हो जाता. जैसे मेरी बेटी मेरे यहाँ रहकर मेरी चीजोंका उपयोग करती हो तो वो उपयोग करती है करके चीज छू नहीं जाती. मेरे घरमें मेरी चीजका मेरी बेटी उपयोग कर सकती है. पर जो चीज मैं बेटीको कन्यादानके रूपमें दूँ उस चीजका फिर मैं उपयोग नहीं कर सकता –इतनी सावधानी मुझे रखनी चाहिये. वैसे ठाकुरजीकी जो चीज भेटके रूपमें रखते हों उसे किसी भी प्रकारसे निजी उपयोगमें न लिया जाये यह अपना सिद्धान्त है. क्योंकि ठाकुरजीको भेट दी गई चीज देवद्रव्य हो जाती है, और देवद्रव्य हम नहीं खा सकते.

अदालत कहती है कि तुम्हारे ये सब सिद्धान्त झूठे हैं ; ठाकुरजीको ही सब भेट आती हैं. और तुम्हें आमदनी-Maintenance तो मिल रहा है, तो फिर तुम्हें हरकत क्या है? क्यों झघडा करते हो? पर हम ऐसा कहते हैं कि ठाकुरजीको भेट आती ही नहीं ; हमें हमारे

घरमें भेट आ रही है. लोगोंने जबरदस्ती यह अपसिद्धान्त खडा किया है. हमारा सिद्धान्त ऐसा है ही नहीं. परन्तु अब वैष्णव भी ये बात नहीं मानते, कोर्ट भी नहीं मानता, तो आखिर मानेगा कौन? यदि वाल्लभसम्प्रदायको बचना है तो ये बात कौन मानेगा? फिर किसकेलिये है ये सिद्धान्त? कोर्ट न माने, पर हम तो महाप्रभुजीके अनुयायी हैं या नहीं? हमें तो ये बात माननी ही चाहिये, और विशेषतया इस स्थितिमें कि जिस स्थितिमें भेट धरनेके कारण कोर्ट ऐसा मानता हो कि ठाकुरजी महाराजके नहीं रह जाते, पब्लिकके हो जाते हैं. पब्लिकके ठाकुरजी हो गये तो फिर ये प्रश्न होता है कि जिस धनसे सेवा हो रही है वो धन किसका? पब्लिकका या ठाकुरजीका? यदि ठाकुरजीका हो तो उसमेंका कुछ भी ; प्रसाद या घर या कुछ भी, अपने काममें नहीं ले सकते, क्योंकि वो देवद्रव्य हो जाता है. और यदि धन पब्लिकका है तो "तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा" का सिद्धान्त, कि अपने तनसे अपने धनसे अपने घरमें खुद सेवा करनी चाहिये, ये अपना सिद्धान्त निभता नहीं. ये मूल बात है. प्रश्न धनका नहीं है, फिर भी अपने मोहके कारण सिद्धान्त टूट रहा है ; प्रश्न इसका है.

परेकी वार्तामें स्पष्ट आता है कि भंडार श्रीगुसांईजीका था. गुसांईजीके भंडारकेलिये वे भेट लेने गये थे ; श्रीनाथजीके भंडारकेलिये नहीं. ऐसा नहीं कि जतिपुरामें श्रीगुसांईजीका घर नहीं था. गोकुल श्रीमहाप्रभुजीका और जतिपुरा श्रीगुसांईजीका खरीदा हुआ गाँव था. वे गाँवके निजी मालिक थे उसका दस्तावेज आज भी मिलता है. तो जतिपुरासे गये माने श्रीनाथजीकेलिये ही गये ऐसे मान लेना भी जरूरी नहीं.

उदयपुर, कोटा, जयपुर, बिकानेर, किशनगढ और शाहपुरा इतने राज्योंके महाराणाओंने हस्ताक्षर करके कहा है "हम प्रमाणित करते हैं कि जतिपुरा और गोकुल गाँव तिलकायित महाराजकी मालिकीके गाँव हैं. इतना ही नहीं पर उन गाँवोमें स्थित हरेक सम्पत्तिपर तिलकायित महाराजकी निजी मालिकी है. जिसे न मानना हो वो न माने ; हम इस बातके साक्षी हैं". नाथद्वाराका सिंहाड गाँव भी तिलकायित महाराजको भेट आया हुआ गाँव था. उस गाँवपे तिलकायित महाराजकी निजी मालिकी थी. सिंहाड गाँवके जागीरदार मालिक थे तिलकायित महाराज.

जब जागीर abolish हुई तब उनकी जागीरदारी गई और फिर सरकार एवं वैष्णवोंने कपट करके मन्दिरको भी पब्लिक करा दिया, अतः अब हमें पता नहीं चलता. फिर भी श्रीनाथजीका द्रव्य निजी उपयोगमें न लेनेकी सावधानी सभी पूर्व तिलकायित महाराजोंने रखी है और स्वयं श्रीमहाप्रभुजीने नहीं लिया. सो हमें भी नहीं लेना चाहिये.

प्र. ९२ लौकिकमें हमें संकोच हो तो अधिक सामग्री, सिंगार आदि नहीं धरा सकते तो मनमें दुःख होता है. तो मन्दिरमें वैभवसे सेवा हो उसमें क्या बुराई है?

उ. ९२ देखो, आज तो ठाकुरजीका प्रश्न है. कल तुम्हारा ब्याह हो और बेटा हो और वो तुम्हें कहे "यहाँ तुम एक ही मेरा ध्यान रखते हो ; अनाथालयमें तो बटालियनकी बटालियन मेरा ध्यान रखनेको मौजूद है. अतः मुझे तुम्हारे पास नहीं रहना, अनाथालयमें जाकर रहना है." तो तुम उसे जाने दोगे? यदि न जाने दो तो बस समझ जाओ कि ठाकुरजीको सच्चा सुख ज्यादा या कम से नहीं, ज्यादा सेवा या कम सेवा से नहीं, ज्यादा नेग-भोग या कम नेग-भोग से नहीं. श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट आज्ञा करते हैं "अल्पं बहु वा न प्रयोजकं, सेवनं स्वयोग्यानुसारेण।" सेवा कम करनी या ज्यादा करनी ये सिद्धान्त अपना नहीं है. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि जितनी सेवा तुम्हारी योग्यतानुसार तुम कर सको उतनी ही सेवा लेनेमें प्रभुको रुचि है.

वार्तामें आता है कि गोविन्ददास भल्ला अपनी योग्यतासे आगे बढके सेवा करते थे तब श्रीनाथजीको श्रीमहाप्रभुजीको आज्ञा देनी पडी "तिहारे सेवक मोकों कष्ट देत हैं." वह सेवा सेवा ही नहीं जो सेवा तुम तुम्हारी योग्यतासे आगे बढकर करना चाहते हो. वो पुष्टिकी प्रभुसेवा नहीं किन्तु प्रभुको दिया जाता कष्ट है. उसमें भी यदि दूसरेसे मांगके करो तो कष्ट नहीं, महाकष्ट है. और वो भी ठाकुरजीके नामपे मांगके करो तो वो महाकष्ट नहीं, महाअपराध है. ठाकुरजीके नामपे धन नहीं मांग सकते, नहीं मांग सकते, नहीं मांग सकते. श्रीमहाप्रभुजीकी कंठीकी हमें सौगन्द है कि ठाकुरजीके नामपे किसीको धन दे नहीं सकते और किसीसे मांग नहीं सकते. "तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा" ये ही

अपना सच्चा सिद्धान्त है.

ठाकुरजीको सुख ज्यादा या कम सेवामें नहीं. ठाकुरजीको तो छोलामें भी सुख है. और कितना सुख, कि गिरिधरजीके घर पधारे तब मथुराधीशजीको पद्मनाभदासजीके छोलेका स्वाद छप्पनभोगमें नहीं आया! ठाकुरजीका सुख उस छोलेमें है जो तुम तुम्हारे हृदयके भावसे प्रभुको समर्पित करते हो. ठाकुरजीका सुख ऐसे छप्पनभोगमें नहीं कि जो हम आज यों मैदानमें करते हैं और कभी सुपर बाजारमें करते हैं! ठाकुरजीका सुख उस छोलामें है कि जो हम हृदयसे भावपूर्वक धर सकें. और इतने स्वाभिमानसे धर सकें कि श्रीमहालक्ष्मीजीने सामग्री भेजी तो पद्मनाभदासजीने कहा कि इसका मतलब हमें विदा करना है अत: अब भाग चलो. महाप्रभुजीको महालक्ष्मीजीको कहना पडा कि तुम्हें ऐसा अनादर नहीं करना चाहिये था. ठाकुरजीके नामपे सामग्री देनेसे पद्मनाभदासजीका हृदय कितना व्यथित हो गया ये बात श्रीमहाप्रभुजीको श्रीमहालक्ष्मीजीसे कहनी पडी. इस बातसे तुम समझो कि किसीको ठाकुरजीके नामपे कुछ दे नहीं सकते. उनके छोलेमें श्रीमथुराधीशजीको कितना स्वाद आता था ये इस बातसे मालूम पडता है कि छप्पनभोग अरोगनेके बाद भी श्रीमथुराधीशजीको छोलाकी याद सताती ही थी और उदासीनता छाई थी. ये पुष्टिमार्ग है, ये पुष्टिमार्गका धर्म है, ये पुष्टिमार्गके भावकी दिव्यता है. आज हम कहाँ भटक रहे हैं ये बात गम्भीरतासे सोचो तो कुछ समझ पाओगे.

तो दिमागमेंसे ऐसे भरम निकाल दो कि जहाँ नेग-भोग बडे पैमानेपे चढाया जा रहा है वहाँ प्रभुको ज्यादा सुख है और जहाँ कम पैमानेपे धराया जा रहा हो वहाँ सुख नहीं है. महाप्रभुजीका स्पष्टतम सिद्धान्त है "अल्पं बहु वा न प्रयोजकं, सेवनं स्वयोग्यानुसारेण।" सेवा अपनी योग्यतानुसार करनी चाहिये. कम करनी या ज्यादा इस बारेमें कोई आग्रह नहीं है.

प्र. ९३ वैष्णव वृद्ध हो और स्वयं सेवा नहीं कर पाते हो तो उन्हें दर्शन करने कहाँ जाना?

उ. ९३ महाप्रभुजी कहते हैं कि सेवा जिनसे न हो पाती हो उन्हें

घरमें बैठकर भगवत्चिन्तन करना चाहिये, भगवत्कथाका पक्ष अपनाके भगवल्लीलाका स्मरण करना चाहिये, कीर्तन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये. ऐसा कैसा दुराग्रह कि "मुझे शादी तो नहीं करनी पर विवाहित लोग क्या करते हैं ये खिडकीमेंसे झाँकना है!" अरे यार, दूसरोंके घरमें झाँकना पसन्द हो तो खुद क्यों नहीं ब्याहता! पर ऐसी कुनीतिकी वृत्ति अपनेमें जगी है कि "ब्याह करें तो पत्नीको खिलाना पडे अत: ब्याहना नहीं है, पर झाँकना है कि विवाहित क्या करते हैं"! खुदको सेवा करनी नहीं है और दूसरे कैसे सेवा करते हैं ये जाकर देखना है! ये भक्तिका सिद्धान्त नहीं है ; ये तो भक्तिका आभास है, भक्तिका नाटक है. भक्तिकेलिये तो श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट कहते हैं "गृहे स्थित्वा स्वधर्मत:।" तुम्हारे घरमें तुम सेवा करो तो भक्ति है. दूसरेके घर जाकर झाँकना भक्ति नहीं है – ये मैं कहना चाहता हूँ.

मन्दिर अपने यहाँ श्रीनाथजीके सिवा हैं ही नहीं. हमने सिद्धान्त तोडकर मन्दिर बनाये हैं. सिद्धान्तानुसार हमारी हवेली हमारे घर हैं, जैसे तुम्हारे घर तुम्हारे हैं. हमारे घरमें हम सेवा करते हैं वैसे हरेक वैष्णवको अपने घरमें सेवा करनी चाहिये. पर किसी वजहसे जिनसे सेवा नहीं निभ सकती थी उन्हें महाप्रभुजी आज्ञा करते थे "तोसों भगवत्सेवा नाहि निभेगी तातें तोकों ब्रह्मसम्बन्ध नाहि देत हों." और फिर उसे अष्टाक्षर आदि उपाय दिखाते थे. ऐसे अनेक उपाय अपने यहाँ आज भी सम्भव है. पर हमने जिद्द पकड ली है कि सेवा नहीं करनी है. अत: मन्दिरमें जाकर दर्शन कर आयेंगे. क्योंकि वहाँ भक्ति बिकती मिलती है, दर्शन बिकते मिलते है, अरे बुंदी-सेवके लड्डु-मठडी खरीद पाते हैं जीभके चट्टु! कारण यही है कि जेबमें पैसे बढ गये हैं पर भक्ति नहीं बढी, हृदयमें भाव नहीं बढा. इस खरीदनेकी मनोवृत्तिके कारण ऐसे कुकृत्य कर रहे हैं ; सच्चे भावसे हम वैसा नहीं कर रहे.

हमारे किशनगढमें वैष्णव वकीलने आकर मुझे कहा "महाराज क्यों इतना रोते-धोते हो? तुम्हारा काम है आरती करना. और आरती कर जानेके बाद क्यों बेकारमें सरपच्ची करते हो? हमें सौंप दो, मन्दिर हम चला लेंगे". मैंने कहा "पर आरती करनेकेलिये महाराज जितना

महंगा आदमी तुम्हें क्यों रखना चाहिये? पाँच रूपयेमें आरती कर देनेवाले पचासों तुम्हें सडकपे मिल जायेंगे ; उन्हें नियुक्त कर दो न!" ऐसी मनोवृत्ति हो गई है कि आरती कर जाओ और तुम्हारा काम खतम. मर्यादामार्गमें आरती कर देनेसे काम खतम हो जाता होगा ; हमारे यहाँ तो ठाकुरजीकी सेवा खतम होती ही नहीं. चलती रहे उसका नाम ही सेवा है. अनवसरमें भी वस्त्र, सामग्री आदिकी सेवा रातमें भी होती रहती ऐसे वार्ता और वचनामृतोंमें आता है. ऐसा नहीं कि दर्शन खोले और आरती कर दी तो महाराजका काम पूरा हो गया. महाराज आरती करनेवाले पूजारी नहीं कि महाराजने आरती की और तुमने झाँखी कर ली और जय जयकार करके चल दिये.

सिद्धान्तकी जानकारी तो ग्रन्थ पढनेसे भी मिलेगी और सुननेसे भी मिलेगी, पर समझके मानना और पालना ही न हो तो? एक बहन मुझे कहती थी "जो बात आप कहते हो वो सच्ची, पर आदत पड गई है उसका क्या करें?" तो आदतका तो मेरे पास इलाज नहीं है. सिद्धान्त क्या है ये मैं तुम्हें बता सकता हूँ. आदत तो किसीको दारु पीनेकी पड जाये तो वह भी छूटनी मुश्किल है.

प्र. ९४ अविवेक क्षमा करें, पर आप सबका ऐसा आग्रह क्यों कि वैष्णवको दर्शन करने ही नहीं जाना चाहिये, भेट ही धरनी नहीं चाहिये? दोनों पक्ष समान जिम्मेदार हैं, तो आप दर्शन ही न करायें ये योग्य नहीं?

उ. ९४ अरे पर वहाँ जूनागढकी हवेलीमें ऐसे ही तो हुआ ; दर्शन बंद करा दिये तो अदालतमें दावा ठोक दिया वैष्णवोंने! कँई महाराज आज इस डरके मारे दर्शन बंद नहीं करते कि दर्शन बंद कर दें और वैष्णव दावा ठोक दें तो? तो तुम्हें थोडा भी धर्मके प्रति, सिद्धान्तके प्रति लगाव हो तो जाकर महाराजोंको आश्वासन दो कि "हम आपके ही सेवक हैं ; आप नेता हैं और हम अनुयायी हैं. आप सिद्धान्तका अनुसरण करोगे तो हम पीछे चलेंगे." अब पीछे न चलकर सामने आके खंजर मारना चाहते हैं इसलिये सब महाराज डरते हैं. तुम आगे आओ, एक आंदोलन जगाओ वैष्णवोंमें, कि ऐसा सिद्धान्तविरोधी प्रकार

हम नहीं सहन करेंगे, तो महाराज चलायेंगे ही नहीं मन्दिर. मैं महाराज हूँ इसलिये महाराजोंकी पीडा जानता हूँ. अनेक महाराज डरके मारे बोलते ही नहीं, कि जो हो रहा है वो होने दो. क्योंकि वैष्णव वैष्णव नहीं, विषनव हैं. तुम आगे आओ, महाराजको आश्वासन दो कि आप हमारे बारेमें ऐसा मत सोचो. हम वाल्लभसम्प्रदायके अनुयायी हैं. सिद्धान्तका अनुसरण करना हमारा पहला कर्तव्य है और सिद्धान्त कहना आपका प्रथम कर्तव्य है. क्यों डरते हो? श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं "सभायाम् अपि कुर्वीत" सभामें भी निस्पृह होके सिद्धान्तका प्रतिपादन करो. क्यों डर लगता है? पर कोतवाल ही चोरी करने लगे तो कहाँ जाना? सिद्धान्त कहने जायें और वैष्णव गले पड जाये "पहले तुम ही बाहर निकलो ; ये सब तो पब्लिक है".

तुम आश्वासन दो "आपको हम धर्मगुरुसे पूजारी नहीं होने देंगें. हम भी सिद्धान्तका अनुसरण करके खुदके घरमें ही सेवा करेंगे. हममें सिद्धान्तको जीनेकी सद्वृत्ति है." बात खतम हो गई. "मिया-बीबी राजी, तो क्या करेगा काजी". सब महाराज आज मुझे कहते हैं कि तुम कहते हो वह बात तो सच्ची, पर वैष्णव न माने तो क्या करना? तो तुम वैष्णव समझो कि किस सत्यानाशकी ओर गाडी जा रही है. उसे जाने ही देकर आत्मघात करना है या ब्रेक लगाकर गाडी रोकनी है? खुद भी गिरो और ड्राईवरको भी पटको इससे क्या लाभ होगा? तुम्हारी ओरसे महाराजोंको डर नहीं रहना चाहिये कि ये वैष्णव धोखा देंगे.

प्र. ९५ श्रीमहाप्रभुजीके बैठकजीमें जा सकते हैं या नहीं? क्योंकि बैठकजी भी प्रायः ट्रस्टमें ही हैं.

उ. ९५ देखो, ट्रस्टके साथ मेरा विरोध नहीं है. मेरी ट्रस्टविरोधी जेहाद नहीं, अपसिद्धान्तविरोधी जेहाद है. अपना सिद्धान्त है कि सेवामें भावका संगोपन होना चाहिये. श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं "गुप्तो हि रस रसत्वम् आपद्यते, प्रकटस्तु रसाभास एव." सेवा अपने यहाँ रसात्मिका है, भावात्मिका है. पानीसे भरे गिलासको जैसे-जैसे झुकाते जायें वैसे पानी बाहर आता है. ऐसे ही अपने ठाकुरजी, जिनमें अपना भावात्मक रस भरा हुआ

है, उन्हें पब्लिकके सामने जितना झुकायेंगे उतना अपना हृदय भावसे रिक्त होता जायेगा. अत: गाँवको ठाकुरजीके दर्शन नहीं कराने चाहिये. अपनी पत्नीको गाँवके बीच सौन्दर्यप्रतियोगितामें खडी कर सके तो हम अपने ठाकुरजीके दर्शन भीडको करा सकते हैं. पत्नी तो देहसे स्त्री है, पर अपने यहाँ तो प्रभुका स्वरूप गूढस्त्रीभावात्मक कहा गया है ; तो उन्हें तो ज्यादा गुप्त रखनेकी जरूरत है. मन्दिरमें भीड दर्शन करने आये उसमें अपना नियन्त्रण नहीं रह जाता कि पुष्टिमार्गीय आ रहा है कि गैरपुष्टिमार्गीय. अत एव महाराजोंको धर्मगुरुके बदले कोर्ट पूजारी मानता है.

"तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा", "गृहे स्थित्वा स्वधर्मत:" और मन्दिरमें दूसरोंके सामने ठाकुरजीका प्रदर्शन नहीं हो सकता –ये मूलभूत सिद्धान्त ट्रस्ट करनेसे खण्डित हो जाते होनेसे मन्दिरके बारेमें ट्रस्टका मैं विरोध करता हूँ. ट्रस्टमात्रका विरोधी मैं नहीं हूँ. तुम गायोंको बचानेका ट्रस्ट करो तो मैं मेरा सक्रिय सहयोग देने तैयार हूँ. तुम महाप्रभुजीके सिद्धान्तके पुस्तक छपानेका ट्रस्ट करो, ये सिद्धान्तकी पाठशालाका ट्रस्ट करो. ऐसे किसी भी प्रकारके सिद्धान्तसे अविरोधी ट्रस्ट तुम निश्चित करो ; उसमें ऐतराज है ही नहीं. मुझे इस बारेमें विरोध है कि पैसे जैसी मामूली बातको लेकर ठाकुरजीको छोड देने, कि "ये मेरे नहीं, पब्लिकके हैं" इसमें हम महाप्रभुजीको धोखा दे रहे हैं.

जिस वक्त द्वारकाधीशजी लक्ष्मी सहित पधारे, तब श्रीगोपीनाथजीने कहा कि लक्ष्मी और नारायण दोनों पधार रहे हैं. तब महाप्रभुजीने कहा "तिहारी लक्ष्मीपे दृष्टि है?" तब गोपीनाथजीने कहा "नहीं, तिहारो वंशज होके जो लक्ष्मीपे दृष्टि राखेगो सो निर्वंश व्है जायेगो". तब महाप्रभुजीने आज्ञा "भली कही, हमारो सिद्धान्त तो ऐसो ही है". तो आज ट्रस्ट बनते हैं टैक्स बचानेकेलिये. टैक्स बचानेके और दस उपाय कोई भी C.A. या Businessmen बता सकता है. तुम टैक्स बचाओ उसमें हमें क्या ऐतराज हो सकता है? इसमें मतभेद नहीं. पर टैक्सके पैसे बचानेकेलिये ठाकुरजीको छोड देना ये लक्ष्मीको घर पधराकर नारायणको यमुनाजीमें पधराने जैसी बात है.

वैष्णव महाराजको गलत राह बताते हैं कि ट्रस्ट कर दो तो

सब बच जायेगा, और महाराज ट्रस्ट कर देते हैं. पर हरेकको अपने तनसे अपने धनसे अपने घरमें अपने परिवारजनोंके साथ सेवा करनी चाहिये ये सिद्धान्त सेवाका ट्रस्ट करनेपे निभता है? नहीं निभता. कोर्ट और चेरिटी कमिश्नर ऐसा कहते हैं कि ट्रस्टके मन्दिरमें सेवा करनेवाले पूजारी हैं. तिलकायित महाराजको भी सुप्रीम कोर्टने कहा है कि तुम पूजारी हो. जूनागढके बहुजीमहाराजको भी जबरदस्ती पूजारी घोषित कर दिये गये हैं. "चितिं च चितिकाष्ठं च पूयं चंडालमेव च, स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेत्।" शवको, उसे जलानेमें प्रयुक्त लकडेको, मांसको और खाल निकालके बेचनेवालेको तथा देवलक पूजारीको स्पर्श करें तो नहाये बिना घरमें घुसना नहीं चाहिये! इतने कठोर शब्दोंमें निंदा की गई है. और अपन चूपचाप सह ले कि कोर्टने कहा कि तुम पूजारी हो तो मान लो. अरे कोर्ट कह दे कि तुम पूजारी हो पर हम महाप्रभुजीके सिद्धान्तको जानकर कैसे कह सकते हैं कि धर्मगुरु पूजारी हैं? इस बातका विरोध करना अपना प्रथम कर्तव्य है. पर यदि हम ही ये बात न समझते हों तो कोर्टसे समझनेकी आशा रखनेकी क्या जरूरत है? एक आम आदमी भी समझ सकता है कि पूजारी और धर्मगुरु एक कोटिके नहीं हैं. कोर्टमें न्यायाधीश और वहाँके चपरासीको एक कह सकते हैं? तुम न्यायाधीशको चपरासी कह सको तो धर्मगुरुको पूजारी कह सकते हो. दोनोंकी गरिमामें अन्तर है, दोनोंके काममें अन्तर है. और फिर वाल्लभसम्प्रदायमें तो पूजारीकी स्पष्ट निंदा की गई है. अत: सेवाप्रणालीका ट्रस्ट बनाना अपसिद्धान्त है ये मैं कहना चाहता हूँ ; सिद्धान्तसे अविरोधी ट्रस्टसे मुझे कोई ऐतराज नहीं है.

बैठकजी सबसे पहले तो मन्दिर नहीं हैं, वहाँ कृष्णसेवा नहीं होती. यद्यपि ट्रस्ट तो वहाँ भी नहीं होना चाहिये, पर ट्रस्ट हो तो सिद्धान्तमें इसका निषेध नहीं किया गया. यदि आचार्यभावसे सेवा करते हो तो देवद्रव्य नहीं होता. पर पुरुषोत्तमभावसे महाप्रभुजीकी सेवा करते हो तो सब भेट देवद्रव्य हो जाती है और फिर बैठकजीमें भी देवद्रव्यका अपराध लगेगा ही.

प्र. ९६ श्रीनाथद्वाराके मन्दिरमें मनोरथ कर सकते हैं या सेवा भेज सकते

हैं?

उ. ९६ मैंने तुम्हें समझाया कि श्रीनाथजीका मन्दिर महाप्रभुजीके कालसे है. श्रीगुसांईजीने महापुरुषार्थ करके पूरा जतिपुरा गाँव, जिसमें श्रीनाथजीका मन्दिर था, वो खरीद लिया था. क्योंकि मन्दिर तो किसीका था नहीं तो खरीदे किससे? तो पूरा गाँव *प्राईवेट पझेशन*में किमत चुकाकर खरीद लिया. इस गाँवकी जागीर अकबरने श्रीगुसांईजीके नाम की उसमें स्पष्ट लिखा है कि ये सम्पत्ति श्रीगुसांईजीने किमत चुकाकर खरीद ली है अत: वो वंशवारिस उनकी मालिकीकी रहेगी. इस प्रकार पूरे गाँवको निजी बनाकर मन्दिर भी निजी बनाया.

तो महाप्रभुजीके कालसे वहाँ देवालयकी रीति है. तो वहाँ तबसे अपवादरूपसे बिराजते होनेसे मनोरथ कर सकते हो और सेवा भेज सकते हो. पर एक बात स्पष्ट समझो कि महाप्रभुजीके कालमें भी गैरवैष्णवसे आता द्रव्य नहीं लिया जाता था. इतना ही नहीं पर वैष्णवसे आती भेट भी कभी सामग्रीमें नहीं ली जाती थी. इसकी स्पष्टता स्वयं श्रीगोवर्धनेशजी महाराजने उदयपुर महाराणाको लिखे पत्रमें की है– "and the money of shri Thakoorji, as is the practice now, that it is not spent in our private expenditure, the same will be followed." "श्रीनाथजीको आई किसी भी भेटका हम हमारे निजी कार्यमें उपयोग नहीं करते (क्योंकि वह देवद्रव्य हो जाता है)". इतनी सावधानी रखी जाती थी. आज वहाँ वो सावधानी सरकार नहीं रखती है ओर न वह सावधानी टेम्पल बोर्ड रखता है. बस इसमें हमे आपत्ति है. श्रीनाथजीका प्रसाद लेनेकी कौन मना करेगा? कैसे मना कर सकता है? पर श्रीनाथजीके मन्दिरमें ये श्रीगोवर्धनेशजी तिलकायित महाराजश्रीने जो वादा किया था वो निभे तब.

श्रीनाथजीके देवद्रव्यको खा जानेका अधिकार श्रीमहाप्रभुजीने हमें सर्वथा नहीं दिया है. प्रसाद लेनेका अधिकार दिया है ; श्रीनाथजीका देवद्रव्य खा जानेका अधिकार नहीं दिया. हाँ, हम विरोध करते हैं ; श्रीनाथजीके प्रसादका नहीं पर श्रीनाथजीका द्रव्य खानेका विरोध कर रहे हैं. प्रसाद खाना हो उतना खाओ, एक लड्डु खाते हो तो दो खाओ, उसमें मेरा क्या गया? तुम्हें पचता हो तो पचीस खाओ.

सवाल प्रसादका नहीं, पर जिस प्रकार उसे धरना चाहिये ऐसी प्रणालीका है. आज वह बदली गई है, सरकारने उसे बदल दी है. अपनी सिद्धान्तानुसारी रीति वहाँ आज नहीं निभाई जाती ; भेटके धनसे श्रीनाथजीको भोग धर दिया जाता है. तुम्हें कह दे "तुम्हारा राजभोग", उनको कह दे उनका राजभोग ; एक राजभोगके पचास - पचास मनोरथी! अपन पागलकी तरह देखते रहें कि मेरा राजभोग है, पर असलमें एक राजभोग धरायें और बाकी सब भेट Fixed deposit में जमा! ऐसी सब अपसैद्धान्तिक विचित्र प्रणाली वहाँ टेम्पल बोर्डने खडी की है. और फिर कहते हैं कि हमने Fixed deposit में एक करोड जमा किये! पर जमा करके करते क्या हो? कुछ भी तो नहीं. श्रीनाथजीके प्रसादका विरोध हो ही नहीं सकता, पर गैरवैष्णवोंकी भेट लेकर?

उससे पहले भी एकबार बालभोगमें एक भीतरियाकी मृत्यु हो जानेपर रीतिके अनुसार जब अपरस नहीं निकाली गई थी तब स्वयं तिलकायित महाराजश्रीने प्रसाद लेनेके निषेधकी घोषणा की थी. क्या वह श्रीनाथजीका अनादर था? नहीं. अपनी रीतिको, सिद्धान्तको अनुसरनेका उपदेश ही था. इसी तरह हम भी देवद्रव्यका निषेध करते हैं, देवप्रसादका नहीं. श्रीनाथजीके देवद्रव्यका सामग्रीमें उपयोग करनेकी आज जो प्रणाली चल रही है उसका विरोध हमें करना ही पडेगा.

श्रीनाथजीने महाप्रभुजीके कालसे ही उनके सिद्धान्तसे exemption पाया है. वहाँ कलश, ध्वजा सब होते हैं. पर एक बात समझो, कि जगदीशमें छूट है कि हम किसीके भी हाथकी सखडी खा सकते हैं. जातिके भेद माने बिना जगदीशजीके मन्दिरमें हर कोई सखडी ले सकता है. पर "जगदीश तो कहाँ नहीं? सर्वत्र हैं" करके सब जगह ले सकते हैं सखडी? नहीं ले सकते. जगदीशमें सखडी ले सकते हैं ये छूट जगदीशमें ही मिलती है ; जगदीश सब जगह हैं करके सब जगह वो छूट नहीं मिलती. वैसे ही "श्रीनाथजी और अन्य ठाकुरजी में भेद क्या है?" करके श्रीनाथजीके बारेमें दी गई छूट हर जगह नहीं मिल सकती. जिस बातकी छूट जिस स्थितिमें दी गई हो उस स्थितिमें ही वो छूट ले सकते हैं. अन्य स्थितिमें सिद्धान्त पालने चाहिये.

प्र. ९७ श्रीठाकुरजी गोस्वामी बालकके माथे बिराजते हो, पर ट्रस्टमें बिराजते हो तो उनके प्रसाद, मनोरथ आदिके बारेमें क्या करना?

उ. ९७ कसौटी फिर वही है. गोस्वामी बालक यदि अपने धनसे सेवा करता हो तो एतराज है ही नहीं. पर यदि बालक ठाकुरजीके नामपे पब्लिकसे धन लेते हो और उस पब्लिकके धनसे सेवा करते हो तो वो देवद्रव्य है. और वैसा देवद्रव्य खानेका बालकको भी अधिकार नहीं है और वैष्णवको भी अधिकार नहीं है.

तुम्हारे घर ठाकुरजी बिराजते हो उनको तुम भोग धरो और कोई वैष्णव तुम्हारे घर आये तो वो प्रसाद ले सकता है. वैसे ही हमारे माथे हमारे ठाकुरजी बिराजते हैं. हमें गुरुकी हेसियतमें जो कुछ भेट आये या और जो भी आमदनीके स्रोत हो उससे आते धनकी सामग्री हम ठाकुरजीको भोग धरते हों तो उसका प्रसाद लेनेमें तुम्हें कोई ऐतराज होना ही नहीं चाहिये. पर जहाँ ठाकुरजीके नामपे धन मांगा जाता हो वो तो देवद्रव्य होनेसे उसका प्रसाद हम नहीं ले सकते. श्रीगोवर्द्धनेशजी तिलकायित महाराजने स्वयं ये वादा किया है. और श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं "मेरो व्हैके जो देवद्रव्य खायगो सो महापतित व्है जायेगो, मेरो नहि कहावेगो". तो देवद्रव्यका प्रसाद नहीं खाना चाहिये ; प्रसादमात्र नहीं खाना चाहिये ऐसा सिद्धान्त नहीं है. प्रसाद निश्चित लो, प्रसाद मिले ये तो हमारे भाग्य है, पर देवद्रव्यके प्रसादकी स्वयं महाप्रभुजीने मना की है – ये बात मैं समझा रहा हूँ.

बालकके माथे बिराजते हो या और कहीं बिराजते हो, कसौटी यही है कि ठाकुरजीके नामपे धन मांगा जा रहा हो तो वो देवद्रव्य है, और देवद्रव्यका प्रसाद नहीं ले सकते. ठाकुरजीके नामपे पैसे न मांगे जाते हो, बालक खुदको आती चरणभेटसे सेवा करता हो, भोग धरता हो और तुम उनके यहाँ जाओ तो, वैष्णवताके सम्बन्धसे कोई वैष्णव तुम्हें प्रसाद लिवाये वैसे, बालक तुम्हारे आपसके गुरु-शिष्यसम्बन्धसे तुम्हें प्रसाद लिवाये उसमें कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं है. वो तो तुम्हारे आपसके स्नेहव्यवहारका विषय है.

प्र. ९८ जहाँ-जहाँ जाहिर ट्रस्टमन्दिरके ट्रस्टीपदपे स्वयं गोस्वामी बालक

हो वहाँ मनोरथ, प्रसाद का केसे करना? और वे हमारे गुरु स्वयं हो तो हमें क्या करना?

उ. ९८ गोस्वामी हो या भैंसस्वामी हो, सिद्धान्त एक ही है कि देवद्रव्यसे किसी भी सार्वजनिक ट्रस्ट मन्दिरमें सेवा होती हो तो प्रसाद नहीं लिया जा सकता है. घरमें तनुवित्तजा सेवा होती हो तो प्रसाद ले सकते हो. जैसे तुम तुम्हारे धंदेसे कमाकर भोग धरके उसका प्रसाद लेते हो वैसे बालक भी धर्मगुरु है और धर्मगुरुकी हेसियतमें उसे जो कुछ भेट आती हो उससे वो अपने ठाकुरजीकी सेवा कर सकता है ; उसका प्रसाद तुम आनन्दसे ले सकते हो. भिखारीको भी भीखके पैसेसे सेवा करनेका अधिकार है, पर वो सेवाके नामपे कोई भीख नहीं मांग सकता. जैसे वार्तामें आता है कि मजदूरी करने जा रहे थे तब तिलक पोंछना भूल गये तो ठाकुरजीने कहा कि आज तूने तिलक नहीं पोंछा, पोंछ ले तिलक. क्योंकि तिलक देखकर तुझे कोई नौकरी दे तो तूने अपना धर्म बेचा कहलायेगा ; वैसा नहीं होना चाहिये. तो पेटकेलिये मजदूरी करनेकी या भीख मांगनेकी छूट है. किसीको नौकरी/धंदा न हो तो वो भीख मांगकर सेवा कर सके ये छूट है. पर भीख मांगकर सेवा करनेकी छूट है, ठाकुरजीकी सेवाकेलिये भीख मांगनेकी छूट नहीं –ये दो बात समझ जाओ.

प्र. ९९ असमर्पित अन्न न लेनेका नियम हो और अचानक बाहरगाँव जानेका आ जाये और ठाकुरजीको न पधरा जायें तो क्या करना? उस गाँवमें हवेलियाँ हो तो महाप्रसाद लेना या नहीं?

उ. ९९ अपने यहाँ प्राचीन पद्धति यह है कि ऐसे हालातमें हम कंठीको भोग धरके प्रसाद ले या उस भोजनमें चरणामृत पधराकर फिर उसे लें. हवेली यदि देवद्रव्यपे चलती हो तो वहाँसे प्रसाद लेनेपे महाप्रभुजी हमें महापतित और पुष्टिमार्गसे च्युत समझते हैं. इसकी तुलनामें तो समझो असमर्पित ले भी लिया तो ज्यादासे ज्यादा आसुरावेश आयेगा, मार्गसे पतन नहीं होगा.

प्र. १०० गोस्वामी बालक मनोरथकेलिये द्रव्यकी मांग करते हो तो वैष्णवोंको

उस वक्त क्या करना चाहिये? क्योंकि उस वक्त वैष्णवको धर्मसंकट आ जाता है.

उ. १०० धर्मसंकट इसलिये आ जाता है कि वैष्णवोंको अपने घरमें सेवा करनेमें रुचि नहीं. आज मान लो कि कोई गोस्वामी बालक चर्च बनानेकेलिये तुमसे पैसे मांगे तो तुम दोगे? सिनेमा बनानेकेलिये पैसे मांगे तो दोगे? रेस खेलनेको पैसे मांगे तो दोगे? यदि न दो तो तुम्हें धर्मसंकट लगता है? यदि नहीं लगता तो इसमें तो बिलकुल ही नहीं लगना चाहिये, क्योंकि महाराज मनोरथकेलिये पैसे मांग ही नहीं सकता और वैष्णव दे ही नहीं सकता. धर्मसंकट तो तब कहा जाये कि जब धर्मके कारण संकट होता हो. तुम्हें धर्मके कारण नहीं, शर्मके कारण संकट होता है.

प्र. १०१ हमारे गाँवमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा वैष्णव ही करते हैं. ये मन्दिरके ठाकुरजी तो महाराजश्रीके ही होते हैं, तो फिर वे क्यों ऐसे सौंप देते हैं?

उ. १०१ प्राय: सब मन्दिर ऐसे हो गये कि कोई गाँवमें कोई वैष्णव सेवा करता था. उस वैष्णवने जाते वक्त अपने ठाकुरजी महाराजको पधरा दिये और पूरा घर महाराजश्रीको भेट कर दिया. फिर उस घरमें ठाकुरजी बिराजते और परिवारके तथा गाँवके और वैष्णव सेवा करते. बादमें सब हवेलियाँ हो गई. अब एक महाराज भी एक साथ कितनी हवेलियाँ संभाल सके? अत: इन ५०-७५ सालोंमें असन्तोष होने लगा, कि महाराज यहाँ आते तो हैं नहीं, तो व्यर्थमें महाराजकेलिये हवेली रहने देनेसे फायदा क्या? अत: गाँवके दो-चार अग्रगण्य वैष्णवोंने मिलकर हवेलीका पब्लिक ट्रस्ट करा दिया. एकके बाद एक ऐसे पब्लिक ट्रस्ट होने लगे. और फिर हम भूल ही गये कि अपना सिद्धान्त क्या है? अब तो सब लोग और हम स्वयं भी अपनेको 'हवेलीवाला'की तरह पहचानते हो गये हैं. पुष्टिमार्गीकी सही पहचान 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजावाला', 'घरमें सेवा करनेवाला' होनी चाहिये.

प्र. १०२ कोई मन्दिरके सब ट्रस्टी वैष्णव ही हो तो वहाँ प्रसाद ले

सकते हैं?

उ. १०२ सवाल मन्दिर या मस्जिद का नहीं, सवाल है देवद्रव्यका या अपने खुदके द्रव्यके विनियोगका. ठाकुरजीके नामपे या ठाकुरजीकेलिये, उदाहरणत: 'तपेलीकी भेट' करके, पैसे लिये जाते हो तो देवद्रव्य है और अपने नामपे या अपने लिये पैसे लिये जाते हो तो देवद्रव्य नहीं. देवद्रव्यसे धरे जाते भोगका प्रसाद नहीं ले सकते.

प्र. १०२ अब कुछ ही समय बाद श्रीनाथजी नाथद्वारासे पुन: श्रीगिरिराजजी पधारेंगे ऐसा कहा जाता है. क्या यह सत्य है?

उ. १०२ मुझे पता नहीं सत्य है या नहीं. मैं तो समझता हूँ कि आपके घरमें ठाकुरजी बिराजते हैं तो श्रीनाथजी यहाँ ही हैं. आपके घरमें आप सेवा नहीं करते तो श्रीनाथजी चाहे नाथद्वारा बिराजे चाहे गिरिराजजी पधारे, बहुत फर्क नहीं पडेगा. यदि आप घरमें सेवा करते हैं तो श्रीनाथजी यहाँ आपके घरमें हैं. श्रीमहाप्रभुजी तो यहाँ तक आज्ञा करते हैं कि जब भगवद्भक्त भगवत्सेवा शुरु करता है तो भगवद्भक्तका घर संसार नहीं रह जाता, व्रज हो जाता है. क्योंकि भगवान व्रजमें बिराजते हैं. और जब आपने व्रजाधिपकी सेवा शुरु की तो आपका घर ही व्रज है, आप व्रजवासी ही हैं –इस भावको दृढ कीजिये. श्रीनाथजी तो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं.

प्र. १०३ वैष्णवपरिवार सक्षम बने इसकेलिये कैसी भावना आवश्यक है?

उ. १०३ श्रीमहाप्रभुजीको पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिवार स्थापित करनेकी आज्ञा साक्षात् पुरुषोत्तमने दी– "श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि। साक्षात् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश: उच्यते॥"

'परिवार' शब्दका अर्थ हम सोचें. परित: वृणोति = जहाँ एक-दूसरेको सभी प्रकारसे बराबर बुन लेने हों, सबका समावेश कर लेना हो, एक-दूसरेके साथ ओतप्रोत हो जाना हो उसे परिवार कहा जाता है.

हमारेमें 'मैं' ऐसा अहम्भाव रहा हुआ है. किसीको हम 'तू' मानते हैं. यदि दर्शनकी भाषामें विचार करें तो जब 'मैं'भाव जगे या बढे तब अद्वैत कहा जाता है और जब 'तू'भाव जगे या बढे तब

द्वैत कहा जाता है. शुद्धाद्वैत जो श्रीमहाप्रभुजीने प्रतिपादित किया है, उसमें मैं और तू का झघडा नहीं है. 'हम' कहें तो शुद्धाद्वैत. परिवारकी पहली शर्त है 'हम'. मैं और तू हुए तो परिवार नहीं कह सकते. तो व्यक्ति हो गये ; मैं एक व्यक्ति, तू एक व्यक्ति. पर जब 'हम'का भाव जगा तब परिवार हुआ. शुद्धाद्वैत इसीलिये भेदका अथवा एकाकिताका प्रतिपादन नहीं करता. शुद्धाद्वैतका प्रमुख तात्पर्य है कि 'मैं' 'तू' 'वह' सबमें एक तरहका ऐसा तादात्म्य साधना और पनपना चाहिये, कि जिस तादात्म्यके कारण मैं मैं न रहूँ, तू तू न रहे, पर सभीमें 'हम' ऐसा एक भाव बन जाये. हमका भाव तुम्हारे तू और मेरे मैं का समावेश कर ले ; परितः = अच्छी तरह चारों ओरसे समावेश कर ले, कि जिसमेंसे किसीको छटक जानेका मन न हो, तब वह परिवार बनता है. मैं कहूँ कि 'मैं' और तुम कहो कि 'तुम' माने छटक गये. जब अपन 'हम' कहें, 'अपन' कहे फिर छटका नहीं जा सकता. क्योंकि तुम्हारे मैंमें मेरा मैं पिरोया हुआ होगा और मेरे मैंमें तुम्हारा मैं पिरोया हुआ होगा, अपने मैंमें हमारा सबका मैं पिरोया हुआ होगा. मैंका तादात्म्य अपने सबके बीच सध गया होगा तो परिवार है. नहीं तो परिवार नहीं ; अद्वैत है या द्वैत है. पर परिवार तो शुद्धाद्वैतके बोधमें ही है. परिवार बांधना हो तो शुद्धाद्वैतको समझना बहुत ही आवश्यक है.

पर ये परिवार कैसे बने? तुम तुम हो, मैं मैं हूँ ; अपन एक 'हम'में कैसे बंध सके? इसके अनेक प्रकार हो सकते हैं. परिवाररूपमें बंधनेमें या परिवारके उस *सेटअप*में - फ्रेममें एकसाथ आनेके बहुत सारे हेतु हो सकते हैं. अपन अपनी परिभाषामें कहें तो कोई आधिभौतिक फ्रेम ऐसी हो सकती है कि जिसमें सब लोग इकठ्ठे होकर एक परिवारका फोटो खींचवाये. जितने सदस्य हो उन सबकी उपस्थिति उसमें होनी चाहिये. उस प्रकार हमारेमें वो परिवारका भाव होना चाहिये. किन्तु परिवारका फोटो खींचवाया और फिर हम एक आल्बममें धर रखें तो कोई अर्थ नहीं. इसका मतलब तो ये हुआ कि तुम्हारे हृदयमें वो भाव नहीं है. कहीं घुमने गये, एक फोटो खींचवाया और आल्बममें धर रखा वैसा ही कहा जायेगा. ठीक तरहसे न रखा तो उसे कभी

दीमक भी खा जाता है. अतः यदि परिवारका फोटो खींचवाया तो परिवारके सदस्योंमें ऐसा भाव होना चाहिये कि हरेक सदस्यको कोई न कोई रूममें उसे टांगनेका बहुत भाता हो. वो चित्र टंगा हुआ होना चाहिये किसी अच्छी फ्रेममें. तब तो वह प्रत्येक सदस्यमें ऐसा बोध और ऐसा भाव निरन्तर बना रहेगा कि ये हमारी फोटो है. मेरी या तेरी नहीं, यह हमारी फोटो है.

तो जब हमें वैष्णवोंको एक परिवारमें बँधना हो और एक परिवारके रूपमें हमारा चित्र खींचवाना हो तो उनकी फ्रेम कैसी होनी चाहिये ये श्रीमहाप्रभुजीने हमें समझाया– "ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि।" अर्थात् ब्रह्मसम्बन्ध एक ऐसी फ्रेम है जिसमें पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिवारका फोटो होना चाहिये. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध होनेपर वे सब दोष निवृत्त हो जाते हैं कि जो दोष दूसरी फ्रेमोंमें निवृत्त नहीं होते. ब्रह्मसम्बन्धकी फ्रेमकी कुछ ऐसी विलक्षण महत्ता है.

ब्रह्मसम्बन्ध माने क्या? ब्रह्मसम्बन्धको आज हम बहुत विचित्र-विचित्र कारणोंसे लेते होते हैं. कुछ लोग इसे कोई स्वर्गमें जानेकी, वैकुण्ठमें जानेकी, या कौन जाने कहाँ जानेकी टिकट समझते हैं, कि हमारे बडोंने लिया था अतः हमें भी ले लेना चाहिये! बडे मर गये पर हमें तो मर नहीं जाना न? तो बडोंने लिया इसलिये ब्रह्मसम्बन्ध ले लेना ये स्वस्थ हेतु नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीके हृदयका भाव सोचो, कि ब्रह्मसम्बन्ध क्यों लेना चाहिये? अपन सब इस जगतमें जन्मे हैं. शास्त्र कहता है "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म". जिसमेंसे जगत बना, जिसमें जगत स्थित है और जिसमें जगत लीन होगा उसे जाननेका प्रयास करो, वो ब्रह्म है. ये ब्रह्मसम्बन्धका भाव अपनेमें जगे ये जरूरी है. देखो श्रीमहाप्रभुजी हमें कितनी बडी फ्रेम दे रहे हैं, कि ब्रह्मसम्बन्धद्वारा हमें एक परिवार बनाना है.

कोई परिवार ऐसा होता है जो धंदेमें परिवार हो; एक धंदेमें सब हिस्सेदार हो वैसा परिवार. कोई परिवार ऐसा होता है कि भाग्यवशात् एक माता-पिताके यहाँ जन्मे होनेसे हमें लगे कि अपना एक परिवार, पर दो-चार-पाँच पीढीपे आबादी बढे तो उनमें परिवारका भाव खण्डित

हो जाये. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि ब्रह्मसम्बन्धसे जो परिवार बंधता हो वो परिवारका भाव अखण्डित है. आज वैष्णवोंको ; सचमुच ये भावसे ब्रह्मसम्बन्ध ले या नहीं, ये भावको निरन्तर अपनेमें जागृत रखनेकी अतीव आवश्यकता है.

मैं-तू तो अपन खूब करते हैं और शायद खूब करते भी रहेंगे. गुजरातीमें एक कहावत है कि "एक घर तो दायिन भी छोडती है!". तो मैं-तू करते रहो ; मैं-तू हो उसमें कोई एतराज नहीं, पर एक घर तो दायिन भी छोडती है तो हम क्यों न छोडे? तो कमसे कम ब्रह्मसम्बन्धके कारण बना हुआ जो वैष्णवताका सम्बन्ध है उस सम्बन्धमें तो हम मैं-तू भूलकर हम हो जायें. ये सम्बन्धमें यदि अपन 'हम'का भाव साध सकते हैं, पनपा सकते हैं तो जो परिवार बनेगा उसे अपन 'वैष्णवपरिवार' कहेंगे. और वैसे परिवारमें कृष्णके सम्बन्धका निरन्तर अनुभव होगा. कृष्णके सम्बन्धसे, ब्रह्मके सम्बन्धसे बनाया हुआ वो परिवार होगा. उसकी तसवीर ब्रह्मसम्बन्धकी फ्रेममें हमें रखनी है, सजानी है.

वैष्णवपरिवारके पीछे जो भावना है उसे मैंने आपके समक्ष पेश की है. और मेरा विश्वास है कि यही भावनासे ये वैष्णवपरिवार बढेगा. ये वृद्धि बाधक नहीं अतः घबराकर कुटुम्बनियोजन करनेकी आवश्यकता नहीं है. श्रीमहाप्रभुजी हमें, इस परिवारको खूब सामर्थ्य दे, खूब समृद्धि दे और इस परिवारके सदस्योंमें परिवारकी भावना बढायें ऐसी शुभकामना.

प्र. १०५ आपद्वारा किशनगढमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीके मन्दिरकी स्थापनाके पीछे क्या उद्देश्य है?

उ. १०५ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीके सिद्धान्तोंके अनुसार भगवानकी सेवा भक्तको अपने घरमें अपने धनसे स्वयं ही करनी चाहिये ; पूजारी या पुरोहित द्वारा दूसरोंके धनसे अथवा सार्वजनिक मन्दिरोंमें सेवा नहीं करानी चाहिये. अतः सार्वजनिक मन्दिरोंमें दर्शनार्थी भक्तोंके धनसे पूजारी या पुरोहित द्वारा कराई जाती भगवानकी सेवा महाप्रभुजीके सिद्धान्तोंसे सर्वथा विपरीत है. इस विकृतिके बारेमें श्रीमहाप्रभुजीके पंचशताब्दी महोत्सवके महान प्रसंगपर आत्मचिन्तन तथा सिद्धान्तचिन्तन द्वारा उसमें सुधार हो

ऐसी अपेक्षासे महाप्रभुजीका यह मन्दिर स्थापित हुआ है.

प्र. १०६ महाप्रभुजीके मन्दिरकी स्थापनाका प्रयोजन क्या है?
उ. १०६ महाप्रभुजीके मन्दिरकी स्थापना द्वारा अनुयायीगण महाप्रभुजीकी ओर वापिस फिरें ऐसा उद्घोष करते हुए हम यह कहना चाहते हैं कि वाल्लभसम्प्रदायके मन्दिरोंको हमें श्रीवल्लभाचार्यजीके सिद्धान्तोंकी प्रेरणा देनेवाले बनाने चाहिये. इस प्रयोजनसे ही किशनगढमें ही नहीं परन्तु समग्र भारतमें सर्वत्र सम्प्रदायके सभी निजी या सार्वजनिक मन्दिरोंको महाप्रभुजीके मन्दिरोंमें परिवर्तित करनेका कार्यक्रम हम प्रस्तुत करना चाहते हैं.

प्र. १०७ मन्दिरका ये प्रकार महाप्रभुजीके सिद्धान्त और वाल्लभसम्प्रदायकी परम्परा को अनुकूल है क्या?
उ. १०७ महाप्रभुजीके मन्दिरकी स्थापना नई बात या उनके सिद्धान्तोंसे प्रतिकूल नहीं है. स्वयं श्रीमहाप्रभुजीने भी अनेक भक्तोंको सेवाकेलिये अपने हस्ताक्षर, पादुका आदि पधरा दिये थे. ज्यादा करके जिन भक्तोंसे सिद्धान्तसम्मतप्रकारसे कृष्णसेवाका निर्वाह सम्भव नहीं था उनकेलिये ये प्रकार दिखलाया गया था. परम्परासे भी श्रीमहाप्रभुजीकी सभी बैठकोंमें उनकी सेवाका प्रकार प्रचलित है ही. कोटामें भी श्री बडे महाप्रभुजीके मन्दिरमें श्रीमहाप्रभुजीकी सेवाका प्रकार प्राचीन कालसे चला आ रहा है. भारतीय परम्परानुसार भी गुरु और गोविन्द उभयकी सेवाके विकल्पमें आरंभदशामें गुरुसेवाकी प्राथमिकताका सर्वत्र स्वीकार हुआ ही है.

प्र. १०८ मन्दिरमें जब भगवान कृष्णका स्वरूप बिराजमान हो तब श्रीमहाप्रभुजीका स्वरूप पधराना योग्य है?
उ. १०८ मन्दिरमें जब भगवानका एक स्वरूप बिराजता हो तब श्रीमहाप्रभुजीका स्वरूप पधराना योग्य है, क्योंकि गुरुकृपा बिना साक्षात् भगवान तक पहुँचा नहीं जा सकता. गुरुकृपा भी तब ही सम्भवित है कि जब हम गुरुके उपदेशका पालन करें. गुरुका उपदेश सार्वजनिक मन्दिरमें सेवा करनेका नहीं परन्तु सेवकको अपने घरमें अपने धनसे स्वयं ही कृष्णसेवा

करनेका है. अत: वर्तमान समयमें सिद्धान्तसे विपरीत चल रही मन्दिरकी प्रणालिकामें सुधार करके इन मन्दिरोंमें श्रीमहाप्रभुजीका स्वरूप पधराकर तथा घरमें घरकी रीतिसे कृष्णसेवा करना सम्भवित है.

प्र. १०९ क्या वाल्लभसम्प्रदायके अन्य आचार्य भी श्रीमहाप्रभुजीके मन्दिरकी स्थापनाके विचारसे सहमत हैं?

उ. १०९ हमने श्रीमहाप्रभुजीमन्दिरस्थापनासमारोहके प्रसंगपर शुभाशीर्वाद तथा सन्देश भेजनेकी विनती करते हुए तार भेजे थे उसके उत्तरमें आचार्य गोस्वामी महानुभावोंकी सम्मतिके सन्देश प्राप्त हुए हैं—

१. गो.श्रीगोविन्दलालजी महाराज तिलकायत, श्रीनाथद्वार

आपके तारके सन्दर्भमें श्रीमद्वल्लभाचार्य-पंचशताब्दीमहोत्सवमें विविध समारम्भोंके सफल आयोजनकेलिये हमारे हार्दिक शुभाशीर्वाद.

२. प्रथमपीठाधीश्वर गो.श्रीरणछोडाचार्यजी (कोटा - जतिपुरा)

क. महाप्रभुस्वरूपप्रतिष्ठाकेलिये मेरी हार्दिक वधाई और वैष्णवोंको आशीर्वाद. ये समारोह हमें सही दिशा दिखाता है. अपने महाप्रभुकी दिव्यकृपा अपनेपर और वैष्णवोंपर बरसे.

ख. पुष्टिमार्गकेलिये महानतम आधारपद कार्य. अखिलभारतीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद, श्रीवल्लभपंचशताब्दीसमारोह राष्ट्रीय समिति तथा पिपल्स प्रोग्रेसीव सोसायटीकी ओरसे भी वधाई स्वीकार करें.

३. तृतीयपीठाधीश्वर गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (कांकरोली)

आपके इस कार्यकी हृदयसे प्रशंसा करता हूँ. उपस्थित नहीं रह सका, परन्तु मेरा पूर्ण सहयोग है.

४. चतुर्थपीठाधीश्वर गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल)

परेशानीभरे समयके बाद श्रीमहाप्रभुजीके मन्दिरकी स्थापनासे नवशुभारम्भ हो तथा आचार्यचरणके सिद्धान्तोंके प्रसार और वास्तविक प्रकाशनोंका वह माध्यम बने. आपके समारोहकी पूर्ण सफलताकी शुभकामना.

५. पंचमपीठाधीश्वर गो.श्रीगोविन्दरायजी, द्वारा गो.श्रीगिरिधरबावा (कामवन)

श्रीवल्लभमन्दिरस्थापनाद्वारा वल्लभसम्प्रदायको योग्य मार्गपे लानेकेलिये हमारे हार्दिक अभिनन्दन और शुभाशीर्वाद.

६. गो.श्रीकल्याणरायजी (पूना)

वर्तमान परिस्थितिके उपचारके रूपमें स्वतन्त्ररीतसे श्रीमहाप्रभुजीकी सेवाका प्रकार उचित ही है. ये प्रयास सफल हो यही मंगलकामना है.

७. गो.श्रीगोविन्दरायजी महाराज (पोरबन्दर)

महाप्रभुमन्दिरस्थापनासमारोहकेलिये हार्दिक वधाई और शुभाशीर्वाद. उसके उद्देशोंकी सफलताकेलिये शुभकामनाएँ.

८. गो.श्रीव्रजभूषणलालजी (चांपासेनी - जामनगर)

तार मिला. समारोहकी सफलताकेलिये शुभकामना. हार्दिक शुभाशीर्वाद स्वीकारें.

प्र. ११० श्रीमहाप्रभुजीके मन्दिरमें महाप्रभुजीकी सेवाका प्रकार कैसा है?

उ. ११० इस मन्दिरमें श्रीमहाप्रभुजीकी सेवाका प्रकार आचार्यस्वरूप तथा भावमर्यादा के अनुरूप है. सभी ब्रह्मसम्बन्धी पुष्टिमार्गीय वैष्णव झारी, चरणस्पर्श आदिकेलिये बैठकजीके प्रकारसे सेवामें नहा सकते हैं. पर ये मन्दिर मेरा निजी होनेसे उसकेलिये पहलेसे अनुमति लेना आवश्यक है. वहाँ भेट धरना सर्वथा वर्जित है. उत्सव आदिके क्रममें चार जयन्ती जैसे उत्सव आनन्दपूर्वक मनाये जाते हैं. परन्तु कृष्णलीलासे सम्बन्धित उत्सव दोल, अन्नकूट, छप्पनभोग आदि आचार्यस्वरूपके अनुरूप न होनेसे नहीं मनाये जाते. आचार्यजीके सन्मुख भगवल्लीलाके अवगाहनकी भावनासे नित्यक्रम, उत्सवक्रम तथा ऋतुक्रमकी प्रणालिकानुसार कीर्तनगान होता है. गोस्वामी बालकोंके सिवा अन्य कोई भी अनुयायी श्रीमहाप्रभुजीको सखडी और अनसखडी का भोग नहीं धरा सकता. आरती नित्यक्रम अनुसार होती है. शृंगारमें धोती, उपरना, तिलक, कंठी, गौमुखी, पुष्पमाला इतने धारण कराते हैं. अन्यत्र होते मंगला, शृंगार, राजभोग, सन्ध्या आरती और शयन आरती के दर्शनके समांतर क्रममें श्रीमहाप्रभुजीकी प्रातःसन्ध्योपासना, भागवत्पाठ, मध्याह्नसन्ध्योपासना, सायंसन्ध्योपासना तथा सुबोधिनीप्रवचन की भावनासे दर्शन खुलते हैं. संक्षेपमें ये सेवाका प्रकार है.

प्र. १११ प्रचलित श्रीकृष्णसेवार्थ मन्दिर तथा नवस्थापित श्रीमहाप्रभुजीके मन्दिरमें क्या अन्तर है? इससे दोनोंकी उपयोगिता और महत्ता में क्या अन्तर पडेगा?

उ. १११ केवल श्रीनाथजीके अपवादको छोडकर कृष्णसेवाका सिद्धान्त श्रीमहाप्रभुजीके मतमें गृहसेवाका था. आज वह मन्दिरसेवामें विकृत हो जानेके कारण या तो सार्वजनिक ट्रस्टके रूपमें परिवर्तित होनेके कारण अनुसरणीय नहीं रह गया है. कृष्णसेवाके सार्वजनिक मन्दिरके रूपमें निर्वाहकेलिये या तो कोई ट्रस्ट बनाना पडता है अथवा तो दर्शनकेलिये आते व्यक्तियोंके पाससे भेट लेनी पडती है. इन दोनों स्थितिमें सिद्धान्तानुसार सेवा सेवा ही नहीं रहती. बल्कि ऐसी सेवाको महाप्रभुजी भगवानके प्रति हमारा अपराध या दोष मानते हैं. भगवत्सेवाकेलिये धन लेना या धन देना इन दोनोंका षोडशग्रन्थमें निषेध किया गया है. वाल्लभसिद्धान्तानुसार बाहरके (गैरपुष्टिमार्गीय) लोगोंको हमारी भगवत्सेवाके एक बार दर्शन कराने मात्रसे सेवककी एक वर्ष पर्यन्त की हुई सेवा निष्फल जाती है और श्रीठाकुरजीको पंचामृत कराना पडता है. ऐसी निष्फल सेवासे तथा ऐसे अपराधसे बचनेका उपाय जाहिर कृष्णमन्दिरमें सम्भव नहीं, परन्तु श्रीमहाप्रभुजीके मन्दिरमें सम्भव है. इन दोनों मन्दिरोंमें ये बडा अन्तर है.

आजके आर्थिक परेशानियोंके युगमें वेतनेच्छुक कर्मचारियोंद्वारा कृष्णसेवाका मन्दिर चलाये जानेमें कोई औचित्य नहीं. इन वेतनेच्छुक कर्मचारियोंको पूरा वेतन भी नहीं चुकाया जा सकता और भविष्यमें कम वेतन लेकर काम करनेवाले योग्य कर्मचारी भी मिलने मुश्किल हैं. यदि कोई वेतनेच्छुक कर्मचारी भावनारहित हो और केवल आजीविकाकेलिये भगवानकी सेवा या पूजा करते हों तो मन्दिरमें अपेक्षित आध्यात्मिक और आधिदैविक वातावरण भी बन नहीं सकता. इसमें दोष उस गरीब कर्मचारीका नहीं पर मन्दिरकी व्यवस्थाका है ये स्वीकारना पडेगा. अपने सौभाग्यसे महाप्रभुजीकी सेवामें भावहीन व्यर्थ आडम्बरकी परम्परा अभी विकसित नहीं हुई और वैष्णवोंको स्वयं सेवा करनेमें कोई प्रतिबन्ध भी नहीं है. जबकि कृष्णमन्दिरमें जिन ब्राह्मणोंद्वारा सिद्ध अन्न हम गोस्वामी खा सकते हैं वैसे ब्राह्मणोंके अलावा अन्य किसीकी नियुक्ति सम्भव नहीं है. यदि चली आती इस प्रणालिकामें युगके अनुरूप परिवर्तन करना हो तो वो परिवर्तन महाप्रभुजीके सिद्धान्तसे विपरीत नहीं होना चाहिये.

ये सब बातें ध्यानमें रखकर आज श्रीमहाप्रभुजीके मन्दिरकी प्रणालिकामें अपने मन्दिरोंका परिवर्तन करके महाप्रभुजीके दिव्य सिद्धान्तोंका प्रचार,

प्रसार, धार्मिकग्रन्थप्रकाशन, धर्मोपदेश, सत्संग, भगवत्कीर्तन आदिके माध्यमसे जनताको भक्तिमार्गपे आगे ले जानेकी आवश्यकता है. ये ही इस नवस्थापित मन्दिरकी उपयोगिताका प्रमाण है. (द्रष्टव्य परिशिष्ट).

प्र. ११२ वैष्णवोंको सिद्धान्तकी शपथ लिवानेका आपका उद्देश्य क्या है?

उ. ११२ सैंकडोंकी तादातमें अब स्वसिद्धान्तमें सच्ची निष्ठा रखनेवाले वैष्णवोंने यह शपथ स्वयं लेनी शुरू की है तथा अन्योंको भी प्रेरित कर रहे हैं. यह गोस्वामी बालकोंके विरोधमें कोई आंदोलन नहीं है किन्तु सम्प्रदायके सिद्धान्त, भावना तथा श्रीमद्वल्लभवंशजगोस्वामिओं से द्वेष रखनेवालोंके कुटिल षड्यन्त्रोंका प्रतीकार है. कुछ स्वार्थान्ध अथवा अपठित लोग इसे श्रीमद्वल्लभवंशजगोस्वामिओं एवं सम्प्रदाय का विरोधी आंदोलन बता रहे हैं. उन्हें उल्लिखित वचनोंका दूसरा अर्थ क्या है यह बतानेकी हम चुनौती देते हैं. (किताबके आरम्भमें शपथपत्र दिया है).

प्र. ११३ पुष्टिअस्मिता केसेट सीरीज़के निर्माण और उसके डांडियारासके कार्यक्रमोंके आयोजनके पीछे आपका क्या उद्देश्य है?

उ. ११३ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी तात्त्विक दृष्टिके अनुसार यह समग्र सृष्टि परमात्माकी लीला ही है. इस लीलाके अनुभावको अपन सब चेतन प्राणी अच्छेसे प्रकट कर पायें, अच्छेसे उसका अभिनय कर पायें इस लिये अहंता-ममताके कैसे प्रबल भाव परमेश्वरने हमारे भीतर भर रखे हैं! यदि भगवल्लीलाके भावका हमें सहीमें मज़ा लेना हो तो अपनी अहंता-ममतासे श्रेष्ठ वरदान कुछ और इस भूतलपर हो नहीं सकता. पर यदि लीलाभावसे स्पन्दित होनेको हमारी कृति, मति या रति काबिल न हो तो इससे बडा कोई श्राप भी हमारे जीवनमें सम्भव नहीं है.

हमारे देशमें प्रकटी हुई हरेक धर्मसाधनाप्रणाली अन्तमें तो हमारी अहंता-ममताको या तो स्वस्थ या निर्मूल ही बना देनेके कोई न कोई आध्यात्मिक उपाय हैं. जबकि श्रीमहाप्रभुके मतानुसार इस जगतमें जगदीशको खोज निकालकर मज़ा लेनेकी चाह यदि हमारी चेतनामें जगी हो तो

अपनी अहंता-ममताको अपने आप स्वस्थ समझ लेना चाहिये. जागतिक विषयासक्तिके कीचडमें भगवद्भक्तिके कमलको खिलाना चाहनेवाली हमारी अहंता-ममताका ही दूसरा नाम है पुष्टिअस्मिता. इससे विपरीत भगवद्भक्तिके कमलमें विषयासक्तिके कीचडका मज़ा लेनेवाली अहंता-ममताकी विकृत मनोवृत्तिको प्रवाहीअस्मिता कहा जा सकता है.

परब्रह्म भगवान श्रीकृष्णकी व्यापकतामें या विराटतामें जगत अवस्थित है. उसे अर्जुनकी भांति दिव्यदृष्टिसे जान लेना अच्छी बात है, पर वैसे जगतका मज़ा लेनेमें लगे रहनेको भगवद्भक्ति नहीं कहा जा सकता. यों ही इस चराचर जगतमें फैले हुवे परमात्माको सिर्फ जान लेनेके बजाय उनका मज़ा लेना भी भक्तकेलिये अतीव आवश्यक है. सोने-जगनेकी, खाने-खेलनेकी सभी दैनिक जीवनचर्यामें व्रजभक्तोंकी भांति यदि श्रीकृष्णतन्मयता कोई निभा पाये तो वह पुष्टिभक्तिकी पराकाष्ठा है. परन्तु उस श्रीकृष्णभक्तिद्वारा सांसारिक सुखोंका मज़ा लेनेकेलिये मनको बेलगाम छोड देना तो श्रीमहाप्रभुजीने शिक्षाश्लोकीमें बताई बहिर्मुखता ही केवल है.

ऐसे दिव्य लीलाभावका अपन मज़ा ले पाये तदर्थ भगवद्भजन और भगवल्लीलास्मरण की आराधनारीतिका श्रीमहाप्रभुजीने हमें उपदेश दिया था. कालवशात् आज उसे आजीविकाके उपार्जनकी एक विकृत प्रणालीके रूपमें निभाई जा रही है. इन सब बातोंको सोचनेपर ऐसा लगता है कि दिव्य भगवल्लीलाका वर्णन करते पद-धोल-गरबीकी अपेक्षा स्वधर्मोपदेश करनेवाले पद-धोल-गरबीकी हालमें अधिक जरुरत है. अपने सौभाग्यसे ऐसा एक समृद्ध भंडार हमें अपने महान भक्तकवि दयारामभाईने सौंप दिया ही है. यदि उसे अपन गाते-नाचते-गुनगुनाते हो जाये तो शायद फिरसे अपनी अहंता-ममता पुष्टिप्रभुको रीझाते एक पुष्टिभक्तको सुहाये वैसी शुद्ध स्वस्थ भक्तिमयी बन पाये. सो आप सब पुष्टिमार्गियोंसे मेरा यह अनुरोध है कि इस पुष्टिअस्मिताके उपहारको गाते-नाचते-गुनगुनाते इस तरह अपना लो कि तुम्हारे हृदयमें बिराजते राधा-माधव तुम्हारे समूचे व्यक्तित्व, कृति-मति-रति और जीवनप्रणाली में झलकने लगे!

प्र. ११४ सन १९९२में जो पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा आयोजित की गई थी उससे क्या लाभ हुआ?

उ. ११४ पुष्टिमार्गके इतिहासमें एक बेजोड घटना सिद्ध हुई है १९९२में मुंबईमें हुई पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा.

आज सम्प्रदायकी अनुगामी जनताको जिस तरहके अपसिद्धान्तोंसे बरगलाया जा रहा है वैसी स्थितिमें सच्चे सिद्धान्तोंकी ओर अग्रसर हमें यदि होना हो तो यह चर्चासभा मीलका पत्थर सिद्ध होगी —इसमें दो राय नहीं हो सकती.

निजगृहमें व्यावसायिकप्रदर्शनरहित तनुवित्तजासेवाके स्वसिद्धान्तको स्वीकारनेसे जो कतराते रहे हैं ऐसे कँई महानुभाव तो आनेका साहस ही नहीं कर पाये! जिन्होंने आनेका साहस किया वे भी सिद्धान्तवचनावलीका अपना भावानुवाद ला पानेका साहस नहीं कर पाये!! मेरे द्वारा प्रस्तुत भावानुवादसे असहमति दिखानेके बावजूद स्वयंका भावानुवाद चर्चासभाके नियमानुसार प्रस्तुत भी नहीं कर पाये!!! कुछ आनेवाले तो तटस्थ बनकर मौन धारण कर गये या फिर अनुपस्थित ही रहे.

विपक्षिओंके मानों अघोषित प्रतिनिधि हों ऐसी तरह जामनगरवाले चि. गोस्वामी श्रीहरिरायजी यदि न पधारते तो चर्चासभाकी सारी कारवाई इकतरफा ही हो जाती. एतदर्थ उनका जितना आभार मानें वह अल्प ही रहेगा.

(१) लाभपूजार्थ तनुजासेवा करनेवाला निषिद्ध कोटिका जघन्य अधिकारी देवलक पतित होता है तथा (२) पुष्टिमार्गीय सेवा सेवाकर्ताकी मालिकीवाले घरमें ही होनी चाहिये —इन दो मूल बातोंको चि. हरिरायजीद्वारा स्वीकार लिये जानेके बाद अन्य सारी चर्चायें निष्प्रयोजन सिद्ध होती हैं. अर्थात् डुबतेको तिनकेका सहारा जैसी ही सिद्ध होती है. क्योंकि जिन दर्शनार्थीओंकी वित्तजासेवा ऐंठनेकेलिये गोस्वामिवर्ग उन्हें अपनी मालिकीवाले घरमें बुलानेको लालायित रहता है ; या तो उन दर्शनार्थीओंकी मालिकी अब अपने घरपर स्वीकारनी पडेगी या फिर यह अपसिद्धान्त खतम करना पडेगा. गोस्वामितिलकायित श्रीगोविन्दलालजी महाराज तथा पू.पा.गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज, अर्थात् एक पदवृद्ध तथा दूसरे ज्ञानवयोवृद्ध धर्माचार्यद्वारा चि. हरिरायजीके द्वारा गृहीत पक्षोंको 'सिद्धान्तसंरक्षण'की गरिमासे मण्डित करना हमारे कथ्यका ही अचूक समर्थन है. उक्त तीनों महानुभावोंकी धारणाके विपरीत इसमें अब कोई शंकाको अवकाश रह नहीं गया. "बुद्धिप्रेरककृष्णस्य

पादपद्मं प्रसीदतु''.

प्र. ११५ साम्प्रदायिक चर्चासंगोष्ठी (इन्टरनल सेमिनार) का आयोजन किस हेतुसे किया जाता है?

उ. ११५ अपने सम्प्रदायमें अपनी पुष्टिअस्मिताको बनाये रखनेकेलिये जिस प्रकारसे एक सिद्धान्तका प्रवर्तन हुआ और उसका अनुसरण हुआ उसके इतिहासका अपन विभाजन करें तो सर्वप्रथम श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजीका काल सिद्धान्तप्रवर्तनका काल था. उस कालखण्डमें सिद्धान्तोंको स्थापित किया गया.

उसके बाद श्रीगुसांईजीके सात बालकोंका काल वार्ता और व्याख्या का काल था. उस दौरमें इस बातपर ध्यान केन्द्रित किया गया कि लोगोंने सिद्धान्तको कैसे जिया और मूलाचार्योंद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंकी व्याख्या कैसे करनी.

फिर एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कालखण्ड आया जिसमें मूलाचार्योंके उपदेशोंकी व्याख्याके अलावा प्रकरणग्रन्थोंका निर्माण किया गया. एक ओर श्रीहरिरायजीने श्रीहरिरायवाङ्मुक्तावलीके रूपमें अनेक छोटे उपदेशग्रन्थ लिखे. दूसरी ओर श्रीपुरुषोत्तमजी आदि विद्वानोंने मूलाचार्योंके ग्रन्थोंकी व्याख्याके अलावा वादग्रन्थोंकी रचना की. साथ ही श्रीलालूभट्टजीने प्रक्रियाग्रन्थोंकी रचना की. उसमें उन्होंने उपदिष्ट सिद्धान्त, व्याख्या और वादग्रन्थों की जटिलता एवं कठिनाईओंको प्रक्रियाका निरूपण करके समझाया. एक ही कालखण्ड होते हुए भी इसमें ये लक्षणात्मक विभाजन स्पष्ट दिखता है.

इसके बाद एक दौर आया वचनामृतोंका. वैसे तो इसका प्रारम्भ श्रीगोकुलनाथजीने ही कर दिया था. यद्यपि सम्प्रदायमें अभी तक उनका चाहिये ऐसा व्यवस्थित सर्वसमावेशक संकलन नहीं हो पाया है पर फिर भी अनेक नामी-अनामी अनुगामी वैष्णवोंने आचार्योंकी और दयारामभाई, इच्छारामभाई जैसे वैष्णवोंकी छोटी छोटी सूक्तिओंका संकलन किया है. कहीं उन्होंने 'वचनामृत' नाम नहीं दिया हो फिर भी उसका स्वरूप वचनामृतके जैसा ही है. १५०-२०० बरसके इस कालखण्डमें बहोतसे वचनामृत प्रकटे.

इस दौरके बाद सम्प्रदायमें एक अधोगति नजर आती है. इसमें अपने यहाँ जो बापा-बापीएँ हुए और कुछ आचार्यवंशज भी हुए. उन्होंने मूलाचार्योंके सिद्धान्तोंकी परवाह किये बिना कुछ कुछ कहे डाला. यदि भागवतके शब्दोंमें कहना हो तो "यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः, तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः". जो लोग मूलाचार्योंके उपदेशोंको अच्छी तरहसे समझते थे उन लोगोंको इस दौरमें भी कोई परेशानी नहीं हुई. दूसरे छोरके जो कुछ भी नहीं समझ पाते थे ऐसे अनुगामीओंको भी कोई खास नुकसान नहीं हुआ. क्योंकि वे वैसे ही सम्प्रदायके वृत्तके केन्द्रमें न होकर परिधिमें थे. ऐसे निष्ठाविहीन लोगोंकेलिये क्या सिद्धान्त है और क्या अपसिद्धान्त है यह तय करना महत्त्वपूर्ण था ही नहीं. उनकी मनोवृत्ति ऐसी रही कि श्रीमहाप्रभुजीके नामपर कोई भी कुछ भी कहने लगे तो उसे सुनना, फिर चाहे वो गैरसाम्प्रदायिक डोंगरेजी हो या पांडुरंग आठवले. इसमें कुछ कथक्कड शास्त्रीओंकी भी निकल पडी, कि जो सिद्धान्त पढे बिना और यदि पढे तो माने बिना केवल कथा करते रहे. सो न तो मूढतमोंको हानि हुई और न ही बुद्धिमानोंको. इस ७५-१०० सालोंसे चल रहे दौरमें फँसे-मरे वे पुष्टिमार्गी जो बीचके थे. उनकेलिये ये साहित्य मृतोपम था. वचन + अमृत न होकर वचना + मृत था यह साहित्य. गुजरातीमें 'वचना'का मतलब होता है बीचका. तो बीचके लोगोंको मार देनेवाला यह साहित्य रहा है इस दौरका.

मैं इसे श्रीमहाप्रभुजीकी महती कृपा मानता हूँ कि मांडवीके श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्टद्वारा अपन इस संगोष्ठीके माध्यमसे ऐसा साहित्य प्रकट कर रहे हैं कि जो न गोस्वामीओंकी मोनोपोलीका है ओर न ही कोई अनुगामी बापा-बापीओंका या कथक्कड शास्त्रीओंका. ये अपना सबका साहित्य है. कानूनी भाषामें कहें तो श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थ और सिद्धान्त समग्र सम्प्रदायकी एच.यु.एफ. प्रोपर्टी है. माने उसके उपयोगका सबको अधिकार है पर उसके दुरुपयोग या नष्ट करनेका किसीको अधिकार नहीं है, चाहे गोस्वामी हो या अनुयायी. तो इस प्रकारका अपना साहित्य इस चर्चासंगोष्ठीके माध्यमसे प्रकट हो रहा है ये सचमुचमें श्रीठाकुरजी और श्रीमहाप्रभुजीकी कृपाका ही परिणाम है.

प्र. ११६ मुम्बई विश्वविद्यालयद्वारा आपके सहयोगसे चलाये जाते वल्लभवेदान्त कोर्सकी जानकारी दीजिये.

उ. ११६ मुम्बई विश्वविद्यालयके दर्शन विभागके अन्तर्गत पिछले १३ सालोंसे वल्लभवेदान्तका त्रिवार्षिक डिप्लोमा कोर्स चलाया जा रहा है. कालिनास्थित केम्पसमें हर शनिवारको मैं इसमें अध्ययन करवाता हूँ. हिन्दी-गुजराती-अंग्रेजीमें आज तक करीब १००० युवा-वृद्ध छात्र इसमें पढ चुके हैं. अपने मूलाचार्योंके ग्रन्थोंके अनुवादपर आधारित इसके अभ्यासक्रममें वाल्लभसम्प्रदायके धर्म और दर्शन का समावेश किया गया है. आगे चलकर इसे देशके अन्य विद्यालयोंमें एवं ओन-लाईन भी पढाया जा सकता है. सम्प्रदायके अनुयायी और/या विद्यार्थी इसका लाभ ले रहे हैं.

प्र. ११७ पुष्टिमार्गकी स्थिति कितने वर्ष तक?

उ. ११७ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीद्वारा प्रवर्तित अपने सम्प्रदायमें लंबे समयसे एक आख्यायिका चली आ रही है कि पुष्टिमार्ग ५०० वर्ष ही चलेगा. जब पंचशताब्दी मनानेमें पांच वर्ष बाकी थे तब मुझे वल्लभविज्ञान सामयिकमें एक लेख लिखना पडा था– "४९५+५=० क्या यह सत्य है?". ४९५ में ५ जोडे तो क्या शून्य होता है? ऐसा गणित तो सम्भव नहीं है. फिर भी कँई लोगोंके मनमें यह गणित बराबर है ऐसी धारणा बँध गई है.

हमारा कोई मित्र, प्रियतम या पुत्र कहीं बाहर जाये और बहुत दिन तक उसके समाचार न आये तो मनमें अनेक डरावनी आशंकाएँ होती रहती है– कहीं बीमार तो नहीं हो गया होगा/क्या हुआ होगा/क्या नहीं हुआ होगा? इस प्रकार पुष्टिमार्गके बारेमें हमारा जो लगाव है वह लगाव शंका कराता है कि पुष्टिमार्ग केवल ५०० वर्ष ही चलेगा. जो बात चल रही है वह प्रमाणित है कि अप्रमाणित इसकी चिंता हम न करें. मेरे लेखका जो मुख्य विषय था वह यह कि पुष्टिमार्गको यदि जीना है तो पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके अनुसार घर-घरमें भगवत्सेवाका क्रम रहना चाहिये.

जहाँ तक सिद्धान्तका प्रश्न है, महाप्रभुने जो कुछ सिद्धान्त लिखे हैं उन लिखी हुई पुस्तकोंका प्रकाशन भी हुआ है और भारतके दर्शनके इतिहासमें उसका अपना एक महत्त्व है और रहेगा. कोई पुष्टिमार्गका अनुसरण करें या न करें, पुष्टिमार्गका कोई अनुयायी हो या न हो, वह तो एक ऐतिहासिक सत्य है जो कायम रहेगा.

जहाँ तक पुष्टिमार्गके कायम रहनेका सवाल है, तो मैं एक ही तराजूमें इसे तोलता हूँ. जब मैं कहीं भी जाता हूँ तब एक प्रश्नके उत्तरकी जिज्ञासा करता हूँ, कि कोई वैष्णव है तो घरमें सेवा बिराजती है या नहीं? यदि सेवा है तो मैं मानता हूँ कि पुष्टिमार्गके पांचसौ वर्ष पूरे नहीं हुए. किन्तु यदि ऐसा सुननेमें आये कि घरमें सेवा नहीं बिराजती तो मुझे लगता है कि ५०० वर्ष पूरे हो गये ; ४९५ + ५ = शून्य गणित हमने सच्चा कर दिखाया है!

हमसे सेवा क्यों नहीं निभती? एक बात बताऊँ, कि सेवाकी जो पुस्तकें छपी थी उसमें सेवाकी रीतिके अनेक प्रकारका विस्तार था. उन आकार और प्रकारों में हमने अपनी सेवाको बांध दिया है और सेवाके बारेमें महाप्रभुजीके सिद्धान्तका जो मुख्य रूप था वह आज इन्हीं बोझिल आकार-प्रकारोंमें कहीं दब गया है. श्रीमहाप्रभुजी जबकि सेवासम्बन्धी सिद्धान्तके विषयमें बहुत स्पष्ट रीतिसे विधान करते हैं– "सेवा थोडी करनी या ज्यादा करनी ऐसा सिद्धान्त नहीं है. सेवा हमारी सामर्थ्यके अनुसार करनी चाहिये". सेवा कितनी करनी चाहिये? कहते हैं कि बोझिल हो उतनी नहीं. इतनी ज्यादा नहीं कि सेवा हमारे उपर भाररूप हो जाय, अथवा जिस भगवानकी सेवा करते हैं उनके उपर हमारी सेवा भाररूप हो जाय. क्योंकि ऐसा करने पर हमारी सेवा हमारे जीवनमें कर्मकाण्डके स्वरूपमें रह जाती है. पुष्टिमार्गमें सेवा जीवनप्रणाली है, कर्मकाण्ड नहीं. यदि घंटाभर हमने सेवा कर ली तो बस छूट्टी मिल गई –इस प्रकारका कर्मकाण्ड नहीं है. इस प्रकारकी सेवाकी महाप्रभुजी हमारे सार्वदिक कर्तव्यके रूपमें प्रशंसा नहीं करते हैं.

"सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः। स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥" हम सभी जानते हैं कि चतुःश्लोकीके इस प्रथम श्लोकमें महाप्रभुजी ऐसा बताते हैं कि पुष्टिमार्गीय जीवका कर्तव्य भगवत्सेवा

ही है. सर्वदा वही कर्तव्य है और सर्वभावसे यही कर्तव्य है. अन्य कोई कर्तव्य, पुष्टिमार्गीयकी हेसियतसे, हमारा है ही नहीं. पिताकी हेसियतसे हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी सन्ततिका लालन-पालन करें. गुरुके रूपमें हमारा कर्तव्य है कि अपने शिष्यको विद्यादान दें. गृहिणीके रूपमें कर्तव्य है कि हम घरको संभालें. विद्यार्थीके रूपमें अपना कर्तव्य है कि हम विद्याभ्यास करें. नागरिकके रूपमें हमारा कर्तव्य है कि एक अच्छे नागरिककी तरह रहकर उस प्रकारके कर्तव्यका पालन करें. वर्णाश्रमधर्मके हम अनुयायी हैं तो वर्णके और आश्रमके धर्मोंके नियमोंका हम पालन करें. यह तो अलग बात है, किन्तु पुष्टिमार्गीय होनेकी हेसियतमें हमारा कोई कर्तव्य है तो वह भक्ति-सेवा ही है.

कँई बार लोग कहते हैं कि हमसे सेवा निभती नहीं है ; अपरस नहीं पाली जाती, सेवाके नियम और रीतिरिवाज बहुत जटिल हैं. मैं उनको एक बात पूछता हूँ, कि मान लो कि तुम्हारे पैर या हाथ में कोई फोडा हो जाय और डोक्टरके पास तुम जाते हो और डोक्टर कहता है कि इस हाथको कटा दो नहीं तो मर जाओगे. तो क्या आप ऐसा कहोगे कि गला काट दो ; हाथ तो नहीं कटवा सकता! तो पुष्टिमार्गमें भी हमें यह देखना चाहिये कि सिरके स्थानपर कौनसी चीज है और हाथकी जगह कौनसी बातें हैं या पैरकी जगह क्या बात है. जो सेवाके प्रकार हैं, जो सेवाके आकार हैं, जो सेवाके आचार हैं वे सब हाथ और पैरकी तरह हैं. सेवाका मुख्य सिद्धान्त है तनुवित्तजा. अर्थात् हमें अपने तनसे, अपने धनसे, अपने मनसे, अपने घरमें प्रभुकी सेवा करनी चाहिये.

महाप्रभुजी हमें ऐसा नहीं कहते कि सबेरेसे शाम तक सेवा ही करो. महाप्रभुजी यहाँ तक आज्ञा करते हैं कि यदि तुम तुम्हारे घरमें भगवानको पधराकर सेवा करते हो तो उस घरमें तुम्हारा सोना भी भगवत्सेवाका अंग है, उस घरमें नहाना भी तुम्हारी भगवत्सेवाका अंग है, उस घरमें भोजन करना भी तुम्हारी भगवत्सेवाका अंग है.

श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि घरमें रहना उचित इस रूपमें मान सकते हैं कि तुम भगवानके साथ घरमें रहते हो, भगवत्सेवाकेलिये घरमें रहते हो. तुम भक्त हो इसलिये घरमें रहनेकी बात उचित नहीं

है. भक्त हो तो वनमें भी रह सकते हो, भक्त हो तो सडकपर भी रह सकते हो. घरमें रह रहे हो तो भगवत्सेवाकेलिये रहो. "गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तत् चेत् त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थे तत् नियुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः॥" घरमें रहना है तो भगवत्सेवाकेलिये घरमें रहो –यह अपने पुष्टिमार्गका शिरोमान्य सिद्धान्त है, जबकि आचार और प्रकार तो उसके अंग हैं. यदि वे निभ सकते हो, यदि आपके हाथ स्वस्थ रह सकते हो तो बहुत अच्छी बात है. किन्तु कोई ऐसा तो नहीं कहता कि हाथ कटाने न पडे इसलिये सिर कटाने मैं तैयार हूँ.

जब अपने सिरपर लकडीकी मार पडती है तो हाथ आगे धरते हैं न? क्या हाथपर डंडेकी मार पडेगी तो सिरको कोई आगे धरेगा? ऐसा कोई नहीं करता, क्योंकि हमें विश्वास है कि हाथपर मार पडे तो पडे किन्तु सिरको तो किसी भी प्रकारसे बचाना चाहिये. तो जो सिर है वह हमारी भगवत्सेवा है और उसके जो आकार-प्रकार हैं, जो आज कठिन हो गये हैं, वे सब हाथ या पैरकी भांति हैं. वे रहे तो उनकी शोभा है और स्वस्थ न रहे तो उनका ओपरेशन भी करना पडेगा. हम सिर तो नहीं कटा सकते यदि जीवित रहना है तो. किन्तु यदि मरना है, अर्थात् आत्मघात करना है तो करो, सिर कटा दो! मरनेवालेको कोई क्या कर सकेगा? इस बातको अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये.

पुष्टि माने कृपा. पुष्टिमार्गका मतलब भगवानकी कृपासे हाँसिल होनेवाला मार्ग. कृपा पानेकेलिये पुष्टिमार्ग नहीं है, कृपासे मिलता मार्ग पुष्टिमार्ग है. तो भगवानकी कृपाका मार्ग सिर्फ ५०० वर्ष चलनेवाला हो तो हमे कबूल करना पडेगा कि भगवान सिर्फ ५०० वर्ष ही कृपालु हैं, बाकी कृपालु नहीं है. सारे सृष्टिके कालमें ५०० वर्ष तो बहुत क्षुद्र काल है. तो इतना क्षुद्र काल भगवानकी कृपाका नहीं हो सकता. भगवान कृपालु हैं अनादि अनन्त कालसे. अतः पुष्टिमार्ग अनादि अनन्त कालसे चल रहा है, चल रहा था और चलता रहेगा.

मगर हमारे सामने एक बहुत बडा सवाल है कि उस पुष्टिमार्गका अवलम्बन करके श्रीमहाप्रभुजीने जो सम्प्रदाय प्रवर्तित किया वो सम्प्रदायको

हम सच्चाईसे निष्ठासे जीना चाहते हैं या नहीं? यदि हम जीना नहीं चाहते तो पुष्टिमार्ग आज हमारे लिये खत्म हो गया. पर यदि जीना चाहते हैं तो आज पुष्टिमार्ग प्रगट हो गया. मगर एक बात समझो, कि हम जीना नहीं चाहते तो हमारे भीतर पुष्टिमार्ग खत्म हो गया ; पुष्टिमार्ग अपने आपमें खत्म नहीं हुआ. "सितारोंसे आगे जहाँ और भी है". भगवान अनादि अनन्त कालसे अनन्त काल तक कृपालु हैं तो पुष्टिमार्ग भी अनादि अनन्त कालसे है. पर उसका अवलम्बन करके श्रीमहाप्रभुजीने जो सम्प्रदाय प्रवर्तित किया उसका हम अनुसरण नहीं करते तो हमारे लिये वो खत्म हो गया. यदि हम श्रीमहाप्रभुजीके बताये हुए सिद्धान्तानुसार जीते हैं तो हमारे लिये सम्प्रदाय जीवित है. पुष्टिमार्गका जो व्यापक अर्थ भगवत्कृपा है वो तो अनादि अनन्त है, पर उस व्यापक अर्थके जिस रूपका हम अनुसरण कर रहे हैं वो साम्प्रदायिक है.

सम्प्रदाय माने लोग कहते हैं "वाडा", "वाडाबंदी"! मानो जैसे कोई जानवरोंकाका तबेला हो. सम्प्रदायका अर्थ वाडा नहीं है, सम्प्रदायका अर्थ है सम्यक् प्रदान, माने Heritage विरासत. ऐसे एक सम्प्रदाय नहीं है, अनेक हैं ; और सब भगवत्प्रेरित हैं. हम ये नहीं मानते कि जैनधर्म, बुद्धधर्म कोई शैतानने चलाये हैं. हम मानते हैं कि बुद्ध भी विष्णु भगवान ही हैं और जैनधर्मके आद्य प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव भी विष्णु भगवान हैं. जो नास्तिक मत हैं वो भी भगवत्प्रेरित मत हैं और जो आस्तिक मत हैं वो भी भगवत्प्रेरित मत हैं. सारे सम्प्रदाय भगवत्प्रेरित हैं.

जब सब सम्प्रदाय होने चाहिये तो हमारा पुष्टिसम्प्रदाय भी होना चाहिये. और पुष्टिसम्प्रदाय तब ही रहेगा कि जब सम्प्रदायके प्रवर्तक श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञाका हम अनुसरण करें तब. धर्म तैयार रेडीमेड खरीदनेसे नहीं मिलता, धर्म तो जीनेसे है. महाप्रभुजी कहते हैं "बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः। अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः॥" पुष्टिमार्गके ५०० वर्ष पूरे होंगे तो इस अर्थमें होंगे कि हम पुष्टिमार्गको रेडीमेड खरीदना चाहेंगे. भगवानकी कृपाकी क्या किमत है? बोले- "एक पालनेका मनोरथ करा दो". इतनी सस्ती कृपा हो तो भाई

मुझे नहीं चाहिये. ऐसी कृपा पुष्टिमार्गीय कृपा नहीं है. वो तब ही होगी जब आप अपने घरमें उल्लाससे भगवत्सेवामें और भगवत्कथामें परायण होंगे. फिर देखिये, आपके संगका रंग बच्चोंको लगता है या नहीं, वे भगवत्परायण होते हैं या नहीं, पुष्टिमार्ग अमर रहता है या नहीं. पर आप धर्म खरीदना चाहते हैं तो मैं कहूंगा कि आज नहीं, कल मर गया था वो आपकेलिये. ''धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।'' आप जीवनमें धर्मकी रक्षा करो, धर्म आपकी रक्षा करेगा. ''गतिर्विट्ठलेशे मतिर्विट्ठलेशे रतिर्विट्ठलेशे सदा वै ममास्तु।'' इस तरह आपकी गति-मति-रति स्वधर्ममें रखिये. फिर देखिये आपकी गति-मति-रतिकी रक्षा धर्म कैसे करता है. यदि वो रक्षा आप नहीं करना चाहते तो समझ लीजिये कि पुष्टिमार्गके ५०० वर्ष निश्चित पूरे हो गये. ५०० वर्ष पूरे हुए या नहीं यह प्रश्न इतना गम्भीर नहीं जितना गम्भीर यह प्रश्न है कि आप अपने धर्मकी रक्षा अपनी कृति-मति-रतिमें करना चाहते हैं या नहीं.

श्रीहरिः

परिशिष्ट

श्रीवल्लभपंचशतीमहोत्सव और अपना कर्तव्य - एक संवाद

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति

ता. २ मार्च, ७८
पार्ला - मुम्बई

प्रिय नवनीतप्रियशास्त्रीजी,
सादर भगवत्स्मरण.

पत्र मिला. आपकी सुस्पष्ट भावनाभिव्यक्तिसे अतीव प्रसन्नता हुई. "न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानामियं गतिः" = "शास्त्रचर्चाकेलिये मनमें कभी भय नहीं रखना चाहिये क्योंकि शास्त्रचर्चा तो ब्राह्मणोंका कर्तव्य या गति ही है" –ये आज भी आपके, मेरे और श्रीमहाप्रभुजीके सभी सेवकोंकेलिये नितान्त लक्ष्यमें रखने जैसा है. लौकिक विषयोंके वादवितंडाओंसे बचना या उपेक्षासेवन यह एक आदर्श हो सकता है, पर शास्त्रार्थकी उपेक्षासे केवल अशास्त्रार्थ और शास्त्रानर्थ ही बढे हैं! अतः "शास्त्रम् अवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्यः" अर्थात् ठीक तरहसे शास्त्र समझकर मन, वाणी और देहसे कृष्णकी सेवा करनी चाहिये –इस विधानके अनुसार शास्त्रार्थ भी भगवत्सेवामन्दिरका एक प्रवेशद्वार है. उसी भावनासे मैं भी आपके साथ शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ ; जल्प, वितंडा या विवाद की दृष्टिसे नहीं. विश्वास है कि आप अन्यथाभाव नहीं लायेंगे.

हमारी रुचिको नहीं किन्तु सिद्धान्तदृष्टिको, और व्यक्तिगत एषणाओंकी पूर्तिको नहीं किन्तु साम्प्रदायिकसंगठनविकास या हित की दृष्टिको यदि हम महत्त्व देते हो तो किसी भी विषयकी चर्चामें किसी भी प्रकारके संकोचकी आवश्यकता नहीं है ; बाकी सब अपने आप ही सम्भल जायेगा. प्रयोजन स्पष्ट हो तो व्यक्तिसम्बन्धी भाव, भाषा, व्यवहार अपने आप ही गौण हो जाता है. माता - पिता या एक मित्र अपनी सन्तति

या दूसरे मित्रपे चिढे, गालियाँ दे या निन्दा करे किन्तु जब तक वात्सल्य या मित्रता की उष्मा साथ-साथ अनुभवमें आती हो तब तक कुछ हरकत नहीं आती. इसीलिये शास्त्रीजी, आपका भाव मेरेमें या मेरा भाव आपमें बना रहे उससे अधिक महत्त्वपूर्ण हमारा भाव श्रीमहाप्रभुजीमें बना रहे यह आवश्यक लगता है. हमारे सम्बन्धकी आधारशिला श्रीमहाप्रभुजी बने रहें तब तक कलह, यद्यपि है ही नहीं, पर हो जाये तो भी हरकत नहीं आयेगी. मुझे इस अवसरपे चाचाजीके "सेवा तो बाप-बेटा कर गये, ये तो अब लकीर पीटत हैं" जैसे व्यक्तिगत आक्षेपात्मक उद्‌गार और इसे उत्सवरूपमें हर्षसे स्वीकार लेनेका श्रीगोकुलेशका आदर्श अतीव प्रेरक लगता है. इसीलिये यह विस्तृत पत्रोत्तर लिखने प्रेरित हुआ हूँ.

आपने अभी चलते विविध विरोधाभासोंकी बातें लिखी. सचमुच विविध विरोधाभासी बातोंको लोग एक-दूसरेके विचारोंके साथ प्रत्यक्षमें टकराते नहीं और परोक्षमें एक-दूसरेकी निन्दाके रूपमें रोमंथ (चुगली) करके इन्हीं विरोधाभासोंको अधिक प्रसारित करते रहते हैं! यह "डिंडिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि, विद्वद्‌भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः" = "सब जान लें इसलिये ये काशीपुरीमें विश्वेश्वरके द्वार आगे मैंने ये नगाडा बजाया है, जिसे विद्वानोंको सुनना ही चाहिये, क्योंकि वे ही सन्मार्गके रक्षक हैं" की श्रीमहाप्रभुजीकी मनोवृत्तिसे कितना विपरीत और असद्‌वृत्तिरूप है! केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत या शुद्धाद्वैतकी विविध विरोधाभासी बातोंसे अपना दार्शनिक साहित्य विकासके कैसे कैसे सोपानोंपर आरोहण कर पाया है यह विद्वानोंसे छुपा नहीं. अतः निःसंकोच आप भविष्यमें भी मेरे इस पत्रके या दूसरे कोई भी मुद्दोंपर विचार-प्रश्न / आक्षेप / रोष प्रकट करते रहोगे तो मुझे बुरा नहीं लगेगा ; यदि प्रभु मेरी मति अभी जैसी है उसे फेर न डाले तो. "बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु".

अस्तु. किसी भी चर्चास्पद विषयको प्रस्तुत करनेसे पहले मुझे लगता है कि हम अधिकरणकी स्पष्टता कर लें तो अच्छा रहेगा. तदनुसार अपनी चर्चामें, मेरे मतानुसार, चर्चाविषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और संगति इस प्रकार हैं—

१. चर्चाविषय— श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी तथा उनके व्याख्याकार प्राचीन

विद्वानोंके वचन और शिष्टाचारसे सिद्ध सेवाप्रणाली और हालमें पंचशतीके सन्दर्भमें पुष्टिमार्गीओंके रूपमें हमारा कर्तव्य क्या है ये मुझे लगता है कि अपनी चर्चाका मुख्य विषय है.

२. संशय– आपके अभिप्रायानुसार श्रीमहाप्रभुजीके गृहसेवाके उपदेश और श्रीनाथजीके मन्दिरस्थापनसे कृष्णसेवा अपने निजी घरमें या सार्वजनिक मन्दिरमें, कहीं भी सम्भव है. किन्तु मेरे अभिप्रायानुसार श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजीका कृष्णसेवाका सिद्धान्त गृहसेवा तक ही सीमित है. अतः जाहिर मन्दिर यदि रखने ही हों तो वहाँ श्रीमहाप्रभुजीकी सेवा स्वरूप, चित्रजी, भावनाजी, पादुकाजी, हस्ताक्षर आदि स्वरूपमें करनी चाहिये. और इसके प्रचारकी आज मुझे अतीव आवश्यकता लगती है. उन दोनोंमेंसे कौनसा कल्प सिद्धान्त और शिष्टाचार से सम्मत है यह संशय हो रहा है.

३. पूर्वपक्ष– आपका पूर्वपक्ष ऐसा है कि कृष्णसेवा ही उचित और अभीष्ट प्रकार है ; फिर वह गृहसेवाके रूपमें हो या सार्वजनिक मन्दिरसेवाके रूपमें. श्रीमहाप्रभुजीकी सेवाके नये प्रकारको आप उचित नहीं मानते. (इसमें कहीं भी आपके मुद्देका गलत प्रस्तुतीकरण होता हो तो बताईयेगा).

४. उत्तरपक्ष– आपके इस अभिप्रायके विरुद्ध उत्तररूपमें मैं मेरे पक्षका ऐसे समर्थन करना चाहता हूँ कि कृष्णसेवाका उपदेश तो गृहसेवा तक ही सीमित है और उसी प्रकारसे कृष्णसेवाकी सार्थकता भी हो सकती है. इसलिये कृष्णसेवाको फिरसे गृहसेवाके पदपर प्रतिष्ठित करनी चाहिये और पुष्टिमार्गीय सार्वजनिक मन्दिरोंको श्रीमदाचार्यचरणके मन्दिरोंमें परिवर्तित करने चाहिये. विशेषतः पंचशती और देश-कालको देखते हुए तो यह अत्यन्त आवश्यक लगता है.

५. संगति– अपनी इस चर्चाकी प्रथम संगति तो मेरे किशनगढके मन्दिरमें, यद्यपि वह सार्वजनिक मन्दिर या ट्रस्ट नहीं है फिर भी, श्रीमहाप्रभुजीके स्वरूपको मुख्य सेवाक्रममें पधरानेके मेरे मनोरथको ध्यानमें रखते हुए है. इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण संगति इस चर्चाकी मेरे मतानुसार आज अपने सम्प्रदायके प्रचार-प्रसारकेलिये कोई एक निश्चित दिशाकी अपेक्षाकी लगती है. (आपका अभिप्राय आप स्वयं बताईयेगा).

इस अपेक्षित स्पष्टताके बाद अब मैं आपकी शंकाओंका और

प्रश्नोंका क्रमशः समाधान करता हूँ.

१. शंका– श्रीमहाप्रभुजीका स्वरूप पधरानेका समूचा प्रसंग प्रायः आजके तद्वंशजोंको आचार्यत्वमेंसे पूजारी जैसी स्थितिमें पतित न होना पडे इस सन्दर्भमें आवश्यक लगता हो तो मुझे लगता है कि आस्तिक बहुजनसमाजके मनमें तो ऐसा भावभेद या विकार होता लगता नहीं है. कानूनकी परिभाषामें शायद ऐसा परिवर्तन हो ; पर जनतामें उसकी असर अभी बहुत हो ऐसा भी लगता नहीं है.

समाधान– पूजारी या आचार्यका विकल्प सिद्धान्तविचार और आचरणकी दृष्टिसे स्पष्टताकी अपेक्षा रखता है या नहीं? स्ववंशज पूजारी बनें यह श्रीमहाप्रभुजीको लेशमात्र भी अभिप्रेत लगता है? इन दोनों प्रश्नोंका स्पष्ट हाँ या ना में उत्तर न दिया जाये तब तक न तो विचार हो सकता है न ही निर्णय. भगवन्नामके या भगवद्रूपके विक्रयसे गुरुतर अपराध पुष्टिमार्गमें और क्या माना गया है –यह सबसे पहले सोचना चाहिये. अतः अपराधकी गुरुता यदि ख्यालमें आये तो ही उसकी निवृत्ति या निवृत्तिके उपाय के विचारको भी अवकाश मिल सकता है, अन्यथा नहीं.

यहाँ सिद्धान्तमुक्तावलीके दूसरे श्लोककी श्रीगुसांईजीकी विवृत्ति देखने जैसी है– "पुष्टिमार्गके प्रमुख कर्तव्य कृष्णसेवाका स्वरूप है चित्तका कृष्णमें पिरोया जाना. चित्तको कृष्णप्रवण करनेका साधन तनुवित्तजासेवा है. सेवाके दो प्रकार हो सकते हैं: दूसरे व्यक्तिको कुछ वित्त देकर उसके द्वारा सेवा करानी या तो अन्य किसीसे वित्त लेकर स्वयं सेवा करनी. इनमेंसे कोई भी एक प्रकारसे सेवा करनेपर चित्त कृष्णमें चौंट नहीं सकता. अतः श्रीमहाप्रभुजी सेवाको 'तनुजा' और 'वित्तजा' न कहकर 'तनुवित्तजा' कहते हैं. भगवानको अपना सर्वस्व निर्व्याज निवेदन करके उनकेलिये ही यदि अपने देहका भी विनियोग प्रेमसहित करें तो चित्त कृष्णमें चौंट सकता है."

सुस्पष्टतया यहाँ अपने घरमें जो स्वरूप बिराजते हों उनकी ही तनुवित्तजासेवाका विधान है. यदि तनुवित्तजासेवाको विभाग करके अलग न करनी हो, अर्थात् अपने धनसे और अपने ही तनसे यदि सेवा कर्तव्य हो, तो प्रत्येक पुष्टिमार्गीय जीवको अपने घरमें ही सेवा करनी

पडेगी. सार्वजनिक मन्दिरोंमें प्रायः एक वर्ग वित्तजासेवा और दूसरा वर्ग तनुजासेवा करता होता है ; तनुवित्तजासेवाका प्रकार वहाँ निभ नहीं सकता. निभाना ही हो तो अपने मन्दिरको या कृष्णसेवाको सार्वजनिक करनेका प्रयोजन भी नहीं रह जाता. अन्तमें सार्वजनिक मन्दिरोंके निर्माणमें या संचालनमें हेतु दो मेंसे एक ही होता है– १. हम तनुजासेवा तो निभा सकते हों किन्तु वित्तकी कठिनाई हो, या २. वित्तजासेवा करनेमें समर्थ हैं किन्तु तनुजासेवाकेलिये फुरसत न मिलती हो. अतः सार्वजनिक मन्दिरोंकी सेवा तनुवित्तजासेवाके सिद्धान्तका क्रूरतासे भंग करनेवाली होती है. चारों ओर फैले अनास्थाके वातावरणमें सार्वजनिक मन्दिर वल्लभवंशजोंको स्वधर्म = तनुवित्तजासेवासे च्युत करके तनुजासेवा करनेवाले पूजारी नहीं बनायेंगे यह आप कैसे कह सकते हो? अतः चतुःश्लोकीमें उपदिष्ट "श्रीव्रजाधिपका भजन ही अपना प्रमुख कर्तव्य है ; और कुछ भी, कहीं भी, कभी भी नहीं" उस स्वधर्मके निर्वाहका प्रश्न प्रथम है, 'आस्तिक बहुजनसमाजके मनके भावभेद' का नहीं.

यद्यपि सच कहूँ तो आस्तिक बहुजनसमाजसे मुझे अधिक भय लगता है, नास्तिक समाजसे नहीं. हमें पूजारित्वके गर्तमें डालनेकेलिये धक्का मारने ये लोग ही अधिक आतुर दिखाई दे रहे हैं, नास्तिक समाज नहीं. औरंगजेबके भाईने उसे विनती की थी "मंदविष देनेके बजाय तलवारके वारसे मुझे मार दे". मेरी भी आस्तिक समाजसे यही मांग है. मन्दिरोंको जाहिर ट्रस्ट बनाकर, सुव्यवस्थाका लाभ-लोभ दिखाकर हमें और पुष्टिमार्गको जाने-अनजाने वैसे ही मंदविषसे वे मारना चाहते हैं. जबकि बेचारे नास्तिकोंके हाथमें अभी तलवार दिखाई नहीं देती ; हमें मुमूर्षु समझकर वे उपेक्षावृत्ति रखते हैं!

२. शंका– ट्रस्टपद्धतिसम्बन्धी सम्पूर्ण विचारसंगति मुझे अभी नहीं, किन्तु प्राथमिकदृष्टिमें जो देवलकत्वका दोष है वह मार्गभेदके विचारसे निवृत्त नहीं हो सकता क्या? "अपि दीपावलोकं नोपयुज्यान्निवेदितम्" ये प्रकार तो "दत्तापहारवचनं... भिन्नमार्गपरम्मतम्" अनुसार मार्गभेदसे ही निवृत्त हो जाता है. "त्वयोपभुक्त..." में भी भगवदुच्छिष्ट भोगको दासधर्मांगरूप गिना है.

समाधान– ट्रस्टपद्धतिसम्बन्धी, सच्चा या झूठा यह तो मैं नहीं कह सकता, पर बहुत चिन्तन और कुछ अध्ययन भी मैंने किया है. मेरा स्पष्ट अभिप्राय है कि ट्रस्टमन्दिरोंमें रहकर सेवा करनेवाले देवलकत्वके या देवद्रव्यके भक्षणके अपराधसे बच नहीं सकते. ''मुझे निवेदित हुए दीपका भी अपने लिये उपयोग नहीं करना चाहिये'' यह निवेदितके पुनरुपयोगका निषेध पुष्टिमार्गीयोंकेलिये नहीं पर मर्यादामार्गीयोंकेलिये है ऐसा जो श्रीमहाप्रभुजीने ''दत्तापहारवचनं ... भिन्नमार्गपरम्मतम्'' कहकर सिद्धान्तरहस्यमें समाधान दिया है वह ठीक है, पर उसके अलावा अन्य ग्रन्थ– मुख्यतथा सिद्धान्तमुक्तावली, नवरत्न, भक्तिवर्धिनी, दोनों निबन्ध, अणुभाष्य और सिद्धान्तरहस्य के अन्य वचनों– की संगति भी हमें सोचनी चाहिये. ऐसा करनेपर इन सभी ग्रन्थोंकी एकवाक्यता सार्वजनिक मन्दिरसेवाके प्रकारसे सर्वथा विरुद्ध ही लगती है.

उदाहरणतः नवरत्नमेंभी श्रीगुसांईजीकी यह पंक्ति देखो– ''प्रभुको यदि दानरूपमें कुछ दिया हो तो उसे पुनः अपने उपयोगमें नहीं ले सकते, पर यदि निवेदनरूपमें प्रभुके सन्मुख कुछ रखनेमें आये तो उसे पुनः अपने उपयोगमें लानेपर किसी भी प्रकारका दोष नहीं लगता. अन्यथा जो सामग्री हमने प्रभुको निवेदित की हो उसे भी हम प्रसादरूपमें ले नहीं पायेंगे, और भगवानको धरे बिना लेना नहीं चाहिये ऐसा निषेध भी करनेमें आया है, तो फिर अन्न बिना कोई जी कैसे सकता है? अतः प्रभुको जो कुछ निवेदित करनेमें आता है उसका प्रभुकी सेवामें विनियोग होनेके बाद स्वस्वामीके प्रसादरूपमें खुद भी उपभोग करना यह तो सर्वथा उचित कृत्य ही है, दास होनेकी अपनी हेसियतमें. इसीलिये शास्त्रवचन भी मिलते हैं: ''उच्छिष्टभोजिनो दासाः...''. और फिर इस प्रकारके अन्नादिके उपभोगसे आत्मशोधन भी होता ही है''.

श्रीपुरुषोत्तमजीकी व्याख्या यहाँ देखने लायक है. उनके मतमें सिद्धान्तरहस्यमें उपस्थित होते प्रश्नोंका समाधान यहाँ नवरत्नमें दिया गया है. अपनी व्याख्यामें जो सिद्धान्तरहस्यमें (१) दान (२) निवेदन और (३) समर्पण का भेद समझाया था उसके आधारपर अब यहाँ वे समाधान देते हैं कि जो भगवानको दानरूपमें भेट धरनेमें आता है उसका उपयोग सेवाके बाद हम नहीं कर सकते. लें तो दत्तापहारदोषका अपराध लगता

है. किन्तु निवेदित और समर्पित का पुनः उपभोग तो, सेवाफल ग्रन्थके अनुसार अपने स्वामीको समर्पण करनेके बाद किसी भी प्रकारका भोग लौकिक न होनेसे सेवामें प्रतिबन्धरूप न होकर अलौकिकसामर्थ्यरूप माना गया है अतः, अभिनन्दनीय है.

यों सिद्धान्तरहस्य और नवरत्न की एकवाक्यतासे सिद्ध होता है कि "दत्तापहारवचनं..." केवल भिन्नमार्गपे ही नहीं परन्तु, यदि निवेदन-समर्पणके प्रकारको छोडकर दानके प्रकारसे भगवत्सेवार्थ कोई चीज हो या सेवामें आती हो या खुद हमने ही प्रभुको दी हो तो उसका पुनर्ग्रहण दोषरूप होनेसे, पुष्टिमार्गपे भी लागू पडता है. यद्यपि पुष्टिमार्गमें कृष्णसेवा गृहसेवा होनेसे निवेदित*(*निवेदित = ब्रह्मसम्बन्धके समय गद्यमन्त्रद्वारा हमने जिसका निवेदन किया हो वह) के समर्पण* (*समर्पित = अपने घर बिराजते प्रभुकी सेवामें जिसका विनियोग होता हो वह) पूर्वक चलती होनेसे वैसी सेवा और वैसे सेवकोंकेलिये दत्तापहारका आक्षेप नहीं लगता, फिर भी निवेदित या अनिवेदित पदार्थ प्रभुको दानरूपमें देनेमें आया हो तो उसका पुनर्ग्रहण दोषावह ही नहीं, परन्तु पातित्यकारक ही माना गया है.

इस बारेमें स्पष्ट व्यवस्था श्रीमहाप्रभुजीने, श्रीठाकुरजीकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखकर जब भोग धरा तब वैसे प्रसादको श्रीयमुनाजीमें तथा गायको पधराकर और पीछे जब सिंहनदसे अपनी भेट आई तब उससे कटोरी छुडाकर भोग धरके प्रसाद लिया, उससे दी है. वासुदेवदास छकडाकी वार्तामें यह प्रसंग मिलता है. प्राचीन वार्ता प्रतियोंमें कहीं ऐसे भी उद्गार श्रीमहाप्रभुजीके दिये हैं– "सोनाकी कटोरी हती सो देवद्रव्य हतो, सो ताको प्रसाद नाहीं लियो जाय. मेरो व्हैके जो देवद्रव्य खायेगो सो पतित व्है जायेगो, मेरो नाहि कहावेगो". इससे सिद्ध होता है कि यदि सार्वजनिक मन्दिरका प्रकार चलता हो और सम्पत्तिका स्वामीत्व यदि मन्दिरस्थ स्वरूपका हो तो वहाँ रहनेमें और प्रसाद लेनेमें देवद्रव्यभक्षणका पाप लगता है.

सिद्धान्तमुक्तावलीके उपसंहारमें क्वचित् श्रीप्रभुचरणके ऐसे वचन भी मिलते हैं– "कोई अपनी जीविका या वैसे अन्य हेतुपुरःसर श्रीकृष्णका भजन करता हो तो उसकी क्या गति होगी? उत्तर है: लौकिक हेतुसे

यदि कृष्णभजन करनेमें आये तो वह व्यापारकी भांति अर्थोपार्जन नहीं किन्तु अनर्थोपार्जनरूप ही होता है. अत: उस व्यापारीके भजनको भक्तिरूप नहीं माना जा सकता. अत: उसका किया हुआ सभी क्लेशरूप ही है. निषिद्धाचरण होनेसे उससे लौकिक क्लेशके साथ परलोक भी नष्ट होता है. जिसे स्वल्प भी पुष्टिसिद्धान्तका ज्ञान होगा वह ऐसा नहीं करेगा. पर सर्वथा पुष्टिसिद्धान्तसे अपरिचित कोई ऐसा भजन शायद करे तो करे भी. अत: एक सम्भावनाके रूपमें श्रीमहाप्रभुजी लोकार्थिकि भजनका निरूपण करते हैं''.

सच कहना शास्त्रीजी, रोमांच हो ऐसी पंक्ति है या नहीं! पुष्टिसृष्टिपर कैसा गाढ विश्वास व्यक्त करते हैं कि जिसे स्वल्प भी ज्ञान होगा वो ऐसे नहीं करेंगा! ऐसे करनेवाला कोई पुष्टिधर्मके ज्ञानसे सर्वथा शून्य ही हो सकता है. उनमें भी सब तो ऐसे नहीं ही होंगे, कोई एक-दो ऐसे कभी निकलें भी! आज श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजीकी ही सृष्टि यदि जीविकाकेलिये भगवद्भजन करती हो जाये तो क्या यह विश्वासघात नहीं? वह भी श्रीआचार्यजी जैसे अपने हितेच्छुके साथ!

जिस धनका हमने ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा ग्रहण करते समय निवेदन ही नहीं किया हो उसका भी समर्पण सेवामें कैसे हो सकता है? सार्वजनिक मन्दिरमें यह मर्यादा कैसे सुरक्षित रह सकती है? आत्मनिवेदनके साथ केवल आत्मीय ममतास्पदका ही निवेदन है, सार्वजनिक मन्दिरमें आनेवाले या भेट धरनेवाले कोई भी अपरिचितका नहीं. अत: वैसे व्यक्तिकी भेट सेवार्थ स्वीकारनेपर अनिवेदित और अत एव अशुद्ध ऐसे द्रव्योंका सेवामें विनियोग कैसे हो सकता है? विशेषत: तब कि जब देनेवाला व्यक्ति निवेदनके समर्पणभावसे नहीं किन्तु हमारे प्रभुको दानरूपमें कुछ दे रहा हो.

सिद्धान्तरहस्यके पाँचवे श्लोककी व्याख्यामें श्रीलालूभट्टजी कहते हैं– ''यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि गद्यमन्त्र और पंचाक्षर ग्रहण करते समय अपने सभी पदार्थ देहादि तथा दारागारादि, भूत-भविष्य-वर्तमानकालमें अपनेसे सम्बन्धितका निवेदन होता होनेसे ब्रह्मसम्बन्धके कारण वे दोषरहित होते हैं. वैसे स्वसम्बन्धित पदार्थ 'निवेदित' कहे जाते हैं. उनके 'समर्पण'का मतलब है योग्य अवसरपर उनको अपने स्वामीके उपयोगमें लाना. अत:

भगवदीय होनेसे दोषरहित इन पदार्थोंका भगवदुपयोग करके भगवत्प्रसादके रूपमें उनका यदि उपयोग करते हैं तो भक्तिमार्गकी मर्यादा निभेगी... निवेदनमन्त्र ग्रहण करनेसे ब्रह्मसम्बन्ध होनेपर अपने सर्व अन्नादि पदार्थोंकी जो शुद्धि होती है वह तो आधिदैविकी शुद्धि है''.

इससे सुस्पष्ट होता है कि स्वकीय पदार्थोंका ही निवेदन होता है, सार्वजनिक या परकीय पदार्थों का निवेदन सम्भव नहीं है. स्वकीय पदार्थ ही यदि निवेदनसंस्कारद्वारा शुद्ध होकर भगवत्सेवायोग्य होते हों तो उनका ही भगवत्सेवामें उपयोग हो सकता है. पर सार्वजनिक मन्दिरमें यह मर्यादा कैसे निभ सकती है?

पुनश्च संक्षेपमें चार हेतुओंपर गम्भीर विचार करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि सार्वजनिक मन्दिरका पुष्टिसिद्धान्तसे अनुमोदन नहीं हो सकता. वे चार हेतु—

१. सिद्धान्तमुक्तावलीअनुसार सार्वजनिक मन्दिरमें तनुवित्तजासेवारूप स्वधर्मका आचरण सम्भव नहीं है. वहाँ सेवाके विभाग हो जाते हैं तनुजा और वित्तजाके रूपमें.

२. नवरत्नअनुसार स्वयंने निवेदित किया हो या न किया हो, पर प्रभुको जो दानरूपमें सन्मुख करनेमें आये उसका पुनर्ग्रहण वर्जित है. इसकी पुष्टि सोनेकी कटोरीकी वार्तासे भी हुई. तदनुसार निवेदन और दान का विवेक निभाना सार्वजनिक मन्दिरमें मुश्किल है.

३. सिद्धान्तरहस्यअनुसार अनिवेदित वस्तु या धन अशुद्ध होनेसे सेवार्थ योग्य नहीं होते. और निवेदन स्वकीय पदार्थोंका ही होता होनेसे सार्वजनिक मन्दिरमें यह आधिदैविकी शुद्धि नहीं निभ सकेगी.

४. जीविका या वृत्तिकेलिये भगवद्भक्तिका निषेध होनेसे वैसा करनेपर ऐहिक-पारलौकिक बिगडता है. सार्वजनिक मन्दिर जीविकार्थ सेवा करनेवाले तनुजासेवकों = पूजारीयोंके बिना चल नहीं सकते. अतः वल्लभवंशजोंकी ऐसी अन्तिम गति न हो इस हेतुसे भी सार्वजनिक मन्दिर पुष्टिमार्गमें बंद हो यही अभीष्ट लगता है.

और फिर सर्वनिर्णयनिबन्धमें जो नामात्मक स्वरूपकेलिये कहा गया है उसे साक्षात्स्वरूपकेलिये भी स्वीकारना ही चाहिये, कि

"पठनीयं (भजनीयं) प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्।
वृत्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि॥
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्।
त्रयाणां येन केनापि भजन् कृष्णमवाप्नुयात्॥
बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतम्।
नाम्नि चैकं ततस्त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः॥"

यहाँ त्रिविध भक्तिमार्गका निरूपण करनेमें आया है. (१) तनुवित्तजासेवा (२) मानसी सेवा यों दो स्वरूपसेवा, और (३) श्रीमद्भागवतका पठन यों एक नामसेवा, यों त्रिविध भक्तिका वर्णन करते कहा कि श्रीमद्भागवतका सर्वहेतुविवर्जित होकर पाठ करना चाहिये और प्राण कण्ठमें अटके हो तो भी वृत्त्यर्थ उपयोग नहीं करना चाहिये. यदि घर-गृहस्थी न चलती हो तो जिस प्रकार या जो कुछ करनेपर चले वैसे चलानी. नामसेवा करनी तो सर्व स्वार्थ या परार्थ हेतुओंको छोडकर ही. जब नामात्मक रूपके लिये इतना आग्रह रखा गया है तो साक्षात्स्वरूपकी सेवाकेलिये क्या आग्रह नहीं होगा?

पर आज परोपकारपरायण जैसे कहते हैं : "युग बदलता जाता है, जीवनके मूल्यांकन भी बदलते जाते हैं, तब वर्तमान समाजका समग्र संविधान भी कुछ परिवर्तन चाहता है. सनातन सिद्धान्त तो हमेशा परिवर्तनशील(?) होते हैं." तो मुझे कुरआन मजीदके ये वचन याद आ जाते हैं : "सुमम्तवल्लै तुम् ईल्ला कलीलम् अन्तुम् मुग्झून" और "व मा अर्सलनामिन् कबलिक मिर्रसूभिव्य ला नबीयिन् ईल्ला ईझा तमन्ना अल्कशैतानुकी उमनींतिह..." अर्थात् "सब बदलते हैं पर तुम तो बदल जाने वाले ही थे!" और "ईश्वरद्वारा ऐसा कोई पैगम्बर या नबी भेजनेमें नहीं आया कि जिसकी इच्छा-आज्ञामें शैतानने अपनी तमन्ना न मिला दी हो (लोगोंको उलटे मार्गपे ले जानेकी लिये)!" वास्तवमें सनातन सिद्धान्त परिवर्तनशील नहीं होते, क्योंकि वे तो ईश्वरीय विधान हैं! पर बीचमें शैतानी आकांक्षाएँ मिल जानेसे परिवर्तन हो जाता है!

खैर, सनातन सिद्धान्त परिवर्तनशील हो या नहीं, जब तक अपना पुष्टिमार्गीय मंच (stage) नहीं बदलता तब तक भगवत्सेवा या भागवत्सेवाके लिये श्रीमहाप्रभुजीका विधान नहीं बदलेगा. वह तो सनातन ही रहेगा :

"पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्।
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि।।"

३. शंका– यहाँ स्व-परसत्ताभेदके विचारके आधारपर स्वगृहसेवा और नन्दभवन (मन्दिर) सेवाका भेद विचारणीय है. स्वगृहसेवामें तो संशय नहीं है.

समाधान– 'स्वपरसत्ताभेदके विचारके आधारपर स्वगृहसेवा और नन्दभवन (मन्दिर) सेवा' की किंवदंति मैंने भी नहीं सुनी है. श्रीमहाप्रभुजीका या श्रीगुसांईजीका वैसा वचन अभी तक कहीं सुना नहीं. (आपके देखनेमें आया हो तो बताईयेगा). यदि मूलवचन मिले तो बात मेरे दिमागमें उतरे! मेरी ओरसे मैं इतना ही कह सकता हूँ कि नन्दभवन भी अन्तमें तो नन्दबाबाका भवन है, नन्दनन्दनका नहीं! अपने आनन्दकन्दसे मिलना हो तो तीर्थक्षेत्रमें पर्वकालमें श्रीनन्दबाबा और व्रजभक्त गये तो थे परन्तु उसके द्वारकाके भवनोंमें मिलने जानेके बजाय तो विरहाग्निके तीव्रतापको ही व्रजभक्त अधिक पसंद करते हैं!

शायद इसीलिये स्वगृहमें व्रजाधिपकी सेवा निभती न हो तो श्रीमहाप्रभुजी भी व्रजभक्तोंको गुरु मानकर तीर्थक्षेत्रमें कृष्णको खोजनेका विधान सर्वनिर्णयमें करते हैं: "अपने घरमें सेवा करनेवाले गृहस्थकी भगवत्सेवामें पांच दोष सम्भव हैं. और वैसा हो तो फिर घर छोडकर पर्यटन करना चाहिये. (१) यदि देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणकी भगवत्सेवामें सहज रुचि-प्रवृत्ति न हो तो, भडक उठे घोडेकी लगाम ज्यादा खींचनेसे जैसे वह सवारको पटक देता है वैसे ही, हमारे देहेन्द्रिय आदि भी हठाग्रहसे भगवत्सेवामें लगाये जानेपर विक्षेप उत्पन्न करते हैं. (२) वार्धक्य या रोगादि हेतुसे भी क्वचित् सेवा सम्भव नहीं रह जाती. (३) कँई बार अचानक मुसीबत अथवा सरकारी उपद्रव या अन्य किसी भी रूपमें कुछ ऐसी आपत्ति आती है कि मनुष्य चाहे तो भी भगवत्सेवा निभ नहीं पाती. (४) कँई बार अपना ही अत्याग्रह ऐसा बँध जाता है कि बाकी कोई भी कार्य करनेकी हमारी तैयारी हो पर यथार्थोपदिष्ट सेवा नहीं हो पाती! (५) कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमारी सेवासे प्रभुसुख संपादित हो या नहीं परन्तु परिवारको और पडोसियोंको पीडा निश्चित

होती है. ऐसे संयोगोंमें सेवा छोड देनी चाहिये. तब क्या करना? तीर्थाटन! तीर्थपर्यटन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र सभीके लिये श्रेष्ठ उपाय है, पर एक बात भूलनी नहीं चाहिये कि तीर्थपर्यटनमें भी पुष्टिजीवका तात्पर्य तीर्थयात्राद्वारा पुण्यलाभ करनेका नहीं किंतु कहीं कृष्ण मिल जाये ऐसा ही होना चाहिये. (और वह भी जीविकाके लिये आयोजित लक्झरी बस या स्पेश्यल ट्रेनमें दो महिनेकेलिये गांठिया-ढोकला खाते हुए घुम आनेके रूपमें नहीं.) देह छूटे तब तक घुमते ही रहना. एसे घरमें लौटनेका क्या लाभ जहाँ कृष्णसेवा न निभती हो?''

पुष्टिलीलाका उत्कर्ष तामसप्रकरणमें हैं. तामसप्रकरणस्थ भक्त हठीले न हों तो लीलामें रसाभास हो जायेगा. व्रजभक्तोंको तो तीर्थयात्राकेलिये जाना भी तामसत्व-राजसत्व निवृत्त होनेपर सात्त्विकताके उदयके कारण ही सूझा. तब भी वे द्वारका तो नहीं जायेंगे, नहीं जायेंगे, नहीं ही जायेंगे! देह छूटे तब तक विरहाग्निमें झुलसते ही रहना है!

बाकी अपना भावनासाहित्य सर्वत्र सर्व कार्योंमें सर्वदा भगवदिच्छा और भगवल्लीला की बुद्धिका अनुशासन साधता होनेसे कहीं ''कौन यह खेलवेकी बानि?'' कोई पूछे बैठे तो श्रीमहाप्रभुजीकी डाँटका डर लगता है! क्योंकि वे आज्ञा करते हैं : ''ऐसे न कहिये. यासों ऐसे कहो जो भली यह खेलवेकी बानि!'' अतः लोकमें सिद्धान्त/अपसिद्धान्त कोई भी रूपमें दिखाई देनेवाली चीज या कृति को योग्य भावनासे मण्डित किया जाता है. तदनुसार सार्वजनिक मन्दिर चल ही निकले देखकर कोई भगवदीय ऐसी भावना करे कि ये सार्वजनिक मन्दिर नन्दालय हैं, तो उसका विरोध मैं तो नहीं ही करुंगा. शायद मेरे विचार भी खोटे हो सकते हैं, किन्तु इससे वैसी भगवदिच्छा या भगवत्प्रेरणा नहीं ऐसे तो मैं कबूल नहीं ही करुंगा, शुद्धाद्वैतमें मेरी आस्थाके कारण. यह शुद्धाद्वैत ज्ञानकी उच्च कक्षा है. पर वह प्राप्त हो उसके पहले दूसरेके दोष स्फुरते ही होते हैं. तब मेरे दोषोंकी वकालत ''भगवदिच्छा'' कहकर नहीं की जा सकती. तदनुसार पूर्णज्ञानोदय हो तब तक विचारपक्षमें गुण-दोषचिंतन दोषरूप नहीं है. किन्तु भावनापक्षमें ''गुणदोषदृशिर्दोषः गुणस्तूभयवर्जितः'' = दूसरेके गुण-दोष देखना दोष है और उसे न देखना ही गुण है –यह उत्तम कल्प है. अतः विचारदृष्टिसे ऐसी सिद्धान्तहीन

भावनाओंका खण्डन न हो तो सर्वत्र अपसिद्धान्तका ही प्रचार होगा.

४. शंका– मन्दिरमें भेट आदि देनेवाले भगवानको देते हैं, उससे गृहस्वामी भगवान अपने सेवकोंका पोषण करते हैं. उसमें दोष क्यों माना जाता है? श्रीमहाप्रभुजी - श्रीगुसांईजीकी अवतारदशामें श्रीनाथजीके मन्दिरमें सेवक प्रसाद लेते थे ऐसा उल्लेख वार्तामें दीखता है. श्रीमहाप्रभुजीने श्रीभल्लाजीको मन्दिरमें सेवकोंके साथ या अपने यहाँ रहकर प्रसाद लेनेकेलिये समझाया था. सेवकोंको मन्दिरमेंसे नेग मिलनेका उल्लेख भी है. रामदासजीको सेवाक्रम सबसे पहले दिया उसमें निर्वाह तो व्रजवासीयोंने देवदमनको दिये हुए दूध, दही, माखन आदिसे सूचित है न. श्रीमहाप्रभुजी - श्रीगुसांईजी मन्दिरमें सेवामें बिराजे होंगें तब भी मन्दिरका ही प्रसाद लेते होंगे न? "सेवकानां यथा लोके व्यवहार..." वाक्यखंडमें लोकमें स्वामी सेवकका पोषण करता है यह व्यवहार प्रसिद्ध है ही.

समाधान– "मन्दिरमें भेट आदि देनेवाले भगवानको देते हैं, उससे गृहस्वामी भगवान सेवकोंका पोषण करते हैं" में चार कंठोक्त दोष तो अपन दूसरे और तीसरे शंका-समाधानमें देख ही गये हैं.

श्रीनाथजीका सेवाप्रकार और मन्दिर "सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा" = "गुरुकी आज्ञा अनुसार सेवा करनी" तदनुसार नहीं, पर "बाधनं वा हरीच्छया" = "हरीच्छा विपरीत मालूम हो तो गुरुआज्ञाका बाधन भी हो सकता है" के कल्पके अनुसार है. यह पूरनमल क्षत्री और सदू पांडेकी वार्ता पढनेसे सुस्पष्ट हो जाता है. प्रमुख वचन दे रहा हूँ–

(क) तब श्रीआचार्यजी श्रीगोवर्धनधरकों गोदमें बिठाय दोऊ कपोल परसि कहें "बाबा! अब तुम्हारी कहा ईच्छा है?" तब श्रीगोवर्धनधर कहें "मेरी सेवा प्रकट करो".

(ख) तब सदु पांडेने कही "राधाकुण्ड कृष्णकुण्ड पर बंगाली हैं, कहो तो बुलाऊं". तब श्रीआचार्यजी कहे "बुलाओ".

(ग) तब श्रीआचार्यजी कारीगरसों कहें "हमारे ठाकुरको मन्दिर सिखरबंद धुजा, कलसको नाहीं. नन्दरायजीके घरकी नांई करो." ... तब श्रीआचार्यजीके हस्तमें नकसाको कागद आये. तब उही सिखरबंद धुजा कलस सहित. तब श्रीआचार्यजी कहें "सिखरबंद क्यों किये?" तब कारीगरने कही

"महाराज. हम तो घरकी नांई किये हते. सो अब सिखरबंद धुजा कलस भयो ताको कारन तो हम जानत नाहीं". तब श्रीआचार्यजी जाने जो श्रीठाकुरजीकी ईच्छा यह है जो जगतमें पूजाय बहुत जीवको उद्धार करेंगे. सो देवालयकी रीति यहाँ राखनी उचित है.

इससे अधिक स्पष्टता और क्या हो सकती है? श्रीमहाप्रभुजीने ठानी कि मुझे सिद्धान्तानुसार (सार्वजनिक मन्दिरमें नहीं, किन्तु) नन्दभवनमें सेवा करनी है. श्रीनाथजीकी हठ है कि मुझे जगतमें पूजाना है, पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तमें बँधना नहीं है. शायद इदं प्रथमतया ही ऐसी स्वसिद्धान्तविपरीत श्रीनाथजीकी बालहठ देखकर श्रीमहाप्रभुजीने भी अपने सिद्धान्तमें कहीं "बाधनं वा हरीच्छया" जोडा न हो! हठात् अत: श्रीनाथजीकी सेवामें (नन्दभवन नहीं, किन्तु) देवालयकी रीति शुरु हुई. इसीलिये सिद्धान्तनिरपेक्ष होकर श्रीमहाप्रभुजीने ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा बिनाके बंगालियोंको भी सेवाकी छूट दी. अत: श्रीनाथजीकी सेवासम्बन्धी कोई भी बात श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तको समझनेमें सहायक नहीं होगी, क्योंकि वे सभी प्रकार "बाधनं वा हरीच्छया" के हैं.

श्रीनाथजी स्वयं आज्ञा करें "मेरा वैभव बढाओ" तो श्रीगोपीनाथजीको सवालाख रूपये इकठ्ठे करके भेट धरने पडे! श्रीगुसांईजीने नौ-नौ बार गुजरातका प्रदेश किया! देखनेकी बात भी यह कि छह-छह बालक प्रकट हुए तब तक स्वयं बिराजे अडेलमें ही, स्वगृहसेवारत रहकर! श्रीनाथजीको यह भी अच्छा न लगा, अत: कृष्णदास अधिकारी आदि भगवदीयोंको प्रेरणा देकर श्रीगुसांईजीको व्रजमें बुलवाये. व्रजमें पधारनेके बाद भी आन्योर या जतिपुरामें अपना निवास करनेके बजाय गोकुल-मथुरामें बिराजना ही श्रीगुसांईजीको भाया! स्वगृहसेवारतिका कैसा आग्रह! और प्रतिदिन गोकुलमें स्वगृहसेवा पहुँचकर घोडेपर सवार होकर जतिपुरा पधारते थे! आज मोटरके युगमें भी यह प्रकार सरल तो नहीं लगता. और फिर लौकिकदृष्टिसे देखनेपर आपश्रीको उस वार्धक्यमें परिश्रम कितना होता होगा? श्रीरघुनाथजी इस स्थितिका चित्रण नामरत्नाख्यमें देते हैं- "श्रीगोकुलकृतावास: गोवर्धनागमरत:". श्रीगोवर्धनधरके रूपमें आसक्ति और गृहसेवाका आग्रह ही 'आवास:' और 'आगमरत:' पदोंद्वारा जताये गये हैं. स्वामीका आकर्षण बडा या सिद्धान्तका? दोनोंका समन्वय कितना

दुष्कर! स्वगृहकी कुछ सेवा छूटती ही होगी. पर स्वरूपके साथ परिधृत सिद्धान्तचीरको स्वामी हरे और आज्ञा करे कि तुम मेरे पास आओ, तो क्या अपन ना कह सकते हैं? क्या कुमारिकाओंने बुरा मान लिया होगा कि शीतकालमें ऐसी हाँसी क्यों की? नहीं, किनारे तो आना ही पडेगा. रसवृद्धिकेलिये शायद गाया हो "हमारे अम्बर देहो मुरारि". पर होगा तो वही कि जो उसे पसन्द हो! इसीलिये श्रीमहाप्रभुजीने भी सोचा कि "सो देवालयकी रीति यहाँ राखनी उचित है." तब मैं कैसे कहूँ कि वह अनुचित थी या है?

आज स्वयंके सुधारक होनेकी तसवीर दिखानेकी लोकेषणामें हम पुष्टिमार्गी ही श्रीनाथजीके सेवाप्रकारकी निंदा करते हैं. कहते हैं : "लोग अनैतिक प्रकारसे संचित किये हुए काले धनसे नाथद्वारामें बडे मनोरथ कराते हैं!" पर मैं सच कहता हूँ कि ये बातें मेरे दिमागमें नहीं उतरती. काला धन यानि क्या? कल तक जो धन काला था वो आज छोटे सरकारी अफसरके सामने *वोलंटरी डिस्क्लोझर स्कीम*के फोर्म भरनेसे सफेद हो जाता हो, अनैतिक नैतिक हो जाता हो, तो वह अफसर और फोर्म भरनेवाला, दोनोंके अन्तर्यामी श्रीनाथजीको उनकी श्री कभी लौटानेमें आती हो तो उसमें अनीति कहाँ हुई? अनैतिक रीतिसे कमाई हुई श्री तो पहले सौंपनी चाहिये! किसी भी परिस्थितिमें अनीतिकी निंदा हो उसमें कोई आपत्ति नहीं परन्तु श्रीनाथजीको व्यर्थ बीचमें फँसाकर भक्तिकी निंदा हो जाती हो तो वह हमें शोभा नहीं देता. अनीतिसे कमाना निंदनीय हो सकता है पर प्रभुको भेट धरनी उसे अनीति कैसे कहा जा सकता है? हमें जो बडे बंगले-फ्लेटोंमें पधरावनीके समय मिलता है वह क्या काला धन नहीं है? बडी भागवत्सप्ताहोंमें क्या सारेका सारा नैतिक रीतिसे कमाया हुआ चंदा चढाया जाता है? विविध कीर्तियज्ञों और स्पर्धायज्ञोंमें दी जाती आहुतियोंकेलिये रुपये सब सफेद ही होते हैं? दिनप्रतिदिन बढते जाते श्रीयमुनाजीके लोटी, गागर, कोठी, टांकी टेंकर(!) उत्सवोंमें श्रीयमुनाजलका जो सार्वजनिक नीलाम होता है यह पुष्टिमार्गके शरीरका केन्सर रोग क्या सफेद धनसे बढ रहा है? निंदा अनीतिकी होनी चाहिये, भक्तिकी नहीं. पर आश्चर्य होता है कि श्रीनाथजीकी जिस चीरहरणलीलाका विरोध श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजीने

नहीं किया वह आज कलियुगका नीतिमान मानव करना चाहता है! (विषयान्तरकेलिये क्षमा करें, लिखा गया).

आपके वाक्य अनुसार "सेवकानां यथा लोके व्यवहार:" के उदाहरणके रूपमें लोकमें स्वामी सेवकका पोषण करता है. पर तब तो वाक्य रचना "स्वामिनां हि यथा लोके व्यवहार:" अपेक्षित थी! सच कहूँ तो श्रीनाथद्वारामें सिद्धान्तविपरीत रीतिका निर्वाह ही "सेवकानां... व्यवहार:" का सच्चा उदाहरण है. स्वामी सिद्धान्तके चीर हरके जगतके किनारे हमें विवसन बुलाये तो आना पडे, क्योंकि पक्का निर्धार है अपना "सेवकानां यथा लोके व्यवहार:" का! परिणाम हमें नहीं सोचना है, वह स्वयं ही सब कुछ सोचेगा ही. "सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति". सेवकका धर्म तो यही है. स्वामी बाकी सब करेगा ही. परन्तु किसी प्रसंगमें हमारा(?) स्वामी चीरहरणलीला करे बस इसीलिये दिगम्बर नागाबावा हमें नहीं बन जाना है. वेणुवादन करके बुलायें तब धांधलमें व्यस्तवस्त्राभरणा भले ही हो जायें, पर जायेंगे तो सहज शृंगार वस्त्र आदि धारण करके ही!

मुझे लगता है कि रामदासजीको नेग मिलनेकी या श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजीकी प्रसाद लेनेकी आपकी युक्तिका भी समाधान इससे हो जाता है. 'भिन्नमार्गपरम्मतम्' कहनेके बावजूद भी यदि जगदीशमें प्रसाद ले सकते हों तो श्रीनाथजीका प्रसाद क्यों नहीं? वर्णाश्रमके भेद बिना यदि जगदीशजीका सखडी प्रसाद लिया जा सकता हो तो इससे अन्यत्र उसका अनुकरण नहीं हो सकता. इसी प्रकार श्रीनाथजीके द्रव्यका प्रसाद लिया भी जा सकता हो उस कारणसे सर्वत्र वह अनुकरणीय नहीं हो जाता. जगदीशजीके सखडी प्रसादके माहात्म्यकी भांति ये शायद श्रीनाथजीके स्वरूपका माहात्म्य भी हो सकता? यद्यपि देवद्रव्यका प्रसाद ले ही नहीं सकते ये एक सैद्धान्तिक हकीकत तो है ही.

५. शंका– मन्दिरप्रणाली भी श्रीमहाप्रभुजीने श्रीगोवर्धननाथजीको बिराजमान करके स्वीकारी ही है. "रीत प्रीत व्रजजनकी" व्रजजन नन्दभवनमें दर्शनको जाते थे उस भावसे भावमार्गमें भक्त भगवद्दर्शनकेलिये जायें, भगवद्दर्शन हो, क्या यह उपयुक्त नहीं? स्वगृहमें सेवनके बावजूद नन्दगृहमें सेवन

संगत तो दिखाई देता है. निकुंजादि भावमें, तद् तद् मुख्य प्रियाओंकी निकुंजमें भी सम्बन्धित सखीजन सेवा - दर्शन लाभ लेते ही हैं.

समाधान– मन्दिर क्यों स्थापित हुआ उसका तो इतिहास हम देख गये हैं. पूर्वकालमें भगवद्आज्ञासे जननाशौचमें भी भगवत्सेवाके उदाहरण देखकर आजका कोई मानववादी उपदेशक रजस्वलाधर्म न माननेका विधान करे तो वो उपदेश धर्मसंगत कहा जायेगा क्या?

"व्रजजनकी रीत और प्रीत" अनुसार नन्दभवनमें या निकुंजमें दर्शनकेलिये जाना या वैसा मनोरथ, ये तो दोनों ही पुष्टिमार्गमें महत्सौभाग्यका विषय है. परगृहमें बिराजते श्रीठाकुरजीमें स्वरूपासक्तिके कारण यदि सेवा करने या दर्शन करने जानेकी इच्छा होती हो तो आपने लिखी हुई नन्दभवनकी अथवा निकुंजान्तरकी भावना करके ही जाना चाहिये. प्राचीन भक्तोंने भी "बोलि लेहू संकोच करो जिन जब तुम सुत ही न्हवावो। 'श्रीविट्ठलगिरिधरन' लालकों मोहिपे उबटावो॥" जैसी नन्दालयमें बिन बुलाये जाकर सेवा करनेकी भावना दिखाई है. वैसे ही "चलो सखी सौतनके घर जईये। मान घटे तो कहा घट जईये पियके दरसन पईये॥" जैसी सौतके यहाँ जाकर भी दर्शनलाभ ले लेनेकी भावनाएँ दिखानेमें आई हैं. अपना स्वामी तो दर्शनीय ही है, फिर चाहे वह सौतके घरमें भी क्यों न खेलता हो!

बात किन्तु दर्शनसे आगे नहीं बढनी चाहिये. सेवाका सच्चा सुख तो स्वगृहमें या स्वनिकुंजमें ही मिलता है. इसीलिये अपने यहाँ परकीयाभावको ज्यादा महत्त्व नहीं दिया गया. और फिर अपना स्वामी भी एक कालावच्छेदसे अशेष निकुंजोंमें नायक हो सकता है. दर्शनमें तो आपत्ति न ही हो, पर बात यदि दर्शनसे आगे बढे तो आपत्ति आये बिना रहेगी नहीं. तब निकुंजान्तरमें जाकर वह निकुंजनायिकाकी सेवा छिन-झपट लेनेका इरादा हो तो अपने घर या निकुंजमें बिराजते ठाकुरजीके दर्शन बंद ही कर देने चाहिये या नहीं?

अनजाने ही मन्दिरमें तनुवित्तजासेवाके विभाग हो जाते हैं और सेवासुखके साथ - साथ सेवासिद्धान्त भी तिरोहित हो जाते हैं यह कहाँ नहीं दीखता? तनुजासेवा या वित्तजासेवा तो सेवा ही नहीं है ; सेवा तो तनुवित्तजा ही होती है. वह खो न जाती हो तो घर आये हुए

भगवदीयको दर्शन करानेमें कोई ऐतराज नहीं. व्रजभक्त क्षमा करें मेरे ये शब्दापराधको, पर नन्दभवनमें या निकुंजमें भगवद्दर्शनार्थ आनेवालोंसे वित्तजासेवा कराके सेवकभावसे स्वपोषणकी लेशमात्र भी वृत्ति व्रजभक्तोंकी होती तो श्रीमहाप्रभुजीने व्रजभक्तोंको अपने भक्तिमार्गमें गुरुरूपमें प्रशंसित या मान्य न किये होते. व्रजभक्त अपने गुरु हैं क्योंकि उन्होंने स्वसर्वस्वनिवेदन करके अपने स्वामीको - सखाको - लालाको निर्व्याज रिझाया है.

विख्यात शायर गालीबने एक जगह कहा है –

जिक्र उस परीवशका और फिर बयां अपना॥
बन गया रकीब आखिर था जो राजदां अपना॥

अर्थ – मेरे मित्रोंमें मेरी उर्वशी जैसी प्रेमिकाके सौन्दर्यका एक तो वर्णन और वह भी मेरे काव्यकौशलसे मैंने जो किया, उस अपराधका दण्ड यह हुआ कि अन्तमें मेरे मित्र आज मेरे ही प्रतिस्पर्धी - दुश्मन हो गये हैं!

समूचा आपका कहा हुआ 'आस्तिक बहुजनसमाज' आज हमारे सार्वजनिक मन्दिरमें वित्तजासेवा करता होनेसे ऐसी भ्रान्ति रखता है कि ये मन्दिर महाराजके कायके? भगवान तो सभीके ही होते हैं! ऐसे सर्वजनके मर्यादामार्गीय भगवानकी पुष्टिसेवाकी आपको आवश्यकता लगती है?

श्रीपुरुषोत्तमजीने सच ही कहा है : "वित्तजासेवासे चित्तमें अहंकार बढता है, तब चित्त भगवानमें चौंट नहीं सकता". अन्तमें ऐसे वैष्णव महाराजश्रियोंको डरा-डराकर मन्दिरोंको सार्वजनिक ट्रस्ट बनवाकर, स्वयं ट्रस्टी बन जाते हैं और समझाते हैं कि सब व्यवस्था सुधर गई! महाराजश्रियोंमें श्रद्धा न होनेसे वैसे मन्दिरोंमें कुछ समय बाद भिन्न - भिन्न मतके या सम्प्रदायोंके, शास्त्रीयोंके या सन्न्यासियोंके केन्द्र स्थापित होते हैं ; जिसमें वाक्चातुरीसे वे पुष्टिमार्गके सिद्धान्तको श्रीमहाप्रभुजीकी प्रशंसा करके गाली देते होते हैं. उन ट्रस्टियोंको अपनी सुव्यवस्थामें विश्वास (ट्रस्ट) होता है साथ ही साथ गैरपुष्टिमार्गीय शास्त्रीके पाण्डित्यमें भी विश्वास होता है. समय व्यतीत होते - होते ट्रस्ट (विश्वास) नहीं रह जाता है केवल श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तमें! "बन गया रकीब आखिर था जो राजदां अपना!" ये है हम पुष्टिमार्गीयोंके साथ पुष्टिमार्गीय

ट्रस्टियोंकी *ब्रीच ऑफ ट्रस्ट* विश्वासघातकी गाथा! और यही है अन्तिम गति सार्वजनिक मन्दिरोंकी! उदाहरण मैं नहीं दूंगा, आप स्वयं कहीं भी देख लो.

६. शंका– प्रचलित सेवाप्रक्रियासे समाजको दूर करनेवाले श्रीवल्लभस्वरूपस्थापनसे अनेक लोगोंमें असन्तोष, नासमझी, असन्मार्ग और सोची न हो वैसी दूसरी अवांछनीय बातें सम्भवित हो सकती हैं.

समाधान– आपका भय मुझे अतिरंजित लगता है, क्योंकि चली आती सेवाप्रक्रियासे इसमें कुछ भी अनोखा नहीं हो रहा. कोई भी प्राचीन घर या मन्दिरमें श्रीमहाप्रभुजीकी या श्रीगुसांईजी आदिकी सेवा नहीं होती हो ऐसा मेरे ख्यालमें नहीं आता. इसके अलावा बैठकमें आचार्यचरण आदिकी पुरुषोत्तमभावसे भी होती सेवाके प्रकार आपने स्वयं अनेकत्र देखे ही होंगे. कोटामें शताधिक वर्षसे बडे महाप्रभुजीके मन्दिरमें मुख्य सिंहासनपर श्रीमहाप्रभुजीका सेवाक्रम प्रसिद्ध है ही. अतः किस अंशमें और क्या नया हो रहा है ये मुझे समझमें नहीं आता. श्रीवल्लभस्वरूपस्थापन भी, सच कहूँ तो, मैं नवीन रीतसे कर ही नहीं रहा. अनेकत्र चित्रजी रूपमें वर्ण, आकृतिमें तथा भावनाजी - पादुकाजी - हस्ताक्षरादि रूपमें वस्त्र, काष्ठ, कागज आदि अधिष्ठानोंमें श्रीमहाप्रभुजीकी सेवा होती ही आई है. तब धातु या पाषाण के अधिष्ठानोंमें श्रीमहाप्रभुजीकी रूपाकृतिको अभिव्यक्त करनेमें और वहाँ सेवा करनेमें प्रमाण तो निबन्धोक्त ये आचार्यवचन ही होता है— "मूर्तिका भगवान होना तीन प्रकारसे निरूपित करनेमें आता है -

क) शुद्धाद्वैतकी दृष्टिसे वस्तुमात्र भगवद्रूप ही है, फिर भी मूर्तिमें 'इस जीवका मुझे उद्धार करना है' ऐसी इच्छाके साथ भगवानका प्राकट्य कृपामार्गकी मर्यादा अनुसार होता है.

ख) भक्तिभावसे भक्त जहाँ प्रभुको देखना या भजना चाहे वहाँ प्रभु उसकी सेवा स्वीकारते हैं ही. यह भक्तिमार्गकी मर्यादा है. ब्रह्म साकार और व्यापक होनेसे भक्तके भावका अनुसरण करे उसमें कोई वैपरीत्य नहीं होता.

ग) शास्त्रीय उपासनामार्गकी दृष्टिसे विचार करनेपर भी मूर्तिपूजा शास्त्रसम्मत

दिखाई देती है, क्योंकि वही मन्त्र शास्त्रोंमें उपलब्ध होते ही हैं''.

यदि इसी न्यायसे अद्ययावत् चलते चित्रजी-भावनाजी-पादुकाजीके सेवाप्रकारका समर्थन हो सकता हो तो धातु या पाषाण आदि अधिष्ठानोंमें भी रूपप्राकट्यसे श्रीमहाप्रभुसेवाको अयुक्त क्यों माननी? अत: मैं नवीन नहीं कर रहा किन्तु अभी जो सिद्धान्तविपरीत सेवाप्रकार सार्वजनिक मन्दिरमें चल रहा है उसे किसी सिद्धान्त या नियमकी चोखटमें बिठाना चाहता हूँ. प्रत्येक वैष्णवको कृष्णसेवा अपने घरमें ही करनी चाहिये, सार्वजनिक मन्दिरमें नहीं. सार्वजनिक मन्दिर यदि चलाने ही पडते हों तो वहाँ श्रीमहाप्रभुजीकी सेवाका क्रम शुरू करना चाहिये, जिससे आचार्यदर्शन, आचार्यसान्निध्यमें आचार्यचरणके सिद्धान्तोंका पठन, श्रवण, मनन आदि सत्संग कथा-प्रवचनोंद्वारा हो पाये. सार्वजनिक मन्दिर इस प्रकार स्वधर्मके बीजभावको वृद्धिंगत करनेवाले स्वसम्प्रदायके प्रचार-प्रसारके मुख्य स्थल बनें. स्वसिद्धान्त निभे, व्यावहारिकता निभे और समय व्यतीत होते-होते प्रभुकृपासे गृहसेवाका आग्रह बढे तो सब कुछ सुव्यवस्थित हो जाये! सार्वजनिक मन्दिरोंमें कृष्णसेवादर्शनमें मिलता मिथ्या सन्तोष ही गृहसेवाकी उपेक्षाका एक हेतु बन रहा है. क्या गृहसेवा अपना सिद्धान्त नहीं? क्या मन्दिरोंमें पादुकाजी हस्ताक्षर चित्रजी आदि रूपोंमें श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजी नहीं बिराजते? नया कुछ नहीं पर सिद्धान्तानुसार और शिष्टाचारानुसार जो होता आया है वही मैं करना चाहता हूँ.

असन्तोष? असन्तोष तो ऐसे विधानसे जो भगवन्मन्दिरको ही निर्वाहसाधन बनाये रखना चाहते हैं उन्हें होगा ही. असन्तोष तो शांकरोंको शुद्धाद्वैतसिद्धान्तसे कितना ज्यादा है? किन्तु उस भयसे शुद्धाद्वैत न कहें तो श्रीमहाप्रभुजीकी सृष्टिको श्रीमहाप्रभुजीकी ही प्रशंसाद्वारा श्रीमहाप्रभुजीसे ही विमुख करनेवाले चूप बैठनेवाले तो नहीं न! श्रीमहाप्रभुजीसे असन्तुष्ट रहनेवाले श्रीमहाप्रभुजीके हरेक सिद्धान्तवचनसे असन्तुष्ट ही रहेंगें, उपाय क्या?

नासमझी? नासमझीसे असन्तोषका उद्भव होता है या असन्तोषसे नासमझीका ये मैं नहीं कह सकता. शायद दोनों अन्योन्याश्रित ही होंगे. अत: नासमझी भी खडी होगी ही, उन्हें कि जिन्हें मैं समझा नहीं पाउंगा, और उन्हें भी कि जो श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तसे सन्तुष्ट नहीं हैं.

असन्मार्ग? "रहो नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः, तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते". इसके अनुसार सद्वर्तनका सूत्र बहुत ही सूक्ष्म है, कभी भी टूट सकता है. शास्त्रीजी, आप तो अधिक जान सकते हो कि हजारो वर्षोंकी तपस्यासे अर्जित संयम कितनी क्षुद्र बातें देखकर ऋषिगण खो देते थे! श्रीमहाप्रभुजीके तनुवित्तजासेवाके सिद्धान्तानुसार सार्वजनिक मन्दिर (ट्रस्ट) सेवा असन्मार्ग है. चन्दा इकठ्ठा करनेकेलिये श्रीमद्भागवत्पारायण भी असन्मार्ग है. वैसे असन्मार्गपर दौडनेकेलिये यदि श्रीमहाप्रभुजीके अनुयायी तैयार हों, परमहंस विरक्त(!) बडे मठोंमें-आश्रमोंमें भगवा वस्त्र बिछाकर किमती सोफासेटपे ब्रह्मानन्दका(!) अनुभव करते हों, निराकारके उपासक कृष्णके मधुर आकारकेलिये मगरके आंसू टपकाते हों, एक गालपे तमाचा मारनेवालेको दूसरा गाल दिखानेवालेके शिष्य एक नहीं पर दो-दो विश्वयुद्ध लडते हों, गुरुडम(गुरुतन्त्र)की निंदा करनेवाले प्रसिद्ध हो जानेपे गुरुसे भी आगे बढकर भगवान ही यदि बन जाते हों, "कृष्ण अवतार नहीं पर आत्मविकास साधनेवाले महान योगेश्वर हैं" ऐसे कहनेवाले स्वयं ही कुछ समय व्यतीत होनेपर अवतार बन जाते हों तो श्रीमहाप्रभुजीकी सेवाके सिद्धान्तको विकृत करके असन्मार्गपे जानेवाले योगभ्रष्ट(!) ऐसे कौनसे असन्मार्गकी ओर चले जायेंगे कि जहाँ आज तक और कोई घुम न आया हो!

अनसोची दूसरी अवांछनीय बातोंकेलिये तो ज्यादा नहीं कहुंगा; "चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति, भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्" वचन मुझे पर्याप्त लगता है.

७. शंका– गृहसेवाका प्रचुर प्रचार, घरमें व्यक्तिगत श्रीवल्लभसेवानिषेध, मन्दिरसेवाका व्यवस्थित विकल्प दिये बिना, उसकी जनसमाजको सुदृढ समझ दिये बिना, तो लगता है कोई अव्यवस्था खडी होगी तो?
समाधान– कोई भी कार्य प्रभुप्रदत्तसामर्थ्य बिना हो नहीं सकता. तदनुसार जो कुछ सामर्थ्य मेरेमें है उसके अनुरूप गृहसेवाका प्रचार मैं करता ही रहता हूँ. स्वगृहमें श्रीमहाप्रभुजीकी सेवा वैष्णवोंको पुरुषोत्तमभावसे नहीं करनी चाहिये इस बातका प्रचार भी करता ही रहता हूँ.

सार्वजनिक ट्रस्टमन्दिरोंमें चलती कृष्णसेवाके दो ही विकल्प मुझे

व्यवस्थित लगते हैं– १) ऐसे मन्दिरोंका पीठट्रस्टमें रूपान्तरण करके कृष्णसेवाका उद्देश्य उस पीठके पीठाधीशके स्वधर्माचरणके रूपमें घोषित करना, जिससे पीठाधीश तनुजासेवा करनेवाला पूजारी न बन जाये. पीठाधीशका कर्तव्य स्वधर्मप्रचार और स्वधर्माचरण ऐसा उभयविध होना चाहिये. उसमें स्वधर्मप्रचारकेलिये धर्माचार्यकी हेसियतमें वह शिष्योंसे दान-भेट स्वीकारें उसमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु स्वधर्माचरण=कृष्णसेवाका प्रयोजन आम जनताकेलिये न होकर उन-उन पीठाधीशोंका अपना निजी कर्तव्यपालन होना चाहिये, कि जिसकेलिये जनतासे भेट-दान स्वीकारना अधर्म घोषित होना चाहिये. २) मन्दिर तब भी यदि चलाने ही पडते हों तो उसमें कृष्णसेवा नहीं पर आचार्य श्रीमहाप्रभुजीकी सेवा होनी चाहिये, क्योंकि यदि सार्वजनिक मन्दिरोंके कारण वैष्णवसमाज किसी अंशमें संगठित होता हो तो उसका विगठन भी वांछनीय नहीं है. पर यदि उस संगठनकेलिये सिद्धान्तकी किमत चुकानी पडती हो तो वैसे सिद्धान्तविहीन संगठनकी कोई आवश्यकता भी नहीं है.

इस प्रकार दोनों पहलू जाँचनेके बाद ही ऐसा लगता है कि सार्वजनिक मन्दिर प्रभुके नहीं पर श्रीमहाप्रभुजीके ही होने चाहिये. जनसमाजको उसकी सुदृढ समझ भी इस बारेमें केवल भाषण-प्रवचनके बजाय यदि कोई ठोस नींवपर किसी कार्यक्रमको आचरणमें लाकर दी जा सकती हो तो वह मुझे अधिक अभीष्ट प्रकार लगता है. फिर भी यदि कुछ अव्यवस्था भविष्यमें खडी हो तो भगवदिच्छा!

८. शंका– सेवामें प्रभुसम्बन्धमें जो अनर्थ आज विकसित हुए लगते हैं वे भविष्यमें श्रीमहाप्रभुजीको पधरानेपर उनके सम्बन्धमें भी क्रमशः विकसित नहीं होंगे?

समाधान– पर ऐसा यदि श्रीमहाप्रभुजीने सोचा होता तो आपश्रीने कृष्णसेवामार्गको भी विकसित न किया होता. श्रीकृष्णके बजाय यदि श्रीमहाप्रभुजीमें पुष्टिमार्गीय जनताकी आस्था सुरक्षित रहे तो भी मुझे लगता है कि वह पुष्टिमार्गपर अधिक सरलतासे चल सकेगी. श्रीकृष्णकी तो व्रजलीलाकी भांति मथुराकी और द्वारकाकी भी लीलाएँ हैं. अद्वैती कृष्णके हों या नहीं किन्तु अद्वैतियोंका कोई कृष्ण होता है उसका कैसे इन्कार हो सकता है? श्रीमहाप्रभुजीको

भी सर्वांशमें पुष्टिमार्गीयेतर अपना नहीं सकेंगे. अत: मेरे कल्पमें मुझे दोषकी अपेक्षा गुण ज्यादा दिखते हैं. समय व्यतीत होते-होते यदि वल्लभपंथ एक अलग विकसित हो तो उसे श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्त या वचनों से द्वेष तो नहीं ही होगा.

९. शंका– दैवी जीवके मार्गको सर्वाधिकारक करने जानेपर क्या सिद्ध होगा?

समाधान– आप अतिमहत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित कर रहे हो. मैं मन्दिरसेवाका विरोध इसी कारणसे करता हूँ. आज सार्वजनिक मन्दिरोंमें पुष्टिभक्त्यधिकारलभ्य विविध फलात्मक मनोरथोंके हम दर्शन कराते हैं. अन्यमार्गीयको जहाँ दर्शन करानेपर वर्षपर्यन्तकी सेवा श्रीहरिरायजी विफल मानते हों वहाँ मन्दिरप्रणालीद्वारा भगवानकी पुष्टिप्रतिमाको सर्वाधिकारक बनानी ये कितने अंशमें योग्य है? आज श्रीठाकुरजीके रूप और नाम को द्रव्योपार्जनकेलिये आम जनतामें प्रदर्शित करनेका जो भेडिया प्रवाह चला है वह कितनी सिद्धान्तसम्मत कथा है? मुझे तो इन सभी रोगोंकी एक ही चिकित्सा असरकारक दिखाई देती है, वह है श्रीमहाप्रभुजीके नाम-रूपका भजन. तदनुसार मेरा मनोरथ है कि सभी सार्वजनिक मन्दिरोंमें प्रमुखतया श्रीमहाप्रभुजीका स्वरूप पुरुषोत्तमभावसे नहीं किन्तु आचार्यभावसे पधराया जाये और उनकी सेवाके प्रकारका खूब प्रचार हो. श्रीमहाप्रभुजीकी सन्निधिमें स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभा पानेवाली पुष्टिमार्गीय जनता नित्यनियमसे अष्टाक्षरमन्त्र-षोडशग्रन्थादि स्तोत्रोंके पाठ, ८४-२५२ वैष्णवोंकी वार्ता तथा सुबोधिनी आदि आकरग्रन्थोंका पठन-श्रवण-मनन करें, नित्य ऋतु-उत्सवक्रमके कीर्तन गायें और सुने तो अवश्य "सान्निध्यमात्रदत्तश्रीकृष्णप्रेमा" महाप्रभुजी पुष्टिजीवके श्रीकृष्णसेवा-कथात्मिका भक्तिके बीजभावको दृढ करेंगे ही!

१०. शंका– भगवदपराधमेंसे तो शायद श्रीमहाप्रभुजी बचायें, पर श्रीमहाप्रभुजीके सम्बन्धमें होनेवाले अपराधमेंसे कैसे बचेंगे? कौन बचायेगा?

समाधान– श्रीमहाप्रभुजी "महाकारुणिक" हैं अतः वे स्वयं बचायेंगे; और तो कौन बचा सकता है? अथवा एक अन्य दृष्टिसे देखें तो भगवदपराध या वैष्णवापराध होनेपर श्रीमहाप्रभुजीने अपने शिष्योंका त्याग

करनेकी लीला की है वैसा उल्लेख ८४ वैष्णवोंकी वार्तामें मिलता है. किंतु श्रीमहाप्रभुजीके सेवकोंका त्याग कभी भी श्रीठाकुरजी नहीं करते. अतः आचार्यापराधकी अपेक्षा भगवदपराधसे डरनेके कारण अधिक गम्भीर लगते हैं. भगवदपराध होनेपर आचार्यश्री त्याग करें, किंतु आचार्यापराध होनेपर भगवान त्याग नहीं करते, केवल एकबार आचार्यश्रीके सेवक हो जानेसे!

देखो—

क) तब श्रीआचार्यजीने कही जो "मैं तो वाको त्याग कर्‌यो है, तुम वाकी समर्पी कैसे अरोगे?" तब श्रीनाथजीने कही "मैं तुमको वचन दियो है, जाकों तुम ब्रह्मसम्बन्ध करावोगे ताकों मैं कबहू न छोडूंगो. तातें तुम त्याग करो परन्तु तुमने पहले मोकों समर्प्यो हो सो कैसे छोडूं?" तब श्रीआचार्यजी चूप व्है रहे. (रामानन्द पण्डित की वार्ता)

ख) तू मेरी बिनती श्रीगुसांईजीसों करियो और कहियो जो आपके अपराधतें मेरी यह अवस्था भई है और श्रीगोवर्धनधर दरसन देत हैं सो आपुकी कृपातें देत हैं. (कृष्णदासकी वार्ता)

ग) तब श्रीआचार्यजी महाप्रभुनने कही "याके परलोकमें तो कछु हानि नाहीं भई (परि) यह मेरी आज्ञा न मान्यो तातें ऐसो (अपमृत्यु) भयो." (गोविन्ददास भल्लाकी वार्ता)

अतः आचार्यचरणका अपराध होनेपर भी प्रभु हमारा त्याग नहीं करेंगे यह क्या कम आश्वासन है! अथवा चन्दा इकट्ठा करनेके लिये जब हम भगवदपराध कर ही रहे हैं और आचार्यश्रीकी आज्ञाकी अवहेलना कर ही रहें है तब आचार्यश्रीने हमारा त्याग क्या नहीं कर दिया होगा?

मेरी बातको पुष्ट करनेके लिये यदि मुझे प्रमाण देनेके हों तो मैं कहूंगा कि पंचशतीउत्सव मनानेका मनोरथ प्रकट होनेके साथ ही भगवानके नाम-रूपोंके सार्वजनिक प्रदर्शनद्वारा चन्दा इकट्ठा करनेके प्रकारोंकी बाढ सी आ गई हो ऐसा दिखाई देता है. साथ ही साथ लोकमें संप्रदायकी निंदाके प्रसंग भी बढे हैं. पारस्परिक स्पर्धा तो इतनी हद तक बढ गई है कि एक गोस्वामी बालक अकेला चार-पांच लाख रुपये न ले जाये तदर्थ उसके स्थलपर दूसरा वल्लभवंशज व्यक्ति बडे-बडे

उत्सवोंका आयोजन करे! एक गोस्वामीकी अध्यक्षतामें कोई धनिक व्यक्ति बडा मनोरथ कराये तो दूसरे गोस्वामी बालक उस धनिकके साथ अपने सम्बन्ध जोडने की कडियाँ खोजे! इन सबमें बहुत खोजनेपर भी जो नहीं मिलता वो है स्वाभिमान, स्वसिद्धान्ताभिमान और श्रीआचार्यचरणका अनुग्रह! एक-दूसरेकी वैष्णवसृष्टिको तोडकर उसमें अपना वर्चस्व थोपनेकी प्रक्रिया, मुझे लगता है कि, पांचसौ वर्ष पूरे होनेकी यादवास्थलीका रौद्र या करुण ताण्डव नहीं तो और क्या है? एक प्रसिद्ध गोस्वामी बालकने मुझे कहा था कि मुझे पुष्टिमार्गकी अपेक्षा नहीं, मैं स्वयं एक स्वतन्त्र संस्था हूँ! दूसरे एक व्यक्तिने कहा कि वैष्णव यदि लोकोपकारपरायण न होते हों तो उन्हें वैष्णव मिटकर मानव बन जाना चाहिये! महाप्रभुजीने अपना त्याग न किया हो तब तक हमारी पुष्टिमार्गीय वैष्णवताको हम किस प्रकार छोड सकते हैं?

११. शंका– "स्मरणं भजनं चापि" का बहुत व्यापक प्रचार है. नाममें जैसे अनजानेमें अवज्ञा सम्भव होती है वैसे रूपमें नहीं होगा? बैठकप्रकारके प्रचारसे अनुभवसे समझमें तो आता है.

समाधान– आप "स्मरणं भजनं चापि" के 'चाय पीओ और भजन करो' ऐसे खोटे अर्थसे अतिपरेशान लगते हो. श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको स्वरूपात्मक माननेवालोंकेलिये ऐसी मजाक एक दुःखद बात ही है. ये एक प्रकार नामकी अवज्ञाका है, वास्तवमें तो शास्त्रोंमें छह प्रकार गिनाये गये हैं—

वेदाक्षराणि यावन्ति नियुजीतार्थकारणात्।
तावन्ति भ्रूणहत्यां वै वेदविक्रय्यवाप्नुयात्॥

वेदविक्रयस्तु छागलेन षड्विधो दर्शितः – प्रख्यापनं प्रलपनं प्रश्नपूर्वप्रतिग्रहः। याजनाध्यापने वादः षड्विधो वेदविक्रयः॥

१. प्रख्यापनम् = अधिकारविचार किये बिना आम जनताके बीच प्रवचन

२. प्रलपनम् = "स्मरणं भजनं चापि" का चाय पीओ ऐसा अर्थ करना

३. प्रश्नपूर्वप्रतिग्रह = पेम्फलेट छपवाकर जबरदस्ती लोगोंको सुननेकेलिये बुलाना

४ - ५. याजनाध्यापने = पगार लेकर याजन-अध्यापन करना

६. वादः = वेदार्थसे विरुद्ध वाद करना.

इसमेंके कोई न कोई प्रकारसे वेदविक्रय करनेवाले ही आज सर्वत्र दिखाई देते हैं. वे सभी यदि वैदिक सिद्धान्तके *फेमिली प्लानिंग* (परिवारनियोजन) केलिये उपयुक्त *एबोर्शन सेन्टर* (गर्भपात केन्द्र) हों तो क्या वेदग्रन्थराशि या तत्फलरूप श्रीमद्भागवत या तत्सारभूत श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको अब विसर्जित कर देनी? अवज्ञा करनेवाले तो अवज्ञा करते ही रहेंगे ; उसका उपाय कोई भी श्रद्धालुके पास कभी भी मिलनेवाला नहीं है. लोकेषणा या वित्तेषणा से ग्रस्त लोग तो चन्दा इकट्ठा करनेके नये-नये उपाय खोजते ही रहेंगे. तदनुसार सार्वजनिक मन्दिरमें विविध मनोरथ, तीर्थयात्रा, ज्ञानयज्ञ, श्रीयमुनाजीके लोटी-गागर-टंकी-टेंकर उत्सव और ऐसे दूसरे भी अनेक अकल्पनीय उपायोंसे वैसे लोगोंकी बुद्धिके भण्डार भरे हुए ही हैं. अतः ऐसे लोग श्रीमहाप्रभुजीका विक्रय करनेके विविध उपाय नहीं खोज निकालेंगे उसकी गेरंटी कौन दे सकता है? यह तो भारतभूमि है शास्त्रीजी! श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं : "अस्मिन् भारते कर्मभूमौ एकेनापि तादृशं कर्म क्रियते येन समग्रं जगदेव प्रलयं याति." ये भारतदेश तो कर्मभूमि है, अतः कोई एक मनुष्यके कर्म भी ऐसे हो सकते हैं कि जिससे समग्र जगतका प्रलय ही हो जाय! (सुबोधिनी १०।उत्तर ३८।६). तो अभी तो अनेक कर्मठ उत्साही कार्यकर्ता उपदेशक बाहर निकल पडे हैं! पुष्टिमार्गके मन्दिरोंमें तो प्रसाद बेचा जा रहा है, और अब "भगवद्भावनायुक्त फाईवस्टार रेस्टोरां" खोली जा रही है. फिर कभी "भगवद्भावनायुक्त केबरे डांस" भी होंगे और "स्ट्रीपटीझ" भी! पर प्रलयको अभी बहुत देर है!

१२. शंका– जो समाज आज मन्दिरसेवामें जो स्वप्रवृत्तिरत है वो यहाँ भी सम्बन्धित हो जायेगा न? उससे आचार्यजी प्रसन्न होंगे?

समाधान– पुष्टिमार्गीयोंसे श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजीने जो अपेक्षा रखी थी वो ऐसी थीः

१) तब श्रीआचार्यजी कहे "वैभव ठाकुरको देखिके तिहारो मन प्रसन्न भयो है?" (तब) श्रीगोपीनाथजी कहे "तिहारो कहाईके श्रीठाकुरजीकी वस्तुमें अपनो मन करेगो ताको निरमूल नास जायगो." तब श्रीआचार्यजी

कहे "हमारो मारग तो ऐसोई है". पाछे श्रीआचार्यजी वैष्णवसों आज्ञा किये "सगरी सामग्री श्रीजमुनाजीमें पधराई देउ. श्रीद्वारकानाथजीको हमारे घर पधराई लावो". (श्रीदामोदरदास सम्भलवारेकी वार्ता)

२) सो गोपालदासके बेटासों श्रीआचार्यजी महाप्रभु पूछे जो "गोपालदास कहाँ गये हैं?" तब गोपालदासके बेटाने कही जो "महाराज! श्रीठाकुरजीकी सेवाको गये हैं". यह वचन सुनि श्रीमहाप्रभुजी गोपालदासके बेटापर बहोत अप्रसन्न भये. कहे जो गोपालदासको बेटा ऐसो अनुचित क्यों बोल्यो? अब इहाँ रहनो उचित नहि.... जो "गोपालदास तू कहाँ गयो हतो?" तब गोपालदासने कही "महाराज! पेट लग्यो है, सो कछु व्यावृत्तिको गयो हतो." यह वचन सुनि गोपालदास उपर श्रीआचार्यजी महाप्रभुजी बहोत प्रसन्न भये. कहे "वैष्णवकों ऐसो बोलनो उचित है. ऐसो बोलनो नाहि जो व्यावृत्ति - लौकिककों जाई तहाँ श्रीठाकुरजीको नाम लेई". (गोपालदास नरोडावारेकी वार्ता)

३) तब श्रीआचार्यजी एक सोनेकी कटोरी श्रीठाकुरजीके मन्दिरतें लाई दिये... श्रीठाकुरजीकों भोग धरि... महाप्रसाद श्रीयमुनाजीमें पधराई दियो... गायनकों खवाई आप परिकर सगरे सहित भूखे ही बैठे रहे. भावप्रकाश– जो श्रीठाकुरजीकी वस्तु होई सो वैष्णवको लेनो नाहि, ठाकुर अरोगे यह रीत सबको सिखाये. (वासुदेवदास छकडाकी वार्ता)

४) सो पद्मनाभ अपने घरतें आये. श्रीमहाप्रभुजीकों दण्डवत् कर बैठे. तब आचार्यजीने निबन्धको श्लोक कह्यो सो श्लोक– पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्। वृत्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणै: कण्ठगतैरपि॥ तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्। त्रयाणां येन केनापि भजन् कृष्णमवाप्नुयात्॥

(पद्मनाभदासकी वार्ता)

रूपसेवा या नामसेवा, ये दोनोंमेंसे एकका भी वृत्त्यर्थ विनियोग नहीं होना चाहिये. श्रीगुसांईजी कहते हैं "जिसे पुष्टिमार्गका स्वल्प भी ज्ञान होगा वो अपनी आजीविका चलानेकेलिये भगवत्सेवा नहीं करेगा. जिसे सर्वथा ही ज्ञान न हो वैसा एकाद कोई पुष्टिमार्गमें पैदा हो भी शायद..." तब उनके अपने वंशजोंसे ही यदि रूपसेवा या नामसेवा सर्वहेतुविवर्जित होकर न हो पाती हो तो "स्ववंशे स्थापिताऽशेषस्वमाहात्म्यः" का अर्थ क्या समझना? भगवत्सेवाका सार्वजनिक मन्दिरोंमें और भगवन्नामसेवाका

सार्वजनिक प्रवचनोंमें आज जो कुछ उपयोग हो रहा है उससे श्रीआचार्यजीकी प्रसन्नता आप मान सकते हो?

मन्दिरोंमें मुख्यतया प्रभुसेवा नहीं पर महाप्रभुसेवा सार्वजनिक और स्वगृहमें मुख्यतया महाप्रभुसेवा नहीं पर प्रभुसेवा ही होनी चाहिये –इस बारेमें मेरा आग्रह भी अभी सिद्धान्तविपरीत सेवाके जो विविध प्रकार चल निकले हैं उसके विकल्परूपमें ही है. अतः ये मेरे प्रकारमें कोई त्रुटिकी सम्भावना हो तो भी हमें सिद्धान्तके तराजूमें इतना ही तोलनेका है कि ज्यादा वजन या अपराध किस पल्लेमें है ; सार्वजनिक मन्दिरमें प्रभुसेवाके या महाप्रभुसेवाके?

पहले लिख गया हूँ तदनुसार मेरी स्पष्ट मान्यता है कि आज पुष्टिमार्गपर होते अनेक आन्तरिक और बाह्य प्रहारोंको ललकारनेकेलिये एक नहीं पर अनेक दमलाओंकी अपेक्षा है ; जो दमलाएँ सार्वजनिक मन्दिरमें बिराजते श्रीठाकुरजीको कह सकें "निकट मति आओ". जो दमलाएँ सार्वजनिक मन्दिरोंमें होते स्वरूपविक्रयसे और सार्वजनिक प्रवचनोंमें होते भगवन्नामविक्रयसे होती स्वसिद्धान्तकी मजाकको शिष्यजनोचित अत्यन्त विनयके साथ परन्तु स्पष्टतम शब्दोंमें कह सके "महाराज! अपनो मारग निश्चिन्ततताको नाहि. यह मारग है सो तो अत्यन्त कष्ट आतुरताको-दुःखको है". आज चलते भगवद्विक्रयके प्रकारको छोडने जानेपर कँई निश्चिन्तताएँ छोडनी पडेगी. कुछ निश्चित प्रकारके लौकिक कष्ट या दुःख बढे भी शायद. किन्तु ऐसे वैष्णवोंकेलिये निःसन्देह श्रीमहाप्रभुजी कहेंगे "दमला! यह मारग तेरे लिये प्रकट कियो है".

दामोदरदास हरसानीकी भांति दातामें ममता रखनी या दाताकी महत्ता माननी ये दानकी मजा लिये बिना सम्भव नहीं है. प्रायः श्रीकृष्णके मधुरस्वरूपका वर्णन शाखा-अरुंधतीन्यायसे करनेवाले ; जहाँ वस्तुतः दिखाना हो तारा अरुंधतीका पर मोटी-मोटी बातें करते हैं शाखापर उगते सुकोमल सुन्दर सरस पल्लव-पुष्प-फलोंकी, और वैसी पुष्पित वाणीसे श्रोताओंको मुग्ध करके ; अन्तमें जिस स्वरूपकेलिये खुद रोमांच, अश्रुपात दिखाते हो उसे "मिथ्या" कहकर किसी अटपटे निर्गुण निराकार ब्रह्मकी ओर श्रोताओंको भटकते छोड जाते हैं! वैसी स्थितिमें "अयमेव महामोहो हीदमेव प्रतारणं, यत्कृष्णं न भजेत् प्राज्ञः शास्त्राभ्यासपरकृतिः"= "यही महामोह है, यही जबरदस्त वंचना है कि स्वयं बुद्धिमान होनेके कारण

शास्त्रानुसारी आचार - विचार रखनेवाला होनेपर भी कृष्णभजन नहीं करता" ऐसा उपदेश देनेवालेकी सेवाका प्रकार बढ जाये तो ज्यादा हरकत नहीं होगी!

दूसरा, परम्परा अनुसार, आपको शायद ख्याल नहीं होगा कि, साक्षात् श्रीठाकुरजीके सन्मुख (अधिकार बिना या अज्ञानवश) जो भेट मन्दिरोंमें धरनेमें आती थी वो कभी भी भगवत्सेवार्थ स्वीकारनेमें आती नहीं थी, किन्तु कीर्तनियाओंको न्योछावरके रूपमें बांट दी जाती थी. भेट धरनेका सिद्धान्तसम्मत शिष्टाचारसम्मत प्रकार तो यही था कि भेट साक्षात् श्रीठाकुरजीको न करके श्रीठाकुरजीके पास बिराजते श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजीको या सात बालकोंको ही धरनी चाहिये. साक्षात् श्रीठाकुरजीको भेट धरनेका प्रकार तो कुछ उत्सवों तक सीमित था, श्रीव्रजभक्तोंके भावानुसार. कारण? श्रीमहाप्रभुजीकी भेट यदि स्ववंशज ग्रहण भी करें तो वंशज होनेके कारण ही उन्हें देवलकत्व प्राप्त न हो. इसलिये ही सार्वजनिक मन्दिरमें श्रीमहाप्रभुजीकी पुरुषोत्तमभावसे सेवा करनेका भी मैं विरोधी हूँ. आचार्यभावसे उसमें स्ववंशजोंको दोष प्राप्त नहीं होता.

इस प्रकार अनेक मुद्दोंकी जाँच ये बात मांग लेती है. और वैसा करनेपर मैं मेरे कल्पमें दोषकी अपेक्षा गुण ज्यादा देखता हूँ.

१३. शंका– रहःप्रिय श्रीमहाप्रभुजीको ऐसे खुलेआम दर्शन देते हुए बिराजनेमें प्रसन्नता होगी?

समाधान– शास्त्रीजी! ये तो अष्टोत्तरशत नामोंमेंसे एक नाम है. श्रीमहाप्रभुजीके दूसरे अनेक नाम ऐसे गुण, ऐसी लीला और ऐसे स्वभाव के द्योतक भी मिलते ही हैं कि जिनका विचार करनेपर श्रीमहाप्रभुजीको खुलेआम दर्शनकेलिये पधरानेपर सैद्धान्तिक आपत्ति या स्वरूपवैपरीत्य नहीं आयेगा. उदाहरणतः— १. दैवोद्धारप्रयत्नात्मा २. मायावादनिराकर्ता ३. सर्ववादिनिरास-कृत् ४. स्त्रीशुद्राद्युद्धृतिक्षमः ५. महाकारुणिकः ६. श्रीकृष्णज्ञानदो गुरुः ७. भक्तसेवितः ८. सुखसेव्यः ९. कृपयैतत्कथाप्रदः १०. सान्निध्यमात्रदत्त-श्रीकृष्णप्रेमा ११. नानावाक्यनिरूपकः १२. पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा १३. पतितपा-वनः १४. मायावादाख्यतूलाग्निः १५. ब्रह्मवादनिरूपकः.

ऐसे नामोंका तात्पर्य सोचनेपे या उन नामोंद्वारा अभिव्यक्त होती लीलाको सोचनेपे सार्वजनिक मन्दिरमें पधरानेमें विशेष आपत्ति दिखाई

नहीं देती. जलभेदके १५वें श्लोककी व्याख्यामें श्रीवल्लभजी तो श्रीमहाप्रभुजीके दो स्वरूप गिनाते हैं : "श्रीमदाचार्यचरणके स्वरूपमें दो पक्ष हैं– १) मर्यादामार्गोपदेशक २) पुष्टिमार्गोपदेशक. अत: स्वरूप भी आपश्रीका द्विविध है. इसीलिये जो मर्यादामार्गीय हैं उनकेलिये श्रीमहाप्रभुजी अपना मर्यादामार्गोपदेशकके स्वरूपको ही प्रकट करते हैं ; वल्लभाष्टक - सर्वोत्तमस्तोत्र आदिमें वर्णित स्वरूपको नहीं. मर्यादामार्गीयोंके सामने श्रीमहाप्रभुजी 'व्यास हमारे गुरु हैं' ऐसा स्वीकारते हैं. (जबकि पुष्टिमार्गीयोंके सामने गोपिकाओंकी गुरुरूपमें प्रशंसा करते हैं)". मतलब कि सार्वजनिक मन्दिर यदि चलाने ही पडते हों तो वैसे मर्यादाके प्रवाहमें पुष्टिसेवाको विसर्जित क्यों करनी? अत: वहाँ श्रीमहाप्रभुजीको रह:प्रिय माननेके बजाय "भक्त्याचारोपदेष्टा, मायावादाख्यतूलाग्नि:, ब्रह्मवादनिरूपक:" मानकर आचार्यभावसे क्यों सुखसेवन न करना?

बाकी रही बात सही प्रसन्नताकी. आचार्यचरणकी सच्ची प्रसन्नता तो अपने पुष्टिप्रभुकी पुष्टिभावात्मिका सेवाको रसात्मिका होनेसे स्वगृहमें गुप्त रखकर हम अनुयायी करें तो ही होगी. देखो– "भगवद्भाव रसात्मक होनेसे गुप्त रहे तभी उसकी अभिवृद्धि हो सकती है. अत: जो व्यक्ति जिस आश्रम (ब्रह्मचर्य / गृहस्थ / वानप्रस्थ या सन्न्यास अवस्था) में हो उसके धर्म ही प्रकट रखने चाहिये. लोकमें कभी भी अपना भगवद्भाव प्रकट नहीं करना चाहिये. भगवत्सेवा करनेकी रीत यही है. इसलिये सेवाके साथ आश्रमधर्मोंका भी निरूपण करनेमें आता है. इससे सिद्ध हुआ कि जब तक हमारे हृदयमें प्रभुका प्राकट्य नहीं होता तब तक ही हम भावको बाहर प्रकट करते होते हैं. यदि एक बार भगवानका हृदयमें प्राकट्य हो जाये तो उसके बाद भगवद्भाव बाहर प्रकट नहीं हो सकता ये ज्ञापित किया" —अणुभाष्य ३।४।४९.

१४. शंका– श्रीमहाप्रभुजीने अपनी सेवा किसी अनन्यको एकान्तमें करनेको कही है, सरेआम नहीं.

समाधान– अपने किसी अनन्यको एकान्तमें सेवाका वह विधान त्रितयात्मक स्वरूपकी या रासस्त्रीभावपूरित स्वरूपकी सेवाके बारेमें हो सकता है. इसीलिये श्रीगिरिधरजी महाराज १२० वचनामृतमें अपने यहाँ श्रीमहाप्रभुजीको सिंहासनपे न पधराकर पलंगडीपे जो पधराये जाते हैं उसका स्पष्टीकरण

कुछ ऐसा ही देते हैं. आज वो पलंगडीपे बिराजता हुआ स्वरूप सार्वजनिक मन्दिरमें जाहिर हो गया है. मेरे मतानुसार इसी हेतुसे यदि रासस्त्रीभावपूरितको मायावादनिराकर्ता साकारब्रह्मवादैकस्थापक: भक्त्याचारोपदेष्टा श्रीकृष्णज्ञानदो गुरु: रूपसे सिंहासनपे पधराये नहीं जायेंगे तो उन श्रीमहाप्रभुजीके स्वरूपको हम समग्रतया समझ नहीं पाये ऐसी हमारी भूल इतिहासमें लिखी जायेगी.

१५. शंका– 'ये भगवानका' - 'ये मेरा' ऐसी भेदबुद्धिवाला स्वामित्व तो "क्रीडार्थमात्मन इदं.." से विरुद्ध नहीं होगा? स्वकल्पित स्वामित्वनिवृत्ति तो समर्पणभावसे होती है, फिर सेवकका निर्वाह स्वामीधर्म है. मोजशौकमें अपराध लगे ऐसा न हो.

समाधान– सिद्धान्तरहस्य और नवरत्न का समन्वय करके क) दान, ख) निवेदन, ग) समर्पणका विवेक स्पष्ट समझना चाहिये. पुष्टिमार्गमें निवेदित और समर्पितके पुन: उपयोग या उपभोगमें दोष नहीं है, क्योंकि ममतास्पद सभी चीजोंपर आधिदैविक (स्नेहांगभूत) और आध्यात्मिक (माहात्म्यज्ञानांगभूत) स्वामित्व व्रजाधिप श्रीकृष्णका ही है. तब भी आधिभौतिक (व्यवहारांगभूत या निवेदन-समर्पणांगरूप) स्वामित्व सेवकका सर्वथा अभीष्ट है.

स्वामित्वबुद्धिकी या अहन्ता - ममताकी निंदा अपने आधिदैविक - आध्यात्मिक स्वामीकी विस्मृतिके कारण होती है ; कोई लौकिक पदार्थपर सेवकके आधिभौतिक स्वामित्वके कारण नहीं. स्वसर्वस्वके आधिदैविक स्वामीको यदि न बिसरें तो अपने देहगेहादिपर अपना आधिभौतिक स्वामित्व तो अपनी भक्तिका सच्चा शृंगार है. अन्यथा ज्ञानमार्गीय वैराग्य - सन्न्यास - मोक्षसे मिलते ब्रह्मानन्दमें क्या कमी है? ममताका सर्वथा त्याग या नाश ही यदि अभीष्ट होता तो जगतके सत्य होनेके सिद्धान्तपे श्रीमहाप्रभुजी इतना ज्यादा भार नहीं देते, कि "जगत यदि सत्य न हो तो भजन भी हो नहीं सकता. प्रपंचको मिथ्या कहकर मायावादी शुद्धभावसहित भजनकी संभावनाको खत्म कर देते हैं". (शास्त्रार्थनिबन्ध - प्रकाश, श्लोक २३). हमें ये कभी भूलना नहीं चाहिये कि भजनानन्दकी सिद्धिकेलिये शुद्धाद्वैत ज्ञानको भी विजातीयभाव माना गया है. (देखो शिक्षापत्र १।१६) अत: ममताका त्याग नहीं पर भगवत्सेवामें विनियोग अपेक्षित है. व्यर्थ त्यागकी अपेक्षा भगवद्विनियोग श्रेयस्कर माना गया है (सुबोधिनी ३।३।३२).

ममताके भगवद्विनियोगके मार्गको छोडकर यदि त्यागके मार्गपे दौडेंगे तो श्रीआचार्यचरणको वह पसन्द नहीं है. क्योंकि "गहन अन्धकारमें सदा रहना पडता हो तो आँख होनेका फल क्या?" (वेणुगीतसुबोधिनी) की बात हमपे लागू होगी.

ये आधिभौतिक ममताके साथ अपने स्वामीको यदि हम स्वसर्वस्वका समर्पण करें तो ही उसे रुचता है, अन्यथा रुचता भी नहीं. देखो—

क) सो द्रव्य घट्यो. ताको अभिप्राय यह है जो पूरनमलके पिताको कमायो द्रव्य हतो. सो पिताके मरे पुत्रकी सत्ता होई तातें पूरनमलकी सत्ता जानिके श्रीनाथजी अंगीकार किये. (पूरनमलकी वार्ता - भावप्रकाश)

ख) जब संतदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवा श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते चौबीस टका पूंजी करी कोडी बेचते. सो ठाकुरजीकी पूंजीमें ते तो कासिदको दियो नहीं जाय. सो कमाईको टका दिये. तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. सो नारायणदासकों लिखे जो तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो, जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो. (संतदास चोपडाकी वार्ता - भावप्रकाश)

अत: सिद्धान्तमुक्तावलीके दूसरे श्लोककी व्याख्यामें श्रीकल्याणरायजी कहते हैं : "भक्तोंका भगवद्भजनोपयोगी अहन्ता - ममतात्मक संसार हेय नहीं, उपादेय है". इसीलिये गद्यमन्त्रमें अन्त:करण, जिसमें अहंकार भी आ जाता है, और देहगेहादि समस्त ममतास्पद विषयोंका प्रभुको निवेदन - समर्पण होता है, त्याग नहीं. सिद्धान्तरहस्यके छठे श्लोककी व्याख्यामें श्रीकल्याणरायजी इस विषयको और स्पष्ट करते हैं : "किसी भी चीजका भगवानको हम निवेदन करें तो वैसा करनेपर निवेदित चीजपरसे हमारी सत्ता - मालिकी निवृत्त नहीं हो जाती. निवेदित चीजको भगवानके उपयोगमें लानेसे वह चीज भगवदुपभुक्त हो जाती है, जिससे उच्छिष्ट चीजको प्रसादके रूपमें ग्रहण करनेमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं है, प्रत्युत प्रसादग्रहण तो शास्त्रविहित ही है. जबकि किसी भी चीजका दान करनेपर उस चीजपर हमारी मालिकी नहीं रह जाती ; जिसे दान दिया हो उसकी मालिकी स्थापित होती है."

इससे सुस्पष्टतया सिद्ध होता है कि निवेदन होनेपर हमारा आधिभौतिक स्वामित्व निवृत्त नहीं होता, किन्तु हमपर और हमारी सभी ममतास्पद

चीजोंपर श्रीकृष्णका आधिदैविक - आध्यात्मिक स्वामित्व स्वीकार लिया जाता है. उदाहरणत: अकबरके कालमें राजा मानसिंहका आमेरपर जो स्वामित्व था उसे खत्म नहीं कर दिया गया था किन्तु आमेरके राजाके उपर अकबरका स्वामित्व स्थापित करनेमें आया था. हमारे देहगेहादि पदार्थोंके राज्यमें राजा हम ही हैं, किन्तु चक्रवर्ती सम्राट है अपना व्रजाधिपति श्रीकृष्ण! अत: ममता या स्वामित्व का त्याग नहीं है परन्तु भगवानकेलिये समर्पण और तद्दत्त प्रसादरूपमें पुनर्ग्रहण या उपभोगमें ही भक्तिमार्गीय सौन्दर्य रहा हुआ है. "भगवानको समर्पणके बाद पदार्थका अलौकिक भोग तो सेवाके प्रथम फल अलौकिक सामर्थ्यकी पहली झाँकी है" (सेवाफलविवरण). यदि यह आधिभौतिक ममता या स्वामित्व रहे तो ही प्रभुके श्रीकण्ठमें धरानेमें आती वृन्दावनके विविध पुष्पोंसे और तुलसीसे निर्मित वनमालामें पुष्टिप्रसादकी दिव्यमधुरगन्ध भी मिलेगी, अन्यथा आधिभौतिक स्वामित्व निवृत्त होनेपे तो मर्यादामार्गकी दोनों ओर उगते ज्ञान और वैराग्य के धतूरेकी गंध आये बिना रहेगी नहीं!

प्रभुके क्रीडार्थ ये सृष्टि रची गई है (अत: उसमें स्वामित्वबुद्धि तो कुबुद्धि है) वैसे माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह (रहिये मेरे ही महल अनत न जईये। शय्या, सामग्री, वसन, आभूषण सबविध राखोंगी टहल॥) को ही पुष्टिभक्तिके रूपमें स्वीकारनेमें आया है. यदि यह रहस्य समझमें न आये तो पुष्टिभक्तोंकी विविध देह, इन्द्रिय, अन्त:करण और दारागारादि सामग्रीको अंधेरे ज्ञानकूपमें डुबोने जैसा होगा!

ऐसा मत कहना कि ये रसात्मक ममत्व तो भक्तिकी उच्चकक्षामें ही सम्भव है, क्योंकि केवल वाणीमें नहीं किन्तु वस्तुत: विचार और व्यवहार में ममत्वबुद्धिका त्याग ज्ञानकी भी उच्चदशामें ही सम्भवित हैं, साधनदशामें तो नहीं. अत: भक्तिमार्गमें भगवद्विनियोगकी प्रक्रियामें निरुद्ध भक्तके देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण आदिसे भजनानन्दकी मजा ली जा सकती है. जबकि ज्ञानमार्गमें ब्रह्मानन्द पानेकी प्रक्रियामें देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण आदिसे छूटकर मुक्त जीव अनिष्ट गतिको प्राप्त करता है: "अनिच्छतोपि गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते". अत: ममत्वबुद्धिकी निंदा क्वचित् भिन्नमार्गपर और क्वचित् माहात्म्यज्ञानवाली प्राथमिक अवस्था तक ही लेनेकी होती है. और फिर माहात्म्यज्ञान भी ज्ञानमार्गीय ज्ञानकी भांति तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्त अपेक्षित नहीं है ; केवल शास्त्रीय तत्त्वके निर्णयकेलिये

ही माहात्म्यज्ञान अपेक्षित है : "अच्छी तरह शास्त्र समझकर मन, वाणी और देह से कृष्णकी सेवा करनी चाहिये" (शास्त्रार्थनिबन्ध प्रकाश श्लोक ४) या "अतः ब्रह्मवादकी दृष्टि साधकर कृष्णमें बुद्धि चौंटानी" (सिद्धान्तमुक्तावली - १२).

ये माहात्म्यज्ञानका उपयोग भी भगवत्सेवामें साक्षात् विधिमुख (positive) न होकर निषेधमुख (negative) ही है. अतिपरिचय होनेपे सेवामें भगवदवज्ञादि दोष न हो इसलिये ही माहात्म्यज्ञान अपेक्षित है. "शास्त्रमें 'स्नेहो भक्तिः' इतना भक्तिका लक्षण पर्याप्त था, किन्तु 'माहात्म्यज्ञानपूर्वक' विशेषण जोडनेका तात्पर्य इतना ही है कि श्रीमहाप्रभुजीके मार्गमें आकर भगवत्सेवा शुरू करनेवालेमें जब तक सुदृढ सर्वातोधिक स्नेहका प्राकट्य न हो तब तक सेवामें अपराध न हो. सुदृढ स्नेह उत्पन्न होनेपे माहात्म्यज्ञान अपनेआप निवृत्त हो जायेगा" (श्रीवल्लभजी, पु.प्र.म.श्लो.२ की व्याख्या).

इस विस्तृतविचारसे सिद्ध होता है कि 'ये भगवानका' और 'ये मेरा' ऐसी भेदबुद्धि, स्वामित्व, ममता ये सब कोई एक अंशमें सिद्धान्तविरुद्ध है पर दूसरे अंशमें वही एक जबरदस्त सैद्धान्तिक आवश्यकता भी है. आप कहते हो "स्वकल्पित स्वामित्वनिवृत्ति तो समर्पणभावसे हो जानेके बाद सेवकका निर्वाह स्वामिधर्म है". किन्तु स्वामित्वकी निवृत्ति "भौतिकरीतिसे स्वामी न होनेके" अर्थमें तो अभीष्ट नहीं है. अपने आध्यात्मिक या आधिदैविक स्वामी श्रीकृष्ण ही हैं और तदनुसार आध्यात्मिक या आधिदैविक दृष्टिसे देखनेपर हमारा (सेवकोंका) निर्वाह वही करता है. फिर भी अपनी सेवाका प्रयोजन अपना आधिभौतिक निर्वाह नहीं ही होना चाहिये. सहज सेवकत्व अपेक्षित है ; वृत्त्यर्थ सेवा पुष्टिमार्गीय सेवा नहीं है. स्वामीके रूप या नाम के विक्रयसे तो कदापि नहीं.

१६. शंका– श्रीमहाप्रभुजीने बारबार भगवच्छास्त्रविचार अनन्तर स्वमार्ग स्पष्ट कहा. नूतन प्रकारका तो स्पष्ट भगवदाज्ञासे आरम्भ किया. सामान्यसे भिन्न कुछ करनेमें अन्तःकरणमें स्पष्ट भगवदाज्ञाका शिष्टाचार लगता है. आज्ञा भी नूतनप्रकारकी है कि नहीं!

समाधान– "यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः". अर्थ- जिसकी अपने इष्टदेवमें परा भक्ति है और जैसी इष्टदेवमें है वैसी ही भक्ति यदि गुरुमें भी हो तो

यह उक्त अर्थ उनके सामने प्रकाशित होते हैं. (श्वेता.उप. ६।२३) इस श्रुतिसे गुरुभजन सिद्ध ही है. हमारे पुष्टिसम्प्रदायके गुरु श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजीके भजनको भी हम इसलिये श्रुतिसिद्ध मानें तो उसमें आपत्ति नहीं आयेगी. ''आचार्यं मां विजानीयात्'' आचार्यको मेरा रूप समझना (भाग. ११।१७।२७) ऐसे कहकर गुरुसेवाको स्मृति-पुराण भी अपना कर्तव्य मानते हैं.

सदाचार या शिष्टाचार भी धर्मनिर्णयमें हेतु बनता है. तदनुसार हमारे शिष्टपुरुष श्रीगुसांईजीप्रभृति श्रीमहाप्रभुजीको सुखसेव्य कहते हैं. वैसे ही पादुकाकी सेवाका प्रचलन भी वार्तानुसार श्रीमहाप्रभुजीने स्वयं शुरु कराया था, वो आज तक सभी मन्दिरोंमें चालू है. बैठकोंमें भावनाजी पधराकर भी सेवाका क्रम सर्वत्र देखनेको मिलता है. वैष्णवोंके घरमें भी श्रीमहाप्रभुजीकी सेवाका क्रम बिल्कुल नया तो नहीं ही है.

इसके अलावा 'सुखसेव्य'की व्याख्यामें श्रीगोकुलनाथजी आज्ञा करते हैं: ''श्रीमहाप्रभुजीके भक्त तो बहुत हैं और उन अनेक भक्तोंके भाव भी अनेकविध हो सकते हैं ; तब सभी भक्तोंकी भावनाकी पूर्ति कैसे सम्भव हो सकती है? और वह सम्भव न हो तो सभी भक्त किस प्रकार श्रीमहाप्रभुजीकी सेवामें प्रवृत्त हो सकते हैं? इस प्रश्नका समाधान ऐसे है कि यद्यपि श्रीमहाप्रभुजीके अनेक भक्त हैं किन्तु जो भक्त जिस भावको हृदयमें रखकर सेवा करे उस भक्तके उस भावकी पूर्ति करके श्रीमहाप्रभुजी उसकी सेवा स्वीकारते हैं. अतः आप ऐसे सुखसेव्य हैं कि जिनकी सेवा सुखसे निभ सके''. इससे सिद्ध होता है कि श्रीगोकुलनाथजीके अनुसार श्रीमहाप्रभुजीकी सेवामें कुछ भी आपत्ति नहीं है.

उत्सवप्रतानमें श्रीपुरुषोत्तमजी भी आचार्योत्सव मनानेका स्पष्ट विधान करते हैं और कहते हैं– ''जो दूसरे मतको माननेवाले अपने आचार्यका उत्सवआदि नहीं मनाते वे अपने आचार्यमें श्रद्धा नहीं रखते होंगे, या तो उनको हमने उद्धृत किये हुए शास्त्रवचनोंकी ठीकसे जानकारी नहीं होगी''. केवल उत्सव मनाना इतना ही नहीं, किन्तु 'आदि'से सेवाके विधानको भी स्वीकारें तो आपत्ति नहीं होती. अतः श्रुति, स्मृति और सदाचार ये तीनों ही श्रीमहाप्रभुजीकी सेवामें संगत होते हैं.

परम्पराके अनुसार प्रत्येक मन्दिरमें श्रीठाकुरजीको जगानेके पहले

श्रीमहाप्रभुजीको जगाने चाहिये. झारी भरनी, वस्त्रादि धारण कराने, उत्सवपर शृंगार भी धराने, आरती - तिलक करने, श्रीठाकुरजीको पोढानेके बाद पोढाने —ऐसा नित्यसेवाका क्रम चलता ही है. और फिर बैठकोंमें भी श्रीमहाप्रभुजी - श्रीगुसांईजीकी नित्यसेवाका प्रकार कहाँ नहीं मिलता ? भगवानदास सांचोराकी वार्तामें अपने हस्ताक्षर पधराकर उनको भोग धरके प्रसाद लेनेका विधान श्रीमहाप्रभुजीने स्वयं किया है, और यह सेवा भगवत्सेवाके विकल्परूपमें ही है. हाजीपुरके भगवानदासको भी स्वपादुकाजी पधराकर सेवा करनेकी जो आज्ञा देनेमें आई थी वो भी भगवत्सेवाके विकल्परूपमें ही दिखाई देती है. स्पष्टतया अच्युतदास कडानिवासी (जिनको स्वपादुकाजीकी सेवा तथा नित्यदर्शन, वार्ता सुनानेका लाभ उस सेवाके द्वारा स्वयं देते थे) की कक्षाके तो ये दोनों भक्त नहीं दिखाई देते हैं, फिर भी स्वसेवासे आचार्यचरणने सब सिद्ध कर दिया था. ठठ्ठानिवासी नारायणदास लुहाणाको भी जो वस्त्रपर कुमकुमसे चरणारविन्द छापकर सेवार्थ पधरा दिये थे वो भी भगवत्सेवाके विकल्परूपमें ही दिखाई देते हैं. इस प्रकार श्रुति, स्मृति, सदाचार और स्वस्य च प्रियमात्मनः यों चतुर्गुणित संगति जहाँ दिखाई देती हो उसमें कर्तव्य होनेके बारेमें शंकाको स्थान नहीं रह जाता.

सामान्यसे भिन्नता दिखाई देती हो तो अन्तःकरणगोचर विशेषाज्ञाकी अपेक्षा रहती है. वह भी ''सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया'' न्यायानुसार उत्सर्गतः गुरुआज्ञाअनुसार सेवा करनी और हरीच्छा यदि गुरुआज्ञासे विपरीत जान पडे या अन्तःकरणगोचर हो तो विपरीतरीतिसे भी सेवा हो सकती है —ऐसा सिद्धान्त है. आप जबकि व्युत्क्रमसे अर्थघटन करते हो.

विविध व्याख्याकारोंको अभिप्रेत अर्थ ऐसा दिखाई देता है–

क) विशेष आज्ञा अन्तःकरणगोचर हो तो अपवादरूपमें गुरुआज्ञाका उल्लंघन भी हो सकता है.

आप अर्थघटन कर रहे हो–

ख) जब विशेष कार्य करनेकी इच्छा हो तब विशेष आज्ञा अन्तःकरणगोचर यदि न हो तो वैसा विशेष कार्य नहीं करना चाहिये.

आप जैसा अर्थघटन करते हो वो श्रीमहाप्रभुजीके वचनसे आता नहीं है. अधिक स्पष्टता करें तो विचार आगे चले.

आपके अर्थघटनको स्वीकारें तो भी प्रश्न विचारणीय तो रहता

ही है कि कोई भी विशेष कार्य सामान्यसे भिन्न दो प्रकारसे हो सकता है: १) सामान्यरीतिसे जो चला आता हो उससे प्रतिकूल होकर कोई नया विशेष कार्य सामान्यसे भिन्न हो सकता है. या तो २) सामान्यरीतिसे जो कुछ चल रहा हो उससे कुछ नया होनेके कारण भिन्न तो हो किन्तु प्रतिकूल न हो, इसलिये विशेष होनेपर भी हो तो अनुकूल ही. यों ये दोनों सम्भावनाओंमेंसे किस प्रकारकी सम्भावनामें आप विशेष आज्ञाकी अपेक्षाका सिद्धान्त स्वीकारते हैं? प्रथम कल्पमें तो सार्वजनिक मन्दिरोंमें श्रीमहाप्रभुजीकी सेवामें न तो है श्रुतिप्रतिकूलता, स्मृतिप्रतिकूलता या सदाचारप्रतिकूलता. इसके अलावा देश-कालका विचार करनेपर मुझे स्वानुकल्प भी लगता ही है. अतः प्रतिकूल होनेके अर्थमें तो सामान्यसे भिन्नता नहीं आती. दूसरे कल्पमें अनुकूल हो तब भी कुछ नवीनताके अर्थमें यदि विशेषताका विचार करें तो तो इतनी कठिनाई खडी होगी कि आज भगवद्सेवा ही सम्भव नहीं रह जायेगी. उदाहरणतः प्रकाशकेलिये पहले घीके दिये प्रयोगमें लाते थे, यात्राकेलिये घोडा या बैल के वाहनका प्रयोग करते थे, कीर्तनमें गानेवालेकी संगति सारंगीद्वारा होती थी, इत्यादि-इत्यादि. उसके स्थानपे अब बिजली, रेलवे, विमान, मोटर, हारमोनियम आदि भगवत्सेवार्थ उपयोगमें लेनेमें आते हैं. इनके बारेमें विशेष आज्ञाएँ प्रारम्भ करनेके पहले प्राप्त की हो वैसा उल्लेख नहीं मिलता. अतः ऐसा अर्थघटन करनेपर वैचारिक या व्यावहारिक संगति दिखती नहीं. मुझे नहीं लगता कि प्रत्येक विशेष कार्यमें विशेष आज्ञाकी अपेक्षा होनी चाहिये. निश्चित, विशेष आज्ञा होनेपे सिद्धान्तविपरीत विशेषकार्यकी अनुमति श्रीमहाप्रभुजी देते हैं.

आशा रखता हूँ कि जो कुछ इस विषयमें अब भी मेरे विचारोंमें आपको युक्तायुक्त लगता हो वो मुझे निःसंकोच बताईयेगा ; "ब्राह्मणानाम् इयं गतिः" न्यायसे और मेरे एक शुभेच्छु रूपमें भी. अन्तमें,

एवं प्रभुप्रेरणया विभातं यन्मे तदुक्तं न हि तत्स्वबुद्ध्या ।
अतः स्वदासे करुणां वितन्वन् स एव मत्स्वान्तरमलंकरोतु ॥
यदत्र सदसद् वापि जीवबुद्ध्योदितं क्वचित् ।
क्षमन्त्वाचार्यचरणास्तं मे मन्तुं कृपालवः ॥